A Critical Study of Contemporary Indian Value Philosophy Since 1950

पचासोत्तर समकालीन भारतीय मूल्य दर्शन का समालोचनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र में डी0 फिल0 उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
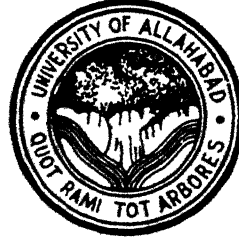
पर्यवेक्षक
डा0 नरेन्द्र सिंह
रीडर, दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्ता
देवेन्द्र विक्रम सिंह
अनुसंधान अध्येता, दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

2000

समर्पण

श्रुतिमयी, ममतामूर्ति, यश शेष 'दिवंगिता अम्मा' सौभाग्यवती चन्द्रावती देवी

एव

ऋषिकल्प, श्रुतिधर, स्थिरप्रज्ञ कर्मयोगी 'बाबूजी' श्रीमन्त राम नजर सिह

के पावन-पुनीत चरण-कमलो मे,

सादर समर्पित,

जिनके जीवन-चरित् एव स्मृति-कुँज में,

मुझ मतिमद को

मूल्यबोध का अकुर मिला।

मानव स्वभावत विचारशील होने के कारण अपने परम लक्ष्य (मूल्य) की सम्प्राप्ति हेतु सचेष्ट रहा ह। यह सचेष्टता ही उसकी गति हे। गति ही जीवन हे। मूल्य-सम्प्राप्ति की चेतना मानव की गति की प्रेरक हे। अब प्रश्न उठता है कि 'मूल्य क्या है ? जिस विषय को खोज का विषय होने पर विवेक का समथन प्राप्त होता हो वही मूल्य है। विवेकशील प्राणी होने के कारण मानव यह सोचता है कि क्या शुभ है और क्या अशुभ हे ? जो शुभ ह वह 'मूल्य हे ओर जो अशुभ है वह अपमूल्य है। इसी शुभ और अशुभ के द्वन्द्वात्मक अन्तराल से मूल्य शब्द प्रादुर्भूत हुआ है।

क्या शुभ या उचित हे और क्या अशुभ या अनुचित है इसका निर्णय कैसे होगा ? मानवीय विचार अनेकपक्षीय हे। शारीरिक एव आकारिक भिन्नता के साथ ही मानव की मानसिक सोच (Thinking) भी समान नही ह। मनुष्य स्वतत्र पैदा हुआ है। अत जो कुछ भी वह चिन्तन करता है तदनुसार ही उसकी शारीरिक क्रियाएँ होती हे। जगत् म शुभ और अशुभ दोनो का फेलाव है। यदि मनुष्य मानसिक रूप से समान होते तो सभी की क्रियाएँ समान होती और वे एक ही प्रकार के या तो शुभ या अशुभ कर्म करते लकिन ऐसा नही होता। प्राय देखा जाता है कि जो चीज एक व्यक्ति के लिए शुभ है तो वही चीज दूसरे व्यक्ति के लिए अशुभ है। तो क्या शुभ को 'मूल्य' मान लिया जाय ? मूल्य को सार्वभौमिक होना चाहिए जो प्रत्येक देश-काल की सीमा मे न बँधकर दिक्कालपरिच्छिन्न हो।

मूल्य का निर्धारण दार्शनिको व विचारको के समक्ष एक गभीर समस्या है। भौतिकवाद ने सुख की सम्प्राप्ति को ही मूल्य माना है लेकिन इहलोक मे यह देखा गया है कि धनधान्य एव भौतिक सुख-समृद्धि से सम्पन्न व्यक्ति भी कही-न-कही से दु खी अवश्य है। दु ख अशुभ है। सुख मे दु ख का समावेश न हो-- ऐसा सभव ही नहीं हे क्योकि यदि किसी को दु खानुभूति न हुई हो तो वह सुख का कैसे अनुभव कर सकता हे ? स्पष्ट हे कि यह जगत् द्वन्द्वात्मक है जहाँ पक्ष और विपक्ष म क्रिया--प्रतिक्रिया होती रहती हे तथा सम्पक्ष को निर्मित करने का सतत् प्रयास होता रहता है यही सब करते--करते वह दिन आता ही आता है। जब मानव की गति समाप्त हो जाती है और उसे पचतत्वो मे विलीन हो जाना पडता हे।

सभी मानव शिशु होते है। मॉ के गर्भ से सभी नगे पेदा होते है। विवेक-बोध के बाद उनकी दनिक शारीरिक ओर मानसिक क्रियाओ मे शने शनै अन्तर आने लगता है। वह विवेक ही है जो एक मानव को दूसरे से पृथक करता है। लेकिन सबके जीवन मे अन्तत एक समय आता है जब उसे सभी भौतिक सुखोपभोगो को छोडकर गतिहीन होना पडता है अतिम क्रिया या मुखाग्नि के समय उसका पार्थिव शरीर नगा ही रहता है। अत मनुष्य नगा पेदा होता है और नगा ही मरता है। लेकिन यदि ऐसा ही मानलिया जाय तो जगत मे निराशा व्याप्त हो जायेगी। निराशा से मानवीय गतिशीलता का ह्रास होता है। मानव-चेतना का ध्येय है कि गतिशीलता को निरन्तर बनाये रखा जाय– ऐसा मूल्य-बोध से ही सम्भव हो सकता है।

मूल्य-बोध की अचेतन्ता के कारण समाज मे साम्प्रदायिक दगे हो रहे है, भ्रातृत्व और मानवता का ह्रास हो रहा है तरह-तरह के पाखण्ड प्रादुर्भूत हो रहे हे व्यक्ति-व्यक्ति को तोडने का प्रयास हो रहा है थोड से आत्मलाभार्थ दूसरो का अहित करने मे लोग अपनी शक्ति-सामर्थ्य का प्रदर्शन कर रहे है सर्वत्र जालसाजी का साम्राज्य व्याप्त हे लोग अपने चातुर्य्य का प्रदर्शन दूसरो को फॅसाने मे कर रहे हे आखिर समाज मे ऐसा क्यो हो रहा हे ? इस ओर बुद्धिजीवियो का ध्यान क्यो नही जा रहा है ? यदि किसी का ध्यान इधर जा रहा है तो क्यो उसके ध्यान पर हम अपना ध्यान अनसुना कर दे रहे है ? शोधार्थी ने उपर्युक्त विषमावस्था से ग्रस्त सामाजिक समस्याओ को अत्यन्त निकटता से देखा है और मानवीय दायित्व-बोध के भार से व्यथित होकर मानवीय मूल्यो के प्रस्थापनार्थ मूल्य-दर्शन पर ही शोधकार्य करना स्वकर्तव्य समझा है।

इस वैविध्यपूर्ण सामाजिक परिस्थिति मे मूल्यो (साध्य) का निर्धारण करना विचारको व चिन्तको के लिए तिनको से बनी छोटी नौका से समुद्र पार करने जैसा[1] तथा 'बौने द्वारा आकाश से फल तोडने'[2]

---

1 क्व सूर्ये प्रभवो वश क्व चाल्प विषया मति ।

तितीर्षु र्दुस्तर मोहादुडुपेनास्मि सागरम।।–रघुवश प्रथम सर्ग–2

2 मन्द रवि यश प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम।

प्राशु लभ्ये फले लोभा दुदाहुरिव वामन ।। –रघुवश 1/3

अथवा जिमि पिपीलिका सागर थाहा के समान था , किन्तु यह मेरे प्रारम्ध का पुण्य और स्वचिन्तन की ऊपज है कि इस शोध-प्रबन्ध को विद्वत जनो के सुधि पटल पर रख रहा हूँ। विषय गाभीर्य को देखते हुए ऐसा लग रहा है कि पिपीलीका ने सागर को तो थाह लिया है लेकिन अभी मूल्य -समुद्र मे प्रवेश करना बाकी हे। अभी वह मूल्य-समुद्र के किनारे के ककड-पत्थरो और सीपी-घोघो मे फँसा हुआ है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को अध्ययन के सुविधार्थ चार खण्डो मे विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड मे **दर्शनशास्त्र और मूल्य-दर्शन के स्वरूप को दर्शाया गया है।** इस खण्ड को चार अध्यायो मे विभक्त करके दर्शनशास्त्र की विषय वस्तु ओर उसकी शाखाओ को दिखाया गया है। **द्वितीय खण्ड मे, स्वातत्र्य-पूर्व मूल्य दर्शन के स्वरूप को तीन अध्यायो और तीन मुख्य विचारको, टैगोर, गॉधी एव नेहरु के मूल्यात्मक विचारो को समाविष्ट** किया गया है। **तृतीय खण्ड मे** 'आध्यात्मिक मूल्य-दर्शन को दर्शाने का प्रयास किया गया हे। इसमे राधाकृष्णन् युग के दार्शनिको विशेषकर अरविन्द, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य और डॉ० राधाकृष्णन् के मूल्यवादी विचारो के आधार पर मूल्यात्मक चेतना के विकास को समझाने का प्रयास किया गया है। **चतुर्थ खण्ड मे 'स्वातत्र्योत्तर मूल्य-दर्शन के स्वरूप** को दर्शाने के लिए इस महत्वपूर्ण खण्ड को आठ अध्यायो मे बॉटा गया है। प्रथम अध्याय मे सर्वोदयकारी मूल्यदर्शन को समझाया गया है। द्वितीय अध्याय मे प० दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानववादी मूल्य-दर्शन को समाविष्ट किया गया है। तृतीय अध्याय मे समाजवादी मूल्यदर्शन के अन्तर्गत आचार्य नरेन्द्र देव एव डॉ० राममनोहर लोहिया के समाजवादी क्रान्ति को अभिरूपित करने का प्रयास किया गया है। चौथे अध्याय मे वेदान्तिक परम्परा के आधुनिक स्तभ अभिनव शकराचार्य स्वामी करपात्री जी के विचारो को सग्रहित किया गया है। पॉचवे अध्याय मे रजनीश के मूल्यवाद को दर्शाया गया है। षष्ठ अध्याय मे भौतिकवादी मूल्य-दर्शन को निरूपित किया गया हे जिसमे डॉ० मानवेन्द्र नाथ राय के नव्यमानववाद और प्रो० देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय के 'लोकायत' की धारणा का विश्लेषण किया गया है। सप्तम अध्याय मे प्रो० नन्दकिशोर देवराज के सृजनात्मक मानववाद और आठवे अध्याय मे प्रो० सगमलाल पाण्डेय के 'लोकात्मवादी मूल्यात्मक' दृष्टिकोण की विवेचना किया गया है। अन्त मे शोध-प्रबन्ध का उपसहार एव निष्कर्ष दिया गया है इसके साथ ही भावी अध्ययन हेतु सुझाव और सदर्भ ग्रंथ-सूची भी सलग्न किया गया है

इस शोध-प्रबन्ध के निर्देशक परमपूज्य गुरुवर डॉ० नरेन्द्र सिह जी के प्रति आभार व्यक्त करना मात्र ओपचारिकता होगी क्योकि उनके निर्देशन के बिना यह शोध-प्रबन्ध पूर्ण नहीं हो सकता था। डॉ० सिह भारतीय दशन के बेजोड पारखी है ऐसा विश्रुत है। शोध-प्रबन्ध पूर्ण होने मे जो दस वर्षो का विलम्ब हुआ उराका कारण इस शोध विषय की व्यापकता ओर गाभीर्य है तथापि गुरुवर डॉ० सिह की असीम अनुकम्पा का ही परिणाम हे कि यह शोध-प्रबन्ध विश्वविद्यालय के पटल पर प्रस्तुत हुआ है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय दशन-विभाग की विश्व-स्तरीय परम्परा रही है जहॉ बडे–बडे मनीषी दर्शनिको का प्रादुर्भाव हुआ हे। इसी परम्परा मे **प्रो० सगमलाल पाण्डेय जी** पूर्व विभागाध्यक्ष (1982-88) को विस्मृत नही किया जा सकता। इस शोध-प्रबध का शीर्षक प्रो० पाण्डेय द्वारा ही आबटित किया गया था। **विगत शदी मे इस विषय पर शोध-कार्य नहीं हुए है।** प्रो० पाण्डेय जैसी दार्शनिक हस्ती ने मुझे इस योग्य समझा कि इस विषय पर ही शोध कार्य करॅु–यह मेरे लिए अत्यन्त गौरव की बात है। प्रो० पाण्डेय ने विषय के गाभीर्य को सरल-से-सरल शब्दो मे समझाकर मेरा मार्गदर्शन किया। इसी परम्परा मे **प्रो० जे० एस० श्रीवास्तव प्रो० डी० एन० द्विवेदी, प्रो० रामलाल सिह, प्रो० एस० के० सेठ, डॉ० आर० एस० भटनागर, डॉ० सी० एल० त्रिपाठी, प्रो० वी० डी० मिश्र** जैसे विद्वत गुरुजनो को विस्मृत करना मेरी कृतध्नता होगी। इनके ज्ञान–पुत्र्ज की अमिट छाया सदैव मेरे साथ रही है इसके लिए मैं उनके श्रीचरणो का सादरनमन करता हूँ। दर्शन विभाग की विद्वत परम्परा मे **डॉ० मृदला रवि प्रकाश, डॉ० गोरी चट्टोपाध्याय, डॉ० जटाशकर, डॉ० हरिशकर उपाध्याय** और **डॉ० आशालाल** की असीम अनुकम्पा मेरे ऊपर रही है जिनके योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता।

चूँकि मेरे शोध-प्रबन्ध का विषय-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और गूढ था इसकारण मुझे ICPR दिल्ली लखनऊ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के ग्रथालयो के न केवल बारम्बार चक्कर लगाने पडे वरन् अत्यधिक समय भी देना पडा लम्बे-लम्बे चक्कर लगाने पडे फिर भी मूल्य-दर्शन पर पुस्तको व शोध-पत्रो के अभाव ने मुझे काफी झकझोर दिया फलस्वरूप मै **स्वचिन्तन की ओर मुखरित हुआ**। इस स्थिति मे सदैव मेरे साथ रहे मेरे आत्मीय **डॉ० विद्यासागर उपाध्याय जी** को विस्मृत करना अपने को धोखा देना होगा जिनके सतत् प्रयास से पूरे उत्तरभारत के विश्वविद्यालयो के दर्शन विभाग के प्रबुद्ध विद्वतवेत्ता यह जान

गये कि मूल्यहीनता के दोर मे भारतीय मूल्य-दर्शन जैसे गभीर विषय पर और वह भी 1950 के बाद के सामयिक चिन्तन पर शोध-प्रबन्ध लिखा जा रहा है। इस शोध-प्रबन्ध के विषय मे परामर्शार्थ मैने **प्रो० बद्रीनाथ सिह** जी (पूर्व प्रो० काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) से काफी विचार-विमर्श उनके काशी स्थित नगवॉ आवास पर किया, जहॉ से अनेक सुझाव ओर प्रेरणाएँ मिली। मै **डॉ० सिह** का सतत् आभारी हूँ।

मेरे भविष्य के प्रति सदैव चिन्तित एव सचेष्ट परमश्रद्धेय पूज्यपाद आत्मज **श्री राम नजर सिह** एव परमादरणीया दिवगिता अम्मा (चन्द्रावती देवी) ने जिस आम्मीयता से अपना अमिट वात्सल्य प्रदान किया है वह स्नेहिल एव पूजनीय है। इन लोगो के बिना न तो मेरे शैक्षिक जीवन की पूर्णता ही सम्भव थी न ही शोध की-कल्पना। इन्हे शत-शत नमन।

मै उन समस्त विज्ञ जनो का आभारी हूँ जिनका प्रत्यक्ष एव परोक्ष सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है। इस क्रम मे सार्वभौम ,सस्कृत प्रचार सस्थान के सस्थापक विद्वतवरेण्य **प० वासुदेव द्विवेदी शास्त्री** को विस्मृत नही कर सकता जिनके सतत् आशीर्वाद एव अनुग्रह का परिणाम है कि इस शोध-ग्रथ ने अपनी पूर्णता प्राप्त किया है। इस विद्वत-परम्परा के क्रम मे **प्रो० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय** (इलाहाबाद), **प्रो० विद्यानिवास मिश्र,** (दिल्ली) **प्रो० रेवा प्रसाद द्विवेदी** (वाराणसी), **प्रो० देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय** (कलकत्ता), **डॉ० सुमन गुप्ता** (कलकत्ता), **प्रो० यशदेव शल्य** (जयपुर), **प्रो० टी० पति** (कुलपति जगन्नाथ विद्यापीठ, पुरी), **डॉ० गयाचरण त्रिपाठी** (गगानाथ सस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद), वाराणसी हिन्दू विश्वविद्यालय के **प्रो० रेवतीरमण पाण्डेय** (विभागाध्यक्ष दर्शन विभाग), **प्रो० कमलाकर मिश्र,** काशीविद्यापीठ के **प्रो० वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी, प्रो० रमेशचन्द्र श्रीवास्तव,** गोरखपुर विश्वविद्यालय के **प्रो० सभाजित मिश्र, डॉ० भगवान मिश्र, डॉ० सुशील तिवारी,** लखनऊ विश्वविद्यालय, के **प्रो० आर० डी० मिश्र, प्रो० (श्रीमती) रूप रेखा वर्मा,** बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर के **प्रो० शशिभूषण प्रसाद सिन्हा, प्रो० मृत्युन्जय प्रसाद** सिन्हा, अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद के **डॉ० दुर्गादत्त पाण्डेय, डॉ० सत्या पाण्डेय,** पटना विश्वविद्यालय के **प्रो० अशोक कुमार वर्मा** (अवकाश-प्राप्त), **डॉ० रमेन्द्र, दिल्ली** विश्वविद्यालय के **प्रो० वेदप्रकाश वर्मा, प्रो० अर्जुन मिश्र** (सागर) **प्रो० राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय** (इन्दौर), **प्रो० अशोक कुमार लाड** (छतरपुर) , **डॉ० अवनीश चन्द्र मिश्र** (प्राचीन इतिहास, विभाग, इ० वि० वि०, इलाहाबाद) **प्रो० हरिशकर त्रिपाठी** (सस्कृत

विभाग इलाहाबाद वि० वि०) प्रभृति विद्वानो को विस्मृत नही किया जा सकता। इनके प्रति मै आभार व्यक्त करना अपना पुनीत कर्म समझता हूँ।

मै अपने स्वजनो को विस्मृत नही कर सकता जिनकी असीम अनुकम्पा सदैव मुझ पर रहती है। इस क्रम मे मै अपनी धर्मपत्नी मृदुभाषिणी **श्रीमती पुष्पा सिह** के प्रति आभारी हूँ जिनके सहयोग के बिना मै इस शोध–प्रबन्ध को पूर्ण नही कर सकता था। मेरी पुत्री **समिधा** एव पुत्र **देवाश** तथा **दुष्यन्त** को भी धन्यवाद दे रहा हूँ क्योकि मेरे लेखन के दौरान इन लोगो ने काफी शान्ति बनाये रखा। अपनी भॉजी कुमारी अर्पणा एव अग्रजा श्रीमती निरुपमा को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होने समय-समय पर मुझे काफी सहयोग दिया हे।

मै **श्री शैलेन्दु नाथ मिश्र** (शोध-छात्र, दर्शन विभाग, इलाहाबाद वि० वि०) को विस्मृत नही कर सकता जिन्होने इस शोध-प्रबन्ध के प्रूफ एव भाषा-सुधार का कार्य पूर्ण मनोयोग से किया है। मै इनके प्रत्येक शुभ की कामना करता हूँ श्री **उमाशकर त्रिपाठी** (शोध-छात्र, राजनीतिशास्त्र, इलाहाबाद वि० वि०) ने समयानुकूल राजनीतिक तथ्यो को जिस उदारता के साथ एकत्रित करके मेरा सहयोग किया है, उसके लिए इन्हे धन्यवाद दिए बिना नही रह सकता। अन्तत इस शोध-प्रबन्ध के टकक **श्री परवेज अहमद को** धन्यवाद देता हूँ जिन्होने ध्यानपूर्वक इस शोध-प्रबन्ध को टकित किया है।

अन्तत इस शोध-प्रबन्ध को समस्त विज्ञजनो के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए बुद्धि-ग्राह्य समीक्षा की कामना भी रखता हूँ।

तमसो मा ज्योतिर्गमय।

बसन्त पचमी 10 फरवरी, 2000
1/10 माधो कुन्ज, कटरा
इलाहाबाद
दूरभाष–642802

विनयावनत्

देवेन्द्र विक्रम सिह

विषय-क्रम

प्रथम खण्ड

मूल्य-दर्शन का स्वरूप एवं विकास

अध्याय १

द्वितीय खण्ड

स्वातंत्र्य पूर्व मूल्य-दर्शन

अध्याय १

रवीन्द्र नाथ टैगोर: मानववाद 117-129

अध्याय २

महात्मा गाँधी: दिव्य ज्योति का धरा पर अवतरण 130-159

अध्याय २

श्री अरविन्द 188-211

अध्याय 3

प्रो० कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य 212-227

चतुर्थ खण्ड
स्वातंत्र्योत्तर मूल्य-दर्शन का स्वरूप

अध्याय १

अध्याय २

अध्याय ३

अध्याय ४

वेदान्तिक मूल्य परंपरा के आधुनिक स्तंभ स्वामी करपात्री जी

अध्याय ५

आचार्य श्री रजनीश 315-331

अध्याय ६

भौतिकवादी मूल्य-दर्शन 332-356

अध्याय ७

सृजनात्मक मानववादः डॉ० नन्द किशोर 'देवराज' 357-371

अध्याय ८

लोकात्मवादः प्रो० संगमलाल पाण्डेय 372-391

प्रथम खण्ड

दर्शनशास्त्र एवं मूल्य-दर्शन का स्वरुप एवं विकास

अध्याय 1

दर्शन की अवधारणा एवं मूल्य

1 1 दर्शन क्या है ?

दर्शन जीवन की गभीर प्रवत्ति है। इसका उद्देश्य न केवल बौद्धिक तृप्ति है वरन् समस्त जीवन की परितृप्ति है। पाश्चात्य वाड्मय का 'PHILOSOPHY' एव भारतीय वाड्मय के दर्शन' शब्दो मे पर्याप्त भिन्नता है। 'PHILOSOPHY' शब्द दो ग्रीक शब्दो 'PHILOS' और 'SOPHIA' से परिनिर्मित है। 'PHILOS' से अभिप्राय 'प्रेम' या अनुराग (Love) है और SOPHIA का तात्पर्य 'ज्ञान' या 'बुद्धि' (**'knowledge' or 'wisdom'**) है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'फिलॉसफी' ज्ञान के प्रति अनुराग या प्रेम (love of knowledge) है। इस व्युत्पत्यर्थ से स्पष्ट है कि 'फिलॉसफी' एक बौद्धिक व्यायाम (Rational exercise) की वस्तु है। जीवन मे सम्पूर्ण पक्षो से यह स्पष्ट है पाश्चात्य दर्शन जगत् के अनेकश दार्शनिको ने फिलॉसफी को जीवन से जोडने का प्रयास किया है लेकिन इस उद्देश्यपूर्ति मे वे असफल रहे है। इनकी अधिकाश बौद्धिक क्षमता पूर्ववर्ती विचारधारा की आलोचना–प्रत्यालोचना मे ही नष्ट हो गयी प्रतीत होती है। दर्शन के अनेको ऐसे क्षेत्र है जहॉ पाश्चात्य दर्शनविदो ने कार्य किया है लेकिन अधिकाश क्षेत्र अछूते रहे है। अतएव पाश्चात्य वाड्गमय का 'फिलॉसफी' बौद्धिक व्यायाम ही है।

1 2 भारतीय दर्शन एव जीवन-मूल्य

भारत मे दर्शन जीने के लिए है। 'दर्शन' शब्द 'दृशिर प्रेक्षणे' अर्थ मे 'दृश्' धातु से 'ल्यूट्' प्रत्यय (करण अर्थ मे) के सयोग से बनता है जिसका अर्थ है–'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाय, उसे दर्शन कहते हैं। यहॉ प्रकृतित एक प्रश्न उठता है कि **'किसके द्वारा देखा जाय ?'** और साथ ही यह भी कि **'क्या देखा जाय ?'** यहॉ साधन और साध्य के विषय में

स्वाभाविक जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है। जहाँ तक साधन का प्रश्न है–दर्शन के साधन से तात्पर्य उस माध्यम से है जिसके द्वारा किसी वस्तु का साक्षात्कार किया जाता है। ज्ञान–प्राप्ति के अनेको साधन है जिनमे सर्वाधिक विश्वसनीय प्रत्यक्ष (Perception) है। इन्द्रिय–भेद के अनुसार प्रत्यक्ष के पॉच भेद है लेकिन उनमे चाक्षुष्–प्रत्यक्ष का विशेष महत्व है क्योकि यह सर्वाधिक प्रामाणिक और दृढ होता है। लेकिन बौद्धिक जगत् के बहुत–से तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है जिन्हे स्थूल इन्द्रियो के द्वारा देखना अत्यन्त कठिन है। प्राय सभी भारतीय दार्शनिक इस बात से सहमत है कि जिस जगत् का हमे इन्द्रिय–प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान होता है वह आभास–मात्र है। जगत् का सत् रुप स्थूल इन्द्रियो द्वारा गम्य नही है। लेकिन स्थूल एव सूक्ष्म दोनो का विवेचन करना दर्शन का विषय है। परमसत् के साक्षात्कारार्थ स्थूल एव सूक्ष्म दोनो का साक्षात्कार आवश्यक है। इसीलिए चार्वाक, न्याय, वैशेषिक इत्यादि स्थूल दृष्टिवाले दर्शनो मे स्थूल पदार्थों के तथा साख्य योग वेदान्त आदि सूक्ष्म दृष्टि वाले दर्शनो मे सूक्ष्म पदार्थों के देखन के साधनो का वर्णन मिलता है। स्थूल पदार्थो का तो बाह्येन्द्रियो द्वारा साक्षात् किया जा सकता है लेकिन सूक्ष्म पदार्थो का प्रत्यक्ष करना सर्वसाधारण के लिए सम्भव नही होता। उनके प्रत्यक्ष के लिए 'प्रज्ञा–चक्षु' या ज्ञान–चक्षु' की आवश्यकता होती है। दर्शन के लिए हमे दोनो प्रकार के चक्षुओ की अपेक्षा होती है। यही कारण है कि उपनिषदो ने दृश्' धातु का ही प्रयोग किया है और यही भाव भारतीय दर्शन के दर्शन' शब्द मे भी है।

भारतीय दर्शन मे दर्शन' से अभिप्राय 'तत्व–दृष्टि' या 'तत्वसाक्षात्कार' ही नही है वरन् यह 'तत्वसाक्षात्कार' किन साधनो के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, इसके लिए भी 'दर्शन' शब्द का प्रयोग किया गया है। आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक क्लेशो से पीडित होकर उनसे छुटकारा पाने के साधनो को ढूँढता हुआ साधक आचार्य के पास जाता है और उनसे दु ख से मुक्ति के उपाय पूछता है। आचार्य उस पर अनुकम्पा दिखाते हुए उपदेशित करते है–**'आत्मा वाऽरे द्रष्ट्रव्य '**[1] इस आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति के लिए **'श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्य '**[2] की व्यवस्था दी गयी है।

अब प्रश्न यह है कि दर्शन का साध्य क्या हे ? अथवा, **'क्या देखा जाय ?'** भारतीय दर्शन मे इस प्रश्न का उत्तर हे– तत्त्व के स्वाभाविक स्वरुप का दर्शन किया जाय या देखा जाय। तत्त्व का यथार्थ स्वरुप साधारण दृष्टि से अगम्य है। तत्त्व ='त्त् + व'। त्त् (वह) सर्वनाम है ओर व' का तात्पर्य सर्व' (cnt11c) हे। भारतीय वेदान्तिक और औपनिषदीय परम्परा मे इसे ब्रह्म' कहा गया हे। इसी तत्त्व या ब्रह्म' के यथार्थस्वरुप को आत्मसात् करना दर्शन का साध्य है। ईशावस्योपनिषद् मे पूषन्' से प्रार्थना करते हुए साधक कहता हे–

'स्वर्ण पात्र से सत्य का मुँह ढका है। हे पूषन् ! (समस्त जगत् के पालन करनेवाले परमात्मन्) उस ढक्कन को हटाइए, जिससे सत्य का (अर्थात ब्रह्म) और सनातन रूप ब्रह्म पर प्रतिष्ठित धर्म का (आत्मज्ञानानुकूल कर्तव्य का) हमको 'दर्शन' हो सके।[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि दर्शन का मुख्य कार्य सत्य के यथार्थस्वरुप का उद्घाटन करना है। भारतीय दर्शन के आदिस्रोत वेदो एव उपनिषदो मे आत्मा या ब्रह्म को ही एकमात्र सत् माना गया है। मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियो मे उपनिषदो के आत्मज्ञान' को सम्यक्–दर्शन तथा आत्म–दर्शन के अर्थ मे लिया गया है। अपने यथार्थस्वरुप का दर्शन करना या अपने सच्चे स्वरुप को पहचानना ही आत्मदर्शन या सम्यक दर्शन' हे बोद्ध–न्याय मे इसे 'सम्पग्दृष्टि' और जेन–न्याय मे इसे ही सम्पग्दर्शन' कहा गया हे।

सम्यग्दर्शन' या 'आत्मदर्शन के लिए समदृष्टि का होना आवश्यक है। वास्तव मे सत्य' एक है जिसे बुद्धिजीवी लोग भिन्न–भिन्न रुपो मे व्यक्त करते है।[2] सभी धर्मों, मतो, सम्प्रदायो मे समन्वय स्थापित करके उनको एक ही रूप देखना 'समदृष्टि' या 'समदर्शिता' है। सर्वत्र एक ही आशय को

---

1 ईशावस्योपनिषद मत्र ।५

''हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखाम्।

तत्त्व पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।

2. एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।' ऋग्वेद 1-164-46

देखना और सभी मे एक ही परमेश्वर का दर्शन करना यही यथार्थ–दर्शन है। यह जगत क्या है ? जीवन–मृत्यु के बन्धन क्या है ? इस सुख–दुख का सार क्या है ? मे क्या हूँ ? – इन सभी प्रश्नो के मूल मे अवस्थित अव्यक्त रहस्य को समझ लेना ही दर्शन है। ये अनन्त दृश्य जब एक ही द्रष्टा मे दिखाई देने लगे , (मै ही जब सर्वत्र दिखायी देने लगे) और यह दुख जब परमशान्ति मे बदला हुआ जान पडे, उसी को वस्तुत देखना (दर्शन) कहते है

अधिकाशत भारतीय आस्तिक दर्शन मे एक ऐसी सत्ता मानी गयी है जो सर्वोच्च तथा सर्वातिशायी है। इसे परमार्थ या परमसत् कहा गया है। यही सर्वोच्च मूल्य भी है। अद्वैत वेदात मे इसे ही ब्रह्म से अभिहित किया गया है। अद्वैत वेदात इसे निर्विकल्पक, निरुपाधिक और निर्गुण सत्रा है। अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तानुसार आत्मा और ब्रह्म मे अभेद है। इसके लिए शडकराचार्य प्रसडगानुकूल श्रुतियो के प्रमाण–पुट भी देते है। यथा– **'अह ब्रह्मास्मि'**[1], **'तत्त्वमसि'**[2], **'अयमात्मा ब्रह्म'**[3], इत्यादि।

अद्वैत वेदान्त मे ब्रह्म या आत्मा को प्रमाणो का विषय नही माना गया है और नहीं उसे ज्ञान का विषय माना गया है।[4] प्रमाण शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है– 'वह जिसके द्वारा ज्ञान के विषय को परिच्छित्र किया जाता है। चूँकि ब्रह्म अपरिच्छिन्न है , अत उसे प्रमाण अथवा ज्ञान का विषय नही बनाया जा सकता है। इसी परिप्रेक्ष्य मे यह ध्यातव्य है कि किसी भी चीज को जानने का अर्थ है उसे विश्लेषित करना अर्थात् उसके सम्बन्ध मे विशेषण का प्रयोग करना। अब प्रश्न उठता है कि विशेषण लगाने का क्या तात्पर्य है ? विशेषित वस्तु को दूसरी वस्तु से अलग करना ही विशेषण लगाने का तात्पर्य हो सकता है। अब यह जानने की सहज जिज्ञासा होती है कि 'ब्रह्म' को सबसे

---

1 वृहदारण्यकोपनिषद् 1/4/10

2 छान्दोग्यापनिषद् 6/8/1

3, वृहदारण्यकोपनिषद् 2/5/19

4. वेदान्तकल्पलतिका पृ० 234

अलग करने वाला असाधारण लक्षण क्या है ? किसी भी पदार्थ का लक्षण दो प्रकार से किया जाता है–

(1)– उसके स्वरुप क कथन के द्वारा **(स्वरुप लक्षण)**

(2)– उसके वैशिष्ट्यो को बतलाकर उसे अन्य वस्तुओ से पृथक् करके। **(तटस्थ लक्षण)**

स्वरुप लक्षण पदार्थ के सत्य और तात्त्विक रूप का परिचय देता है।[1] जैसे– लौहित्य, उष्णता और प्रकाश दीपक का स्वरुप है। वेसे ही श्रुति प्रतिपादित सत् चित् और आनन्द ब्रह्म का स्वरुप है और वही लक्षण होने से स्वरुप लक्षण' कहलाता है। परन्तु तटस्थ लक्षण कुछ समय तक रहनेवाले कदाचित् आगन्तुक गुणो का ही निर्देश करता है।[2] ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति स्थिति तथा लय का कारण है। आगन्तुक गुणो के समाविष्ट होने के कारण यह उसका तटस्थ लक्षण हुआ।[3] तथा 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म'[4] तथा 'विज्ञानानन्द ब्रह्म'[5] ब्रह्म के स्वरुप लक्षण है।

किसी भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए या उसे सिद्ध करने के लिए प्रमाणो का आश्रय लेना पडता है। प्रमाण ही वस्तु का ज्ञान प्राप्त कराते है , किन्तु, ब्रह्म स्वत सिद्ध हे। जगत के सभी पदार्थ ब्रह्म पर ही आश्रित है। जगत् की व्यावहारिक सत्ताए सत्य न होने से अपनी सिद्धि के लिए एक ऐसी सत्ता की अपेक्षा करती है जो स्वतत्र, स्वाश्रित तथा स्वयसिद्ध हो। यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म का ज्ञान प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणो से हो सकता है तो यह उचित नही है क्योकि प्रत्यक्ष–प्रमाण मे इन्द्रिय का विषय से सन्निकर्ष होना आवश्यक है और ब्रह्म का इन्द्रिय–सन्निकर्ष

---

1 तत्र स्वरुपमेव लक्षणम स्वरुपलक्षणम। वेदान्त परिभाषा- 327

2 तटस्थ लक्षण तु यावत्लक्ष्यकालमनवस्थित्वे सति यद्व्यावर्तक तदेव।

-वे० परिभाषा, पृ०- 328

एयविध प्रलय- कारणत्य तत्पदार्थस्य ब्रह्मस्तटस्थलक्षणम। वे० परि० पृ० 35।

तैतरिय उपनिषद् 2/1/1

सम्भव नही है। इन्द्रियातीत हाने से ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नही हो सकता। इसीलिए ब्रह्म का ज्ञान प्रत्यक्ष–प्रमाण के द्वारा सम्भव नही है। इसीप्रकार अनुमान–प्रमाण के लिए भी प्रत्यक्ष विषय को प्राप्त होता है तो यह उचित नही है क्योकि सामान्य जनो की इन्द्रियो की अपेक्षा योगियो की इन्द्रियो मे अतिशय अवश्य होता है किन्तु अतिशय से युक्त होने पर भी योगियो की इन्द्रियो का इन्द्रियत्व तो समाप्त होता नही। इसलिए अद्वितीय ब्रह्म का ज्ञान कराने मे प्रत्यक्ष–अनुमानादि प्रमाण असमर्थ है। इस प्रकार प्रमाणो द्वारा अगम्य ब्रह्म स्वयसिद्ध है तथा ज्ञानरूप होते हुए भी ज्ञान का विषय नही बनता है।

भारतीय दर्शन समस्त विद्याओ का सारतत्त्व है। उसमे ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या (Metaphysics), चित्तविद्या या अन्त करणशास्त्र (Psychology) तर्क या न्याय (Logic या The Science of reasoning) आचारशास्त्र या धर्ममीमासा (Ethics या The Science of conduct) तथा कला विज्ञान या सोन्दर्यशास्त्र इत्यादि समस्त मानवीय लोकिक एव पारलौकिक विषयो का परिपूर्ण शिक्षण–प्रशिक्षण एव परीक्षण प्रस्तुत किया गया हे। इसी कारण भारतीय दर्शन समस्त शास्त्रो का सग्राहक और समस्त विज्ञानो का विज्ञान है।

स्थानीय भाषा मे जब हम किसी व्यक्ति के दर्शन की चर्चा करते हैं तो उससे हमारा तात्पर्य केवल उसके विश्वासो की सहति से होता है। इस अर्थ मे प्रत्येक व्यक्ति का या कम–से–कम प्रत्येक परिपक्व बुद्धिवाले व्यक्ति का निश्चित ही कोई न कोई दर्शन होता है क्योकि कोई भी व्यक्ति विश्वासो के आलम्बन के बिना अपने जीवन को व्यवस्थित नही कर सकता। इसी सदर्भ मे आगस्टाइन ने कहा था –'दर्शन का उद्भव विश्वास से होता है।' **(Credito ut Intelligam)** किसी मनुष्य के विश्वास से हमारा आशय उन समस्त निर्णयो से हे जिसके एक छोर पर निश्चयात्मक विचार और दृढ विश्वास होते है ओर दूसरे छोर पर मात्र प्रतीतियॅा होती हैं– जिनके अनुरुप वह सस्कारो के अधीन होकर कार्य करता है। विश्वास के अर्न्तगत वे मत आते है जिनके अनुसार व्यक्ति अपना जीवन बिताता है इससे भिन्न ऐसे मत भी होते है जिनके बारे मे वह केवल बात करता है–इस अर्थ मे वे अपने दर्शन का निर्माण करते हैं और इस अर्थ मे हम **'चैस्टर्टन'** की इस उक्ति

को समझ सकते है कि **"किसी भी मनुष्य के लिए जो अधिक व्यावहारिक और महत्वपूर्ण बात है वह उसका विश्वास के बारे मे दृष्टिकोण"-अर्थात् उसका दर्शन है।**

किन्तु जब दर्शन का हम विज्ञान मानते हे तो इससे हमारा तात्पर्य विश्वास क परीक्षण स हाता है– यह प्रयास विश्वासो के भलीभॉति अधिष्ठित पुज तक पहुँचता है। साधारणत हम उन विश्वासो की ओर निर्देश करते है जिनका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है। इन विश्वासो के अन्तर्गत वे विश्वास आते है जो किसी धार्मिक पथ के होते है (परमात्मा का अस्तिव या अनस्तिव, आत्मा की अमरता या मरणोपरान्त उसका पूर्ण विनाश) वे जो उचित और अनुचित की सहिता से सम्बन्धित होते है। इस प्रकार दर्शन का क्षेत्र विशिष्ट विज्ञानो से पृथक है। प्रत्येक विज्ञान मे ज्ञान के क्षेत्र के किसी एक भाग पर विचार होता है, किन्तु दर्शन सम्पूर्ण का चित्र बनाने का प्रयत्न करता है – एक विश्व दृष्टि का निर्माण करता है। हर्बर्ट स्पेन्सर विज्ञान को आशिक से एकीकृत ज्ञान के रूप मे परिभाषित करता है जबकि दर्शन को वह पूर्णतया एकीकृत ज्ञान मानता है।[1] अब प्रश्न उठता है कि क्या इससे मिथ्याभिमान की गध आती हे जब हम दर्शन को विज्ञान के परे विज्ञान (Science beyond the sciences) की सज्ञा से अभिहित करते है।

इस उच्च मानसिक महत्वाकाक्षा मे जो दर्शन शब्द के सामान्य अर्थ से जुडी हुई है 'दार्शनिक' सज्ञा को विशिष्ट रूप से मनुष्यो मे कतिपय श्रेष्ठ प्रतिभासम्पन्न बुद्धिजीवियो के लिए ही सीमित कर दिया गया है। स्वय प्लेटो और अरस्तू को भी इस आलोचना का सामना करना पडा था कि वे ज्ञान के एक ऐसे लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे है जो केवल देवो के लिए ही सुलभ था। वस्तुत उनका उत्तर यह था कि वे केवल मात्र दार्शनिक है। अर्थात 'शब्दश ज्ञान के प्रेमी' ही है। इसमे अरस्तू ने इस विचार को जोड दिया कि मानवीय बुद्धि तो मनुष्य मे एक दैवी तत्त्व है। यदि हम अपने प्रति न्याय करे तो हमे इस प्रकार रहना होगा मानो समस्त ज्ञान हमारे अधिकार क्षेत्र मे है। वस्तुओ के पूर्ण ज्ञान की खोज करने मे कुछ भी विशिष्ट या दु साध्य जैसा नही

है। कोई कलाकार या चित्रकार अपने चित्र मे विभिन्न अगो को भरने के पूर्व उसकी राम्पूर्ण रूपरेखा खीचन का प्रयारा करता है -- इरागे कोई धृष्टता जैसी बात नही है। यदि कलाकार को अपने श्रग का अकारथ नही करना है तो यह चयन काई स्वेच्छा का प्रश्न नहीं है वरन यह ता आवश्यक है कि चित्र या कलाकृति का बनाते समय उसके मन मे किरी न किसी अर्थ मे सम्पूर्ण चित्र का विचार विद्यमान रहे। सम्पूर्ण का खाका साधारणत स्थूल रूप से खीच लिया जाता है ओर जैसे--जैसे चित्र पूर्णता की ओर बढता है वेसे–वेसे उसमे परिवर्तन की सम्भावना को स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार दर्शनो को भी एसे उत्तरो से सतुष्ट होना पडता है जो एक सीमा तक ठीक होते है अथवा जो कुछ लोगो की दृष्टि मे केवल आपेक्षिक उतर होते है ओर जिनके निरन्तर अधिकाधिक पूर्ण होने की सम्भावना रहती है।

स्पष्ट है कि सम्पूर्ण विश्व के बारे मे हमारे विश्वास है, परन्तु अपनी मानसिक सामर्थ्य को बहुत अधिक महत्व दिए बिना ही क्या हम उन्हे तार्किक परीक्षण के द्वारा किसी सैद्धान्तिक रूप मे ला सकते है ? रामान्यत हग अपने गुख्य विश्वासो को तर्कणा की प्रक्रिया द्वारा प्राप्त नही करते है। इनका अभिज्ञान हमे आधेकृत सता या सुझावो के द्वारा प्राप्त होता है। अधिकृत सत्ता के रूप मे माता–पिता और गुरूजनो क द्वारा, तथा सुझावो के रूप मे उन प्रशसित व्यक्तियो से जिन्हे बाल्यकाल का वीर–पूजक मस्तिष्क ग्रहण कर चुका होता है, अथवा सामाजिक परिवेश से, विशेषत उन निकटस्थ समूहो से जिनके मत केवल इसीलिए स्वीकार किए जाते है या ले लिए जाते हे कि वे उन समूहो या वर्गो मे वस्तुओ पर विचार करन के प्रचलित और स्वीकृत तरीके हात हे। इस रूप मे पाप्त एव बिना किसी और जॉच के स्वीकृत विश्वासो को 'पूर्वाग्रह कहा जा सकता है। साहित्य और नाटक विश्वास के सामान्य और प्रभावशाली स्रोत है। प्रेमलीला या नाटक किरी ऐस मत के स्वीकरण के लिए मूक– नियत्रण को प्रस्तुत करते है जिसे लेखक अपने पात्रो द्वारा सूक्ष्म रूप मे दर्शको तक पहुँचाना चाहता है। ये समस्त सलाप दर्शन के प्रेषण की ओर उन्मुख है क्योकि कोई भी व्यक्ति किरी विचार को बिना अपनी सामान्य वृत्ति और दृष्टि को प्रेषित किए चाहे अपनी ऑख के सकेत (ऑख को टिमटिमाकर) अथवा किसी अन्य मुद्रा के द्वारा, – अभिव्यक्त नही कर सकता चाहे वह उसका आशावाद हो या निराशावाद हो।

1 3 दर्शन का उद्देश्य

दर्शन प्रत्येक विश्वास को बुद्धि के द्वारा स्थापित करने पर अनिवार्यत जोर नही देता। दर्शन का यह आग्रह नही है कि असिद्ध या असिद्धकरणीय को मानने का हमे अधिकार नही है। इसका कार्य यह अनुसधान या खोज करना है कि अमुक विश्वास किन आधारो पर माने जा रहे है और कोन से आधार अच्छे है। यह पूर्वाग्रह के लिए एक सही (Normal) स्थान की खोज कर सकता है न्यायसगत (समर्थनीय) पूर्वाग्रहो का तर्कविहीन पूर्वाग्रहो से भेद करते हुए किन्ही स्थितियो मे विश्वास के आधार के रूप मे प्रमाण्य को स्वीकृति दे सकता है। सही या गलत प्रामाण्य मे भेद करने मे मदद करते हुए सामान्य परिस्थितियो मे हमारे सम्मुख सच्चे और झूठे सहज बोध का भेद बताने का कोई मार्ग प्रस्तुत करके यह हम अर्न्तदृष्टि (सहज–बोध) का आश्रय लेने की सम्मति दे सकता है।

दर्शन के कार्य का बहुत बडा अश यह पता लगाने मे निहित है कि विश्वास को आधार प्रदान करने मे **'बुद्धि क्या कर सकती है'** और **'बुद्धि क्या नही कर सकती है'** ?

'दर्शन मे महत्वाकाक्षा है' – ऐसा कहने का यही अभिप्राय हो सकता है कि इस निखिल विश्व मे किसी बौद्धिक आधार पर जीने का प्रयास करना अत्यधिक महत्व का विषय है और इसमे किसी तरह से बिना सोचे समझे ही रहना अधिक मर्यादित है। समकालीन आधुनिक युग मे विट्गेस्टाइन कहता है – " **''जिस किसी वस्तु के विषय मे कथन किया जा सकता है, स्पष्ट रूप मे कथन किया जा सकता है तथा जिसके विषय में सलाप नहीं किया जा सकता हमे मौन ही रहना चाहिए।**[1]''

विट्गेस्टाइन ने दार्शनिक कथनो को 'प्रबोधक निरर्थकता' के नाम से अभिहित किया है जिसका कथन नही किया जा सकता। जिसप्रकार अद्वैत वेदान्त मे हम 'अध्यारोप–अपवाद–न्याय' द्वारा तत्व का ज्ञान प्राप्त करते है उसी प्रकार विट्गेस्टाइन के दर्शन मे दार्शनिक प्रतिज्ञप्तियो के

---

1 टैक्टेटस पृ० 3

We can be said at all can be said clearly and what cannot talk about we must consign to silence

निराकरण के द्वारा हम सत्य का ज्ञान प्राप्त करते है। लेकिन रूडाल्फ कार्नप ने विटगेस्टाइन के उपर्युक्त मत की आलोचना करते हुए लिखा है–"**वे कहते है कि दार्शनिक प्रतिज्ञप्तियो का कथन नहीं किया जा सकता तथा जिसके विषय मे कुछ नहीं कहा जा सकता उसके विषय मे मौन ही रहना चाहिए और पुन मौन रहने की अपेक्षा वे एक पूर्ण दार्शनिक ग्रथ की रचना कर देते है।**[1]

विट्गेस्टाइन के अनुसार दर्शन कोई सिद्धात नही बल्कि एक क्रिया है जिसका कार्य अर्थ का विश्लेषण या भाषा का स्पष्टीकरण है।

दार्शनिक समस्या का प्रारूप है – "मै मार्ग नही जानता। विटगेस्टाइन ने एक बार मैल्काम से कहा था कि दार्शनिक भ्रान्ति मे पडा हुआ व्यक्ति ऐसे मनुष्य की तरह है जो कमरे मे बन्द है और बाहर निकलना चाहता है लेकिन जानता नही कि कैसे निकले ? दर्शन का कार्य इसका उपचार करना या इनसे मुक्त होना है।[2] विट्गेस्टाइन पूछता है–

"**दर्शन में आपका उद्देश्य क्या है ? मक्खी को बोतल से बाहर निकालने का पथ-प्रदर्शन करना।**"[3]

विटगेस्टाइन के इस कथन मे पर्याप्त सार्थकता है कि "**दर्शन शास्त्र भाषा द्वारा हमारी बुद्धि के सम्मोहन के विरूद्ध एक सघर्ष है।**"[4] अर्थ (Meaning) के सबध मे विचार कदाचित हमे भ्रान्ति मे डाल देता है। विटगेस्टाइन सदृश दार्शनिको का कहना है कि "**विचार मत करो बल्कि देखो।**"[5] अब प्रश्न यह है कि किसे देखो? इसका उत्तर है–"अर्थ को न देखो प्रयोगो को देखो।"[6]

---

1 कार्नेप आर० Philosophy and Logical Syntex, (1935), p 37

2 Wittgenstine L Remarks on the foundation of Mathematics, p 319

3 Wittgenstine L PHILOSOPHICAL INVESTIGATION, p 309

What is your aim in Philosophy ? To show the fly, the way out of the fly-bottle

4 वही 109 —Philosophy is a battle against the bewitchment of our intelligence by means of language '

5 वही —' Don't think but look

6 Don t look the meaning but look the use of statement

निष्कर्षत दर्शन मूल्यो की स्थापना करता है मूल्य ही सत् है। मूल्य अक्षुण्ण है। ये पारमार्थिक हे। व्यवहारत मानवीय सभ्यता के सर्वोच्च आदर्श को मूल्य से अभिहित किया जाता हे। वस्तुत ये ही तत्त्व हे। सर्वोच्च मूल्यो को आत्मसात् करना दर्शनशास्त्र का साध्य है।

1 4 दर्शन के सबध मे पाश्चात्य और भारतीय दृष्टिकोण

पाश्चात्य वाड्मय के 'फिलॉसफी' और भारतीय वाड्मय के 'दर्शन' शब्दो मे पर्याप्त भेद है। फिलॉसफी' शब्द 'PHILOS' और 'SOPHIA' दो लैटिन शब्दो से विनिर्मित है। 'फिलॉस' का अर्थ अनुराग और सोफिया का अर्थ ज्ञान से है। इसप्रकार फिलॉसफी ज्ञान के सम्प्रति अनुराग है। अर्थात **'बौद्धिक व्यायाम'** है। उसका मानवीय जीवन से सम्बन्ध तो है लेकिन घनिष्ठ सम्बन्ध नही है। पाश्चात्य जगत् मे प्लेटो काण्ट, हेगेल सदृश कुछेक विचारको ने फिलॉसफी को जीवन (व्यावहारिक जगत्) से सम्बद्ध करने का प्रयास अवश्य किया है, लेकिन अधिकाश पाश्चात्य दार्शनिको के लिए फिलॉसफी एक बौद्धिक विलास की ही वस्तु रही है। फिर भी 'फिलॉसफी' का प्रत्यय 'सोफिया' एक कोरी किताबी विद्या ही नही हे, बल्कि यह प्रज्ञा' हे।

भारतीय वाड्मय का 'दर्शन' शब्द दर्शनात्मक 'दृश्' धातु के आगे करण अर्थ मे 'ल्यूट्' प्रत्यय के योग से बनता है जिसका तात्पर्य है **'दृश्यते अनेन इति दर्शनम'** अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाय उसे दर्शन कहते है। दृष्टि असीम होती है। उपनिषद् के अनुसार – द्रष्टा की दृष्टि और विज्ञाता के विज्ञान का लोप नही होता। लेकिन, दर्शन के व्युत्पत्यर्थ से एक प्रश्न यह खडा होता है कि क्या देखा जाय और किससे (साधन) देखा जाय ? भारतीय परिप्रेक्ष्य मे दर्शन इन दोनो ही प्रश्नो पर विचार करता है। अधिकाशत 'तत्त्व को देखा जाय' और उसको देखने के लिए साधनो का विधान किया जाय, यही भारतीय दर्शन का मुख्य ध्येय है।

1 4(अ) दर्शन के ऐतिहासिक विकास के परिप्रेक्ष्य मे पाश्चात्य विचारधारा -

पाश्चात्य दर्शन का प्रारभ ग्रीक दर्शन से माना जाता है जिसका समय 6ठीं शताब्दी ई० पू० है। यूनानी चिन्तन का आरम्भ कर्ता थेलीज (640-550 ई० पू०) है जिसके अनुसार, **"जगत का मूल**

तत्त्व 'जल' है। थेलीज के बाद **एनेक्जिमेण्डर ने मूल तत्त्व को 'अनिर्वचनीय' या असीम कहा।** तीसरे विचारक **एनेक्जिमेनीज** (५७०-५५५ ई० पू०) ने कहा है कि **विश्व का मूल तत्त्व 'वायु' है।** जब वायु घनीभूत होती है तब उससे पिण्ड या पदार्थ बनते है। उसके विरलीकरण से सूक्ष्म पदार्थो की उत्पत्ति होती है। उपर्युक्त आयोनियन (माइलेशियन) विचारको के अनुसार दर्शन का स्वरूप मूल तत्त्व का निर्धारण करना है। सुकरात से पहले के प्राय सभी ग्रीक दार्शनिको मे दर्शन की समस्या का यही रूप मिलता हे। **पाइथागोरस, हेराक्लाइटस, एम्पीडॉक्लीज, एनेग्जेगोरस** और **डिमोक्राइट्स** सभी थेलीज द्वारा उठाये गये प्रश्न कि जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई ?' का हल ढूँढते हुए दिखायी देते है। पार्मेनाइडीज और उसके शिष्यो की आलोचना के फलस्वरूप दर्शन की गति एकवाद को छोडकर अनेकवाद की ओर मुड गयी। यूनानी दर्शन मे पहली बाद आकार (Form) का भेद करने की चेष्टा की गयी। **पार्मेनाइडीज के चिन्तन का आधार दृश्य जगत् का अनुभव नहीं, अपितु पूर्ववर्ती विचारको के सिद्धात है।** हेराक्लाइटस मानता है कि मूल तत्त्व एक है, साथ ही यह एक तत्त्व गतिशील एव प्रवाहमय है। पार्मेनाइडीज के अनुसार ये दोनो विचार परस्पर विरोधी है। यदि मूल तत्त्व एक ही है तो उसमे गति नहीं हो सकती। 'एक' किसी स्थान से दूसरे स्थान पर तभी जा सकता है जब कोई स्थान एक'से रिक्त हो। खाली स्थान या शून्याकाश की कोई सत्ता नही है। वह अलीक है। अतएव, एक मे गति या परिवर्तन नही हो सकता।

पार्मेनाइडीज के बाद एम्पीडॉक्लीज ने यह सिद्धात प्रतिपादित किया कि 'सामान्य के द्वारा सामान्य को जाना जाता है।' हम बाहय पदार्थों को इसलिए जान सकते है क्योकि हममे वे सभी तत्त्व मौजूद है जिनसे जगत् का निर्माण हुआ है। अब विचार इस बात पर आरम्भ हो गया कि 'ज्ञान केसे सम्भव है ? इस प्रश्न के साथ ही 'सशयवाद' का जन्म हो गया। सोफिस्ट दार्शनिको ने पहले व्यावहारिक क्षेत्र मे सशयवाद का प्रवेश कराया। उन्होने कहा – कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का भेद काल्पनिक है। वह परम्परागत पक्षपातो के अतिरिक्त कुछ नहीं है। प्रसिद्ध सोफिस्ट प्रोटागोरस ने घोषणा किया कि **'मनुष्य सभी वस्तुओ का मापदण्ड है।'**

इसके बाद एक प्रश्न यह उठा कि क्या निश्चयात्मक ज्ञान सभव है ?' सोफिस्टो के पूर्ववर्ती विचारको ने केवल इन्द्रिय–ज्ञान को सदिग्ध ठहराया था, लेकिन सोफिस्टो ने ज्ञान मात्र को ही सदिग्ध बना दिया। यदि सत्यासत्य का निर्णय मनुष्य–विशेष की कल्पना पर निर्भर है तो इससे यही स्पष्ट होता है कि सत्य की कोई स्वतत्र वस्तुगत सत्ता नही है।

सोफिस्टो के सदेहवाद की चुनौती ने सवृत्तिशास्त्र और नीति–शास्त्र या व्यवहार दर्शन (Pragmatism) को जन्म दिया। सुकरात को तत्वमीमासा मे अत्यधिक रूचि नहीं थी। अत वह अपने प्रश्नो और समस्याओ को व्यावहारिक क्षेत्र तक ही सीमित रखता था। ज्ञान को निरपेक्ष सत् सिद्ध करने के लिए उसने इस बात पर अत्यधिक जोर दिया कि **यथार्थ ज्ञान बौद्धिक ज्ञान है।** (The knowledge is virtue) और बौद्धिक ज्ञान का विषय सामान्य धारणाएँ (Concepts) है।

सुकरात का बुद्धिवाद प्लेटो मे आक्रान्त हो गया। वह जाति प्रत्ययो द्वारा विश्व की व्याख्या करना चाहता है। सुकरात की भॉति प्लेटो भी मानता है कि इन्द्रियो के बदले बुद्धि को ज्ञान का कारण तथा गोचर पदार्थो के बदले जाति–प्रत्ययो को प्रज्ञा का विषय मानकर ज्ञान की सभावना का मण्डन किया जा सकता है।

प्लेटो और अरस्तू दोनो ही दार्शनिक चिन्तन को जीवन की सर्वोच्च क्रिया समझते है। प्लेटो और अरस्तु के दर्शनो मे आत्मा की अमरता सदिग्ध है। इनका ईश्वरवाद भी उनके दर्शन के अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्तो की तुलना मे आकर्षक नहीं है। इनके दर्शनो मे सामाजिक और राजनीतिक विचारधारा की ही अधिकता है।

पाश्चात्य मध्यकालीन विचारक बुद्धि–स्वातत्र्य को खोकर धार्मिक ग्रथो पर निर्भर हो गये लगते है। इनका एक मात्र उद्देश्य चर्च की शिक्षाओ का मण्डन करना रह गया। बौद्धिक स्वतत्रता से शून्य यह काल अधकार युग से अभिहित किया गया है।

15वीं–16वी शदी के पुनर्जागरण (Renaissance) ने योरोपीय मस्तिष्क मे जिज्ञासा वृत्ति का सचार किया। डेकार्ट के चिन्तन का आरम्भ देखकर यह भ्रम हो सकता है कि आधुनिक पाश्चात्य

दर्शन के जन्मदाता मे जगत् की अपेक्षा आत्मा व ईश्वर मे अत्यधिक अभिरूचि है। लेकिन ऐसी बात नही हे। डेकार्ट का सदेहवाद साधन है साध्य नहीं। वस्तुत डेकार्ट द्वारा आत्मा की रिाद्धि ईश्वर को सिद्ध करने का द्वार या उपकरण मात्र हे। ईश्वर को सिद्ध करने के उपरान्त वह प्रकृति जगत की सत्यता सिद्ध करने लगता हे। मे सोचता हूँ, इसलिए मे हूँ' (Cogito Ergo Sum) मुझमे पूर्ण सत्ता सम्बन्धी प्रत्यय है, इसलिए पूर्ण ईश्वर है। यह सिद्ध करने के बाद डेकार्ट कहता है कि ईश्वर मे धोखा देना नही रह सकता। इसलिए प्रत्यक्ष दिखनेवाले जगत् (व्यावहारिक जगत्) की सत्ता माननी चाहिए। स्पिनोजा ने यूक्लिड की ज्यामिति के आधार पर अपने ग्रथ की रचना की। उसने डेकार्ट के द्वेतवाद को अद्वेतवाद मे बदल दिया। लाइबनित्ज की अभिरुचि विश्व की तारतम्यता म अधिक हे आत्मा व परमात्मा के सदर्भ मे कम। उपर्युक्त तीनो दार्शनिको का मत आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के इतिहास मे बुद्धिवाद के नाम रो अभिहित हे।

बुद्धिवाद की विचारधारा के विरोध मे अनुभववाद का प्रारम्भ होता है जिसके प्रतिनिधि दार्शनिक हे– लॉक बर्कले और ह्यूम। इनका मत पूर्ववर्ती मतो की न्यूनता सिद्ध करके अपने मत को प्रतिष्ठापित करना हे। इनके अनुसार, अनुभव और ज्ञान मे भेद नही है। मन तो जन्म से एक साफ प्लेट या कोरे कागज (Tabala Rasa) के समान है जिस पर अनुभव रूपी लेखनी से लिखा जाता है। इस पर पहले से कुछ भी नहीं लिखा गया होता है। इस आधार पर अनुभववाद मे (जॉन लॉक द्वारा) बुद्धिवादियो के जन्मजात प्रत्ययो (Innate idea) का खण्डन किया गया है। अनुभववादियो के ज्ञान की विधि आगमनात्मक हे। अनुभव केवल विशेष वस्तुओ का ही होता हे। आनुभविक होने के कारण इस ज्ञान मे नवीनता होती है। सभी अनुभववादी ईश्वर की सत्ता को मानते है। वर्कले के दर्शन मे आत्मा का काफी महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि परवर्ती विचारक उसके इस सिद्धान्त पर विशेष ध्यान नहीं देते। डेकार्ट और बर्कले दोनो ही आत्मा सम्बन्धी जिज्ञासा नही जगा पाते। सदेहवादी ह्यूम की दृष्टि मे वर्कले का सिद्धान्त ज्ञान–विषयक सम्मतियो के रूप मे ही महत्वपूर्ण है। 'प्रत्येक घटना का कारण होता है' भौतिक शास्त्र के इस अटूट नियम का ह्यूम ने खण्डन कर दिया। भौतिक घटनाएँ कारणता के नियम से सम्बद्ध है या उसी के द्वारा राचालित है,

यह किसी तर्क के आधार पर सिद्ध नही किया जा सकता । कारणता की खोज एक मानसिक आवश्यकता है। हम दो घटनाओ को बार–बार परस्पर घटित होते देखकर, उनके उसी क्रम से घटित होने की आशा करने लगते है। कार्य–कारण का सम्बन्ध वस्तुगत नही है।

जर्मन तत्ववेत्ता काण्ट के ग्रथ "CRITIQUE OF PURE REASON" की मुख्य समस्या ह्यूम के विरूद्ध यह सिद्ध करना है कि भौतिकजगत् की वैज्ञानिक व्याख्या सभव है। काण्ट मानता है कि केवल अनुभव के बल पर निश्चित और सार्वभौम सत्य तक नही पहुँचा जा सकता है। लॉक के अनूसार **ज्ञान'**, अनुभवात्मक है इसके उत्तर मे काण्ट कहता है कि हम वाह्य जगत के बारे मे निश्चित और सार्वभौम तथ्यो का अनुसधान करते है। इसका कारण यह है कि वस्तुओ मे आवश्यक सम्बन्धो को स्थापित करने वाली हमारी बुद्धि है। (understanding make the nature) काण्ट ईश्वर और आत्मा को ज्ञेय नही मानता। वे श्रद्धा के विषय है। काण्ट के अनुसार, **दर्शन का प्रयोजन ज्ञान की व्याख्या और विश्लेषण करना है।**

हेगेल का दर्शन विश्व की व्याख्या करने का उत्कृष्ट बौद्धिक प्रयास है। विश्व की समस्त घटनाए द्वन्द्व–नियम से शासित होती है। यह द्वन्द्व नियम पक्ष विपक्ष और समपक्ष की त्रिपुटी है। हेगेल का सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक अध्यात्मवाद' है। मार्क्स का द्वन्द्व–नियम भौतिकवाद है। मार्क्स कहता है कि उसने हेगेल के सिद्धान्त को जो सिर के बल खडा था पैर के बल कर दिया है।

उत्तर आधुनिक काल मे ब्रैडले ही एक ऐसा दार्शनिक है जिसने दर्शन का उद्देश्य 'तत्त्व पदार्थ' के स्वरूप का ज्ञान बतलाया है। ब्रैडले का दृष्टिकोण भारतीय अद्वैत विचारधारा से मिलता जुलता है। ब्रैडले मानता है कि एक पूर्ण दर्शन पद्धति मे विश्व की विभिन्न सत्ताओ या विवर्तो का सम्पूर्ण विवरण तारतम्य क्रमानुसार होना चाहिए। क्रोचे ने भी चित् शक्ति की विभिन्न क्रियाओ के विवरण रूप मे विश्व प्रक्रिया की व्याख्या करने की चेष्टा की है। बर्गसॉ का सृजनात्मक विकासवाद स्पष्टत विश्व की व्याख्या करने का प्रयत्न है। विश्व की विकासवादी व्याख्या करने के अन्य प्रयत्न सैमुअल एलेग्जेण्डर और लॉयड मागर्न के नव्योत्क्रान्तिवाद (Emergent Evolution) और जनरल स्माट्स के समष्टिवाद (Holism) मे प्रकट हुए है। ह्वाइटहेड का दर्शन भी कुछ इसी प्रकार का है।

20वी शताब्दी के अधिकाश पाश्चात्य दार्शनिको ने दर्शन का उद्देश्य तत्पमीमासा का खण्डन है। तार्किक भाववाद (A J Ayer) के अनुसार तत्वज्ञान का निष्कासन (Elimination of Metaphysics) इसलिए आवश्यक है क्योकि यह ज्ञान वैज्ञानिक धरातल पर सभव नही है और दर्शन का कार्य विज्ञान को सुदृढ आधार प्रदान करना है। यह विचारधारा समकालीन दार्शनिक विट्गस्टाइन के इस विचार से प्रभावित थी कि दर्शन का कार्य 'मक्खी को बोतल से बाहर निकालने का रास्ता दिखलाना है।

(What is your aim in philosophy ? To show the fly and way out of the bottle)

विटगेस्टाइन ने दिखाया है कि भाषा से जगत् के तथ्यो के बारे मे जानकारी मिल सकती है। ये तथ्य कुछ वस्तुस्थिति (State of affairs) से सचित है जिसे अणु तथ्य कहा गया है। विश्लेषणात्मक दर्शन की विधा मे गिल्बर्ट राइल आस्टीन आदि के विचार मे दर्शन भाषा विश्लेषण तक सीमित रह गया है।

सवृत्तिशास्त्र (Phenomenology) पाश्चात्य दर्शन की एक नवीन समकालीन विचारधारा है जिसका प्रतिनिधि दार्शनिक एडमण्ड हुसर्ल (1859–1938) है। इस विचारधारा के अनुसार चेतना मे जो प्रतीत होता है वही वस्तु है। इसप्रकार पहली बार इस दार्शनिक विचारधारा मे 'चेतना' (Consciousness) दार्शनिक अध्ययन का केन्द्र बनी। अस्तित्ववादी विचारधारा मे 'मानव' दार्शनिक अध्ययन का केन्द्र बन गया। अस्तित्ववाद एक दृष्टि है, विशेष प्रकार की मानवीय स्थितियो को देखने का एक सर्वथा नवीन ढग है।

इस प्रकार पाश्चात्य दार्शनिक विचारधारा का उद्देश्य किसी निश्चित सिद्धान्त की स्थापना करना नही है। इसका कार्य 'विचारो को स्पष्ट करना', 'पूर्व विचारो की न्यूनता को सिद्ध करके नये विचार की स्थापना करना' और 'भाषा का सही व्यवहार' बतलाना है। यह केवल वैज्ञानिक विधानो का स्पष्टीकरण है। फिर भी पाश्चात्य दर्शन अनुभवगम्य, सरल, स्पष्ट शब्द योजना की ओर ध्यान आकर्षित करता है। यह जीवन के चिरन्तन अनुभवो को समझने का प्रयत्न करता रहा है।

1.4(ब) दर्शन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण

चार्वाक को छोडकर प्राय सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय सूक्ष्म परमतत्व के साक्षात्कार को ही दर्शन मानते है। इस आधार पर भारतीय दर्शनो मे सामान्यतया धर्म और दर्शन मे बहुत ज्यादा भेद नही है। दोनो का लक्ष्य दुख से निवृत्ति और कैवल्य या परमपद की प्राप्ति है जहाँ समस्त क्लेशो का शमन हो जाता है। तत्त्व क्या है ? यह एक है या अनेक ? यह जड है या चेतन ? यह भौतिक है या आध्यात्मिक ? इस सदर्भ मे भारतीय दार्शनिको मे मतभेद है लकिन सभी दार्शनिक इस बात पर सहमत है जिसके द्वारा समस्त वस्तुओ का सारभूत ज्ञान प्राप्त होता है वही तत्त्व ज्ञान है। इसी तत्व का साक्षात्कार करना दर्शन का उद्देश्य है।

दर्शन शब्द दृश धातु मे ल्यूट प्रत्यय के योग से निर्मित है जिसका तात्पर्य है जिसके द्वारा देखा जाय। यहॉ साधन की बात की गयी है। दर्शन के साधन का तात्पर्य उस माध्यम से है जिसके द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार किया जाता है। वैसे ज्ञान प्राप्ति के अनेक साधन है, किन्तु सर्वाधिक और विश्वसनीय साधन प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय–भेद के आधार पर प्रत्यक्ष के भी पॉच भेद है, लेकिन उन सभी मे चाक्षुष प्रत्यक्ष का विशेष महत्व है। लेकिन चार्वाक दर्शन को छोडकर प्राय सभी भारतीय दार्शनिको का मत है कि बोद्धिक और आध्यात्मिक जगत् के बहुत से सूक्ष्म तत्त्वो को चाक्षुष प्रत्यक्ष मात्र से देखना अत्यन्त कठिन है। स्थूल एव सूक्ष्म दोनो प्रकार के पदार्थ भारतीय दर्शन–शास्त्र के विषय है और परमतत्व की प्राप्ति के लिए दोनो का साक्षात्कार आवश्यक होता है। इसीलिए चार्वाक न्याय वैशेषिक, बौद्ध, जैन इत्यादि स्थूल दृष्टिवाले दर्शनो मे स्थूल पदार्थो का तथा साख्य योग मीमासा वेदान्त प्रभृत्ति सूक्ष्म दृष्टिवाले दर्शनो मे सूक्ष्म पदार्थो के देखने का साधन मिलता है। स्थूल पदार्थ इन्द्रियग्राह्य है लेकिन सूक्ष्म पदार्थों के प्रत्यक्षीकरण के लिए 'ज्ञान–चक्षु' या 'प्रज्ञा–चक्षु' की आवश्यकता होती है। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक क्लेशो से पीडित साधक इन विविध दुखो से मुक्ति का उपाय ढूँढता हुआ आचार्य के पास जाता है। आचार्य उसको उपदेशित करते हुए कहते है – "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य।" अर्थात आत्मा को देखो, उसी से दुखो की निवृत्ति होगी। इसको देखने के लिए "श्रोतव्यो मन्तव्यो, निदिध्यासितव्य." इन तीन साधनों को भी बतलाया गया है।

'श्रोतव्यो' से तात्पर्य यह नही है कि भारतीय दर्शन केवल 'श्रुति' को ही एकमात्र प्रमाण मानता है बल्कि उसमे तर्क का स्थान भी कम नही है। न्याय दर्शन मे स्पष्टतया कहा गया है कि जो बुद्धि द्वारा स्थापित किया जा सके वही न्याय मत है – "बुद्धया यदुत्पन्नम् तत्रार्थ न्यायमतम् आचार्य शकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य मे लिखा है कि जब श्रुति वाक्यो के अर्थ निरूपण करने से परस्पर विरोधी अर्थ निकलते हो तो उनमे कौन सा अर्थ आभासिक है और कोन सा अर्थ यथार्थ है इसका निर्णय तर्क या बुद्धि द्वारा ही किया जा सकता है। कठोपनिषद मे कहा गया है -

"नैषा तर्केण मतिरापनेया"

भारतीय परम्परा मे सत् एक है जिसे बुद्धिमान लोग भिन्न–भिन्न रूपो मे वर्णित करते है– "एक सद् विप्रा वहुधा वदन्ति"। ऋग्वेद 1/164–46

1 5 भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन मे अन्तर

भारतीय दर्शन ओर पाश्चात्य दर्शन दोनो का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनो ही दर्शनो मे जीवन और जगत् की वास्तविकता को समझने का प्रयास किया गया है। दोनो का लक्ष्य है – सत्य की खोज करना।

फिर भी दोनो विचारधाराओ मे निम्नलिखित अन्तर किए जा सकते है–

(1) पाश्चात्य दर्शन मे सिद्धान्त पक्ष पर विशेष जोर दिया गया है जबकि भारतीय दर्शन व्यावहारिक पक्ष को प्रधानता देता है।

(2) पाश्चात्य दर्शन का दृष्टिकोण वैज्ञानिक हे जबकि भारतीय दर्शन का दृष्टिकोण धार्मिक व आध्यात्मिक है।

(3) पाश्चात्य दर्शन मे बौद्धिक ज्ञान (Rational knowledge) की प्रधानता है जबकि भारतीय दर्शन मे प्रातिभ ज्ञान (Intuitive knowledge) की प्रधानता है।

पाश्चात्य विचारक जेसे सुकरात प्लेटो अरस्तू, डेकार्ट हेगेल आदि दार्शनिक तर्कबुद्धि को ही ज्ञान का एक मात्र साधन बतलाते है। ठीक इराके विपरीत भारतीय विचारक बुद्धि की क्षमता को सीमित गानते है। इसरो प्राप्त ज्ञान मे ज्ञाता ओर ज्ञेय का भेद सदा बना रहता है। इसीलिए श्रुति ओर आध्यात्मिक अनुभूति (Spiritual intuition) को ही ज्ञान के साधन के रूप मे अपनाया गया है। पाश्चात्य आधुनिक विचारको मे भी आध्यात्मिक प्रवृत्ति दिखलायी देती है। ब्रेडले और हेगेल के दर्शन मे यह प्रवृत्ति प्रमुखत दिखायी देती है।

(4) पाश्चात्य दर्शन जहॉ वर्तमान पर जोर देता है वही भारतीय दर्शन मे अतीत वर्तमान और भविष्य तीनो कालो पर जोर दिया गया है।

(5) पाश्चात्य दार्शनिक भौतिकवाद रो अधिक प्रभावित है किन्तु भारतीय विचारको मे चार्वाक आदि को छोडकर सभी अध्यात्मवाद की ओर उन्मुख है।

(6) पाश्चात्य दर्शन सामाजिक सगठन को मुख्य मानता है किन्तु भारतीय दर्शन सामाजिक सगठन की अपेक्षा स्वकर्म और आचरण को मुख्य मानता है।

(7) पाश्चात्य दर्शन की पद्धति विश्लेषणात्मक है जबकि भारतीय दर्शन मे सश्लेषणात्मक पद्धति पायी जाती है।

पाश्चात्य दर्शन की विचारधाराओ का अध्ययन नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, प्रमाणशास्त्र या ज्ञानमीमासा, तत्वमीमासा, मूल्यमीमासा (Anxiology), ईश्वरमीमासा या धर्मशास्त्र (Theology) आदि खण्डो मे कृत्रिम विभाजन करके अध्ययन किया जाता है। लेकिन, भारतीय दर्शन मे इन सभी का अध्ययन एक ही साथ किया जाता है। इसी कारण भारतीय दर्शन की विधि को सश्लेषणात्मक और पाश्चात्य दर्शन की विधि को विश्लेषणात्मक विधि कहा जाता है।

1 6 दर्शन की शाखाएँ (Branches of Philosophy)

वस्तुत दर्शन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। प्रत्येक वह विषय या वह समस्या जिस पर दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार किया जाये वह दर्शन का विषय या दर्शन की समस्या बन जाता है।

अथवा दूसरे शब्दो मे जिस क्षेत्र पर दार्शनिक चिन्तन किया जाये वह क्षेत्र दर्शन का क्षेत्र बन जाता है। अब यदि हम स्कूल कालेज या दफ्तर जाने के पहले यह सोचे कि हम कौन से कपडे पहने ? हम बस से जाये टेक्सी से या पैदल ? आदि तो यह समस्या या प्रश्न दर्शन की समस्या नही है। किन्तु यदि हम यह विचार करे कि विश्व कैसे बना ? क्यो बना ? हम विश्व मे कैसे आये ? हमे किसने बनाया ? क्यो बनाया ? प्रकृति क्या है ? जीवन का क्या अर्थ है ? चेतना क्या है ? क्या इनका कोई मूल्य – उददेश्य या अर्थ है ? आदि। ये क्यो ? कैसे ? के प्रश्न दार्शनिक प्रश्न है। यही दर्शन की विषय–वस्तु या दर्शन की समस्याये अथवा दर्शन का क्षेत्र, ज्ञान की विभिन्न शाखाओ पर उठाये जा सकते है। इस दृष्टि से दर्शन का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है और दार्शनिक समस्याओ का वर्गीकरण बहुत मुश्किल भी। फिर भी दर्शन की प्रमुख समस्याओ का वर्गीकरण विद्वानो ने इस प्रकार किया है। दर्शन की प्रमुख तीन समस्याये या शाखाये मानी गयी है –

I तत्त्वमीमासा (Metaphysics)

II ज्ञानमीमासा (Epistemology)

III मूल्यमीमासा (Axiology)

1 6(अ) तत्त्व-मीमासा (Metaphysics)

दर्शन की इस शाखा के अन्तर्गत तत्व सम्बन्धी प्रश्नो की मीमासा या विवेचन किया जाता है। अग्रेजी मे इसे 'मेटाफिजिक्स' (Metaphysics) कहा जाता है।

तत्वमीमासा का स्वरूप

इस पद का प्रयोग सर्वप्रथम एण्ड्रोनिकस के रोड्ज (Rhods of Andronicus) द्वारा भौतिकी विषयक लेखो के बाद सग्रहीत अरस्तू के लेखो के शीर्षक के रूप मे प्रयुक्त किया गया। अरस्तू के अनुसार इन लेखो का विषय शुद्ध सत् था। **प्रचलित प्रयोग के अनुसार तत्वमीमासा दर्शन की वह शाखा है जो सत्ता के प्रतीयमान रूप के मूल मे निहित उसके वास्तविक स्वरूप का विवेचन करती**

है। ग्रीक दर्शन मे तत्त्वमीमासा एक केन्द्रीय तत्व है। इसका अर्थ अस्तित्व या सामान्य सत्ता के स्वरूप के विवेचन से है। तत्त्व क्या है ? तत्त्वज्ञान कैसे सम्भव है ? ये तत्त्वमीमासा के मूल प्रश्न है। ये प्रश्न उतने ही प्राचीन एव दुरुह है जितने कि स्वय दर्शनशास्त्र। प्राचीन काल मे दर्शनशास्त्र एव तत्त्वमीमासा को प्राय एक मान लिया गया था। इतने विशाल ससार मे अपने सीमित जीवन और उसकी अनेक व्यावहारिक समस्याओ को देखकर मनुष्य स्वभावत अपने सामान्य जीवन से सम्बन्धित कुछ मूलभूत समस्याओ से आक्रान्त हो जाता है। जैसे- जीवन का वास्तविक स्वरूप क्या है ? क्या मृत्यु ही जीवन का अ त है ? अथवा उसके बाद भी कुछ है ? आदि। इन समस्याओ से आन्दोलित मानव सम्पूर्ण विश्व तथा जीवन के प्रति अपनी सरल आस्था के आधार पर एक दृष्टिकोण निर्धारित करता है। यह दृष्टिकोण किसी भी प्रकार का हो सकता है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अनुसार विश्व का अधिष्ठान एक (या अनेक) ईश्वर या लोकोत्तर सत्ता है जो सबका स्वामी एव नियामक है। वह परमार्थ सत्ता सर्वशक्तिमान है। कभी--कभी यह आध्यात्मिक आस्था एक दूसरा रूप भी ले लेती है। वर्तमान सासारिक जीवन क्षणिक एव निरर्थक है। इसकी समस्याओ के हल मे निरत होना निरर्थक है। इससे परे एक अमर और आध्यात्मिक जीवन है। उसे प्राप्त करने के प्रयास मे ही जीवन की सार्थकता है। अध्यात्मवादी तत्त्वमीमासा का दावा है कि परमार्थ को भाषा एव सम्प्रत्ययो के पाश मे आबद्ध नही किया जा सकता। भारतीय दर्शन मे अपरोक्ष अनुभूति की सम्भावना व्यक्त की गयी है। इसी प्रकार बौद्धो ने तत्त्वमीमासीय प्रश्नो को अव्याकृत प्रश्न कहा है। दिङ्नाग के अनुसार शब्दो का कारण सम्प्रत्यय एव सम्प्रत्ययो के कारण शब्द है। किन्तु सत्ता उनसे भी परे है। वे सत्ता को स्पर्श नही कर सकते है।

"विकल्पयोगय शब्दो विकल्पा शब्दयोगय ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि तत्त्वमीमासीय चिन्तन समाज साहित्य धर्म विज्ञान संस्कृति इत्यादि के घात-प्रतिघात से प्रभावित होता है और उन्हे स्वय भी प्रभावित करता है तथापि अपने पारमार्थिक (मूल) स्वरूप मे यह समस्त सास्कृतिक एव भाषिक आकलनो से परे हो जाता है।

रसल ने भी स्वीकार किया है कि इन्द्रियानुभव एव वैज्ञानिक पद्धति से हम ग्राह्य वस्तुओ के आन्तरिक गुणो का ज्ञान नही हो सकता है। **तत्त्वज्ञान का आधार अन्तर्दृष्टि है।** इसमे जहा एक ओर इन्द्रियानुभव जैसी व्यवहितता है वही दूसरी ओर बुद्धि की अन्तर्मुखता भी है। आगमनात्मक एव निगमनात्मक पद्वतिया को इसके विकल्प के रूप म नही प्रस्तुत किया जा सकता है।

उपनिषदो मे तत्त्वमीमासा का निरुपण पराविद्या के रूप मे किया गया है। **छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार तत्त्वज्ञान वह पराविद्या है, जिसे सुन लेने से अश्रुत श्रुत हो जाता है अज्ञात ज्ञात हो जाता है।** आरुणि–उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु के प्रसग मे इसे आत्म–ज्ञान कहा गया है **'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'।**

हेगल के दर्शन मे ज्ञानमीमासा एव **तत्त्वमीमासा** मे अभेद स्थापित करने का प्रयास किया गया है (Real is Rational and The Rational is Real)। दर्शन के आदिकाल से ही तत्त्वमीमासा की भी परम्परा मिलती है। थेलीज एनेक्जिमेण्डर एनेक्जिमेनीज के विचारो मे यह परम्परा मिलती है। हराक्लाइटस ने भी एक भौतिक तत्त्व अग्नि को स्वीकार किया था। इसी प्रकार एम्पीडावलीज चार भौतिक तत्त्वो डेमाक्रिटस एवम् उसके पूर्व एनेक्जेगोरस ने असड्ख्य भौतिक तत्वो को माना था। आधुनिक युग मे लमेट्री (Lamattries) हेकेल (Haeleul) बुकनर, मार्क्स आदि ने इसे प्रतिष्ठित किया।

अध्यात्मवाद के विपरीत भौतिकवादी तत्त्वमीमासक विश्व के मूल को **जडद्रव्य** (Matter) कहते है। प्रत्येक वस्तु मूलत जड से उत्पन्न हुई है। यहा तक कि चेतना का भी विकास जड द्रव्य से ही हुआ। गति भौतिक पदार्थो म ही निहित है। जड से जीवन का उद्भव जीवन से मन तथा चेतना की उत्पत्ति हुई है। किन्तु जड द्रव्य की अवधारणा सुस्पष्ट नहीं है। भौतिकवादी दार्शनिक यह सिद्ध नही कर पाते है कि किस प्रकार जीव की उत्पत्ति जड–द्रव्य से हो सकती है। यदि एसा है तो हम जब चाहे भौतिक तत्त्वो को इकट्ठा करके जड चेतना को प्राप्त कर सकते है।

इसप्रकार तत्त्व के स्वरूप को लेकर अध्यात्मवाद एव भौतिकवाद ये दोनो विचारधाराए परस्पर विरोधी तत्त्वमीमासा का प्रतिपादन करती है। **स्पष्ट है कि दोनों विचार धाराओ मे विश्व के मूलतत्त्व**

की विवेचना किया गया है। एक ईरानी कवि ने इसकी तुलना एक प्राचीन ग्रन्थ की पाण्डुलिपि से की है जिसके प्रथम (आदि) एवम अन्तिम पृष्ठ खो गये है। जब से मानव जाति मे वैचारिक शक्ति उत्पन्न हुई है तब से वह आदि और अन्तिम पृष्ठो की खोज मे लगा हुआ है। यदि विश्व का कर्ता एव रचनात्मक ईश्वर है तो उसका स्वरूप क्या है ? मानव का इससे क्या सम्बन्ध है ? विश्व की व्यवस्थित रचना विशालता एव नियमबद्धता को देखकर मानव मुग्ध हो जाता है। काण्ट के अनुसार मुझ दो चीजे बहुत ही आकर्षित एवम आश्चर्यचकित कर देती है। विश्व मे व्याप्त नैतिक नियमो का अनुशासन एव तारो से भरा आकाश"। मानव के इसी आश्चर्य को देखकर प्लेटो कहता है "Philosophy begins in wonder" । विश्व की इसी आश्चर्यजनक व्यवस्था एव सुनियोजन को देखकर कविवर तुलसीदास ने कहा -

"केशव कहि न जात का कहिए।

अतिविचित्र रचना अनूप तब समुझि मनहि मन रहिए।

अर्थात् तत्त्वमीमासीय दार्शनिक अनुशीलन आश्चर्य से आरम्भ होता है। तत्त्वमीमासीय जिज्ञासा मानव की एक नैसर्गिक प्रवृत्ति है। इसी प्रवृत्ति के कारण मानव अपनी सीमाओ का अतिक्रमण करना चाहता है। ब्रेडले के अनुसार सभी जीवित वस्तु (आत्मारा) सम्पूर्ण को प्राप्त करने की अदम्यच्छा से युक्त है। तत्त्वज्ञान मानव प्रकृति के गूढ पक्ष को सन्तुष्ट करता है। ब्रह्माण्ड को खण्डश नहीं, बल्कि समष्टि रूप मे आत्मसात् करने का प्रयत्न ही तत्त्वमीमासा है।

कुछ विचारको के अनुसार तत्त्वज्ञान पूर्णरुपेण असम्भव है, क्योकि मानव विचार सीमित एवम् अपूर्ण है। सीमित एवम अपूर्ण विचार असीम तत्त्व का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते है किन्तु ब्रैडले कहता है – "तत्त्व ज्ञान से परे है" यह कथन भी आलोचको, दार्शनिको को तत्त्वज्ञानी बना देता है- (He is Brother Metaphysician with arival theory of his own) तत्त्वज्ञान चाहे सम्भव हो या असम्भव उपयोगी हो या अनुपयोगी मानव उसके विषय मे चिन्तन किये बगैर नही रह सकता है। तत्त्वमीमासीय समस्याए भले ही पुरानी है, किन्तु उनके प्रति विभिन्न युगो मे दार्शनिको के दृष्टिकोण

नूतन होता है। वस्तुत प्राचीन मान्यताओ के प्रति नवीन दृष्टि ही चिन्तन को मौलिकता प्रदान करती है। प्रत्येक युग म दार्शनिक समस्या एक नया कलेवर लेकर उपस्थित होती है तथा समय परिवर्तन क साथ लोगो को तत्त्वविज्ञान की भी आवश्यकता होती है।

तत्त्वमीमासा क विरूद्ध कुछ आपत्तिया इस आधार पर की गयी है कि मानव मस्तिष्क क पास इन्द्रियानुभव क अतिरिक्त अन्य कोई साधन नही है। जिसके आधार पर अलौकिक तत्वो का निरूपण किया जा सके। यद्यपि अनुभवनिरपेक्ष गणितीय ज्ञान बहुत से विचारको के आकर्षण का विषय रहा है तथापि इसक आधार पर किसी वस्तुगत सत्ता का प्रतिपादन नही किया जा सकता है। गणितीय कथनो का स्वरूप पुनर्कथनात्मक हाता है। तत्त्व स्वरूपत एक है या अनेक इसका निर्धारण किसी अनुभव के द्वारा असम्भव है। तार्किक अनुभववादियो तथा समकालिक विश्लेषणवादी दार्शनिको न ऐसे कथनो को अर्थहीन माना है।

काण्ट की परम्परा क दार्शनिको के अनुसार तत्वमीमासीय गवेषणा की उपप्रेरणा सत्ता क स्वरूप का व्यवस्थित अध्ययन न होकर सत्ता के बारे मे हमारे विचार या बौद्धिक कोटियो क मौलिक स्वरूप एव सरचना का अध्ययन विवेचन विश्लेषण एव मूल्याकन है। काण्टोत्तर दार्शनिको न इस बात पर बल दिया कि मानव वैचारिक ढाचा विभिन्न ऐतिहासिक युगो और सस्कृतियो क अनुसार भिन्न हो सकता है। आर.जी.कॉलिंग ने अपन Essay on Metaphysics (1940) मे दिखाया है कि तत्वमीमासीय अनुशीलन विभिन्न एतिहासिक युगो की वैचारिक विशेषताओ को रेखाकित करने वाली निरपेक्ष पूर्वमान्यताओ की व्याख्या एव मूल्याकन है। P.F. Strawson ने अपने Individuals मे—

वर्णनात्मक तत्वमीमासा तथा Revisionary metaphysics मे स्पष्ट अन्तर किया है। वर्णनात्मक तत्वमीमासा का सम्बन्ध जगत् के बारे मे हमारे विचार को वास्तविक सरचना की अन्तर्वस्तु से है जबकि Revisionary metaphysics का सम्बन्ध एक अपेक्षाकृत अधिक उत्तम ढाचे की कल्पना करने स है।

इस विश्लेषण स स्पष्ट है कि विभिन्न युगो एव सस्कृतियो के स्वरूप, सरचना एव भाषा की विविधता के अनुसार तत्त्वमीमासीय समस्याओ का स्वरूप, कलेवर एव चिन्तन की दिशाए भी प्रकृति

मे ही अन्तर्निहित है। इसलिए तत्त्वमीमांसा की समस्याए भले ही पुरानी हो किन्तु उनके प्रति दार्शनिको मे नयी नयी दृष्टियो का उन्मेष हुआ है। किसप्रकार की तत्त्वमीमांसा उपयुक्त है ? वर्तमान समय मे तत्त्वमीमांसीय चिन्तन की क्या दिशा हो ? इन समस्याओ पर विचारको मे मतभेद हो सकता है। अच्छी व खराब उचित या तर्कसगत और कम तर्कसगत तत्त्वमीमांसा के बीच मे चुनाव किया जाना विवादास्पद हो सकता है किन्तु तत्त्वमीमासा की असम्भवाना नही सिद्ध की जा सकती है।

यद्यपि तार्किक भाववादियो ने अर्थ के सत्यापन सिद्धान्त के आधार पर तत्त्वमीमासा के निराकरण करने का प्रयास किया है तथापि वे अपने प्रयास मे सफल नही हो पाये। इस सम्बन्ध मे जॉन पॉसमोर का यह कथन उल्लेखनीय है कि "यदि तत्त्वमीमासा को आग मे जला दिया जाय तो विज्ञान भी भस्म हो जाता है और यदि विज्ञान को बचाने का प्रयास किया जाय तो तत्त्वमीमासा भी वापस आ जाती है ।

तत्व-मीमासा
(Metaphysics)
एकतत्ववाद
(विश्व का मूल तत्व एक है)
(Monism)
द्वैतवाद
(विश्व के मूल तत्व दो है– जड पदार्थों का मूल जड चतन का मूल चेतन)
(Dualism)
बहुतत्ववाद
(विश्व के मूल मे एक या दो तत्व नही बल्कि अनेक तत्व है)
(Pluralism)
भौतिकवादी एकतत्ववाद
(विश्व का मूल तत्व एक है– वह है जड)
(Physical or Material Monism)
अध्यात्मवादी एकतत्ववाद
(विश्व का मूल्य तत्व एक है– वह है चेतन)
(Spiritual Monism)
भौतिकवादी बहुतत्ववाद
(विश्व भौतिक अणुओ की सृष्टि है)
(Material Pluralism)
अध्यात्मवादी बहुतत्ववाद
(विश्व चिद्–बिन्दुओ या चेतन अणुओ की सृष्टि है)
(Spiritual Pluralism)

1 6(ब) ज्ञानमीमासा (Epistemology)

ज्ञानमीमासा ज्ञान सम्बन्धी समस्याओ की दार्शनिक विवेचना है। ज्ञान क्या है ? ज्ञान का स्वरूप क्या है ? क्या ज्ञान की सीमाये है ? ज्ञान का स्रोत क्या है ? ज्ञान बुद्धि से प्राप्त होता है या इन्द्रियो से या दोनो से? क्या अतीन्द्रिय ज्ञान सभव है ? आदि। दर्शन की इस शाखा को अग्रेजी मे एपिस्टिमोलाजी कहते है। Epistemology शब्द दो शब्दो से मिलकर बना है Epistemo और Logos। Epistemo यानी Knowledge अर्थात ज्ञान और Logos यानी theory अर्थात सिद्धान्त या मीमासा। इस प्रकार Epistemology ज्ञान का सिद्धान्त या ज्ञान की मीमासा है।

दर्शन की एक शाखा तत्त्वमीमासा सम्पूर्ण विश्व को, विश्व के मूल कारण को खोजने का उसे जानने का प्रयत्न करती है। दार्शनिक को उन दशाओ समस्याओ और सीमाओ को भी समझना होगा जो उसके इस ज्ञान या बोध मे सहायक है। दार्शनिक को यह समझना भी जरूरी है कि उसके ज्ञान की सीमा क्या है ? ज्ञान की प्रामाणिकता कैसे सिद्ध होती है ? ज्ञान का स्वरूप उसकी सीमा उसका स्रोत उसकी प्रामाणिकता विषयक प्रश्नो को दर्शन की इस शाखा ज्ञान मीमासा मे उठाया जाता है।

ज्ञान मीमासा के अन्तर्गत दार्शनिको के विभिन्न दृष्टिकोण मिलते है। कुछ दार्शनिको के अनुसार ज्ञान का स्वरूप बौद्धिक है। मानव ज्ञान का स्रोत बुद्धि है अर्थात बुद्धि के द्वारा ही ज्ञान प्राप्त होता है। समस्त ज्ञान बुद्धि मे ही निहित होता है। बुद्धि ही हमारे ज्ञान की सीमा है अर्थात बुद्धि से परे या बुद्धि के अतिरिक्त किसी अन्य स्रोत से ज्ञान की प्राप्ति सभव नही। बुद्धि के बिना ज्ञान असभव है। ज्ञान की प्रामाणिकता बुद्धि से ही सिद्ध होती है। यह विचारधारा दर्शन मे बुद्धिवादी विचारधारा कहलाती है। दूसरी ओर ज्ञान की अनुभववादी विचारधारा है। अनुभववादी विचारको के अनुसार ज्ञान का स्वरूप ऐन्द्रिक है। इन्द्रिय अनुभव ही ज्ञान का उत्स है और यही ज्ञान की सीमा है। इनके अनुसार 'समस्त ज्ञान का स्रोत अनुभव है और अनुभव मे ही इसका अन्त' (All knowledge

begins with experience and ends with it) अर्थात अनुभव के पहले ज्ञान असम्भव है और अनुभव की समाप्ति मे ज्ञान भी समाप्त हो जाता है। अनुभव के पश्चात् कुछ भी शेष नही रह जाता। उदाहरण स्वरूप मृत्यु इन्द्रियानुभव को समाप्त कर देती है इसके साथ ही ज्ञान भी समाप्त हो जाता है। मृत्यु के पश्चात ज्ञान शेष नही रह जाता । ज्ञान की प्रामाणिकता भी इन्द्रियानुभव से ही सिद्ध होती है।

वस्तुत ज्ञान की बुद्धिवादी और अनुभववादी दोनो ही विचारधाराये एकांगी अपूर्ण और अर्धसत्य है क्योकि ये दोनो ही विचारधाराये मानवीय ज्ञान के एक पहलू को सामने रखती है। मनुष्य के पास बुद्धि भी है ओर इन्द्रियॉ भी। बुद्धिवादी मनुष्य के इन्द्रियात्मक पहलू को नकार देते है और अनुभववादी बौद्धिक पहलू को। बुद्धि और अनुभव दोनो ही ज्ञान के लिए आवश्यक है। यदि केवल बुद्धि ज्ञान दे सकती है तो एक वनमानुष के साथ पले मानव के बच्चे को भी उसी प्रकार का ज्ञान होना चाहिए था जेसा सामान्य मनुष्य को होता है। उसमे भी बुद्धि तो है ही किन्तु अकेला अनुभव भी ज्ञान नही बन सकता। क्योकि इन्द्रिय अनुभव को अर्थ तो बुद्धि ही प्रदान करती है। बुद्धि के अभाव मे इन्द्रिय अनुभव मात्र अनुभव ही होता है, ज्ञान नहीं बन सकता। इस प्रकार ज्ञान के लिए बुद्धि ओर अनुभव दोनो की आवश्यकता है। एक के बिना दूसरा अधूरा है। बुद्धिवादी ओर अनुभववादी विचारधाराओ मे इस दोष को देखकर दर्शन मे ज्ञान सम्बन्धी एक तीसरी विचारधारा उभरी समन्वयवाद या समीक्षावाद। ज्ञान की इस विचारधारा ने प्रचलित दोनो विचारधाराओ बुद्धिवाद ओर अनुभववाद की समीक्षा की उनके गुण—दोषो की विवेचना की और दोनो का समन्वय किया। इनके अनुसार मानवीय ज्ञान मे बुद्धि ओर इन्द्रियानुभव दोनो आवश्यक पहलू है, दोनो मे एक के भी बिना ज्ञान सभव नही है। ज्ञान की यह समन्वयवादी विचारधारा भी दर्शन मे पूर्ण रूप से मान्य नही रही फिर भी ज्ञान के क्षेत्र मे ये तीनो विचारधाराये अपना—अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

कुछ विचारको के अनुसार बुद्धि और इन्द्रियानुभव के अतिरिक्त मानवीय ज्ञान का एक और सबसे महत्वपूर्ण पहलू है अन्त प्रज्ञा या अन्तर्ज्ञान। इसे अन्त प्रज्ञावाद कहते है। अन्त प्रज्ञावादियो के अनुसार मनुष्य का आनुभविक ज्ञान दो प्रकार का होता है— बाह्य और आन्तरिक। बाह्य अनुभव बाह्य इन्द्रियो यानी पच ज्ञानेन्द्रियो—ऑख नाक, कान, मुख और त्वचा से क्रमश देखकर, सुनकर सूँघकर,

स्वाद लेकर और स्पर्श के द्वारा यानी छूकर होता है। यह ज्ञान इतना सरल स्वाभाविक और सहज होता है कि इस पर शका या सन्देह की गुजाइश नही होती न ही प्रमाणित करने की आवश्यकता। अन्त करण आत्मा की वह शक्ति है जिसके द्वारा आत्मा सद् और असद् उचित और अनुचित का भेद स्पष्ट पहचानती है। अन्तःकरण या अन्तरात्मा या अन्तरिन्द्रिय मनुष्य के अन्दर होती है किन्तु यह व्यक्तिगत नही सार्वभौमिक होती है। एक मनुष्य की अन्तरात्मा दूसरे की अन्तरात्मा से भिन्न नही होती वरन्तुत एक ही आत्मा समान रूप से प्रत्येक मनुष्य के अन्दर विद्यमान होती है। आत्म तत्व सार्वभौमिक है और आत्म तत्त्व से प्राप्त ज्ञान भी सार्वभौमिक है। विचारको के अनुसार तत्त्वज्ञान इसी अन्तर्ज्ञान या अन्त प्रज्ञा से सभव है। बुद्धि या इन्द्रियानुभव परम- तत्व को जानने के लिए सक्षम नही। इस प्रकार विचारको ने परम सत्ता या परम तत्त्व या विश्व के आदि--कारण की खोज के पूर्व मानवीय ज्ञान की विवेचना को आवश्यक समझा। यदि दर्शन विश्व को उसकी समग्रता म समझना चाहता है तो उसे पहले यह जानना होगा कि इसके लिए जो साधन, जो प्रणाली या जो विधि दर्शन मे अपनायी जाये वह प्रामाणिक हो। दर्शन के लिए केवल बोध या ज्ञान पर्याप्त नहीं उस बोध का उचित या प्रामाणिक होना भी आवश्यक है। इसलिए प्रामाणिक ज्ञान दर्शन का एक मुख्य अग बन गया। भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिको ने ज्ञानमीमासा पर विशेष बल दिया किन्तु दोनो परम्पराओ मे अनेक समानताओ के बावजूद काफी भिन्नताये भी दृष्टिगत होती है। सबसे बडी भिन्नता यह है कि भारतीय ज्ञानमीमासा मे ज्ञान की सम्भावनाओ और सीमा पर कम ज्ञान के साधनो और ज्ञान की प्रामाणिकता पर विशेष बल दिया गया। वरन्तुत ज्ञान की सभावना पर सशय की दृष्टि भारतीय दार्शनिक रख ही नही सके क्योकि उनका अतिम लक्ष्य ज्ञान न होकर मोक्ष था। ज्ञान तो मोक्ष का साधन मात्र था। इसलिए भारतीय दर्शन मे सशयवादी या सदेहवादी विचारक नही हुए। इसके विपरीत पाश्चात्य दर्शन मे ज्ञान ही अतिम लक्ष्य था। अत स्वाभाविक रूप से पाश्चात्य दार्शनिको ने ज्ञान के साधनो और प्रमाणो के साथ --साथ ज्ञान की सभावनाओ और सीमाओ का भी विशेष रूप से चिन्तन किया।

ज्ञानमीमासा के विभिन्न दृष्टिकोण निम्न तालिका से और भी स्पष्ट हो जाते है

ज्ञान मीमासा
(Epistemology)

	बुद्धिवाद (Rationalism)	अनुभववाद (Empiricism)	समीक्षावार या समन्वयवाद (Criticism)	अन्त प्रज्ञावाद (Intuitionism)
स्वरूप (Nature)	ज्ञान का स्वरूप बोद्धिक है। ज्ञान जन्मजात प्रत्यायो के रूप मे बुद्धि मे निहित होता है।	ज्ञान का स्वरूप अनुभवात्मक है। ज्ञान अनुभवार्जित है जो इन्द्रियो से प्राप्त सवेदना से बनता है। और स्वसवेदना से बनता है।	ज्ञान का स्वरूप समन्वयात्मक है बौद्धिक भी और अनुभवात्मक भी। जन्मजात भी और अनुभवार्जित भी।	ज्ञान का स्वरूप आध्यात्मिक है।
स्त्रोत (Source)	ज्ञान का स्त्रोत बुद्धि है।	ज्ञान जन्मजात नही है। ज्ञान का स्त्रोत इन्द्रिय अनुभव है।	ज्ञान का स्त्रेत बुद्धि और इन्द्रिय अनुभव दोनो है।	ज्ञान का स्त्रोत अन्त करण है।
सीमा (Limits)	मानवीय बुद्धि ही ज्ञान की सीमा है। जहॉ बुद्धि या तर्कणा से नही पहुँचा जा सकता उसका ज्ञान भी सम्भव नही।	ज्ञान अनुभव से ही प्रारम्भ होता है और अनुभव मे ही इसका अन्त हे। अनुभव की समाप्ति से ही ज्ञान की समाप्ति हो जाती है। ज्ञान की सीमा इन्द्रियानुभव मे ही है।	मानवीय बुद्धि और इन्द्रियानुभव की सीमा ही ज्ञान की सीमा हे। कोई ऐसा ज्ञान असभव है जिसे मानवीय बुद्धि और अनुभव प्राप्त न कर सके	मानवीय बुद्धि ओर अनुभव दोनो सीमित है किन्तु आत्मा या अन्त कारण असीम अनादि और अनन्त है। अन्त करण मे प्राप्त ज्ञान असीम ह

1 6(स) मूल्य-मीमासा (Axiology)

मूल्य सम्बन्धी तात्विक एवं सामान्य प्रश्नो पर विचार मूल्य-मीमासा कहलाता है। दर्शन परम सत्ता या परम तत्त्व को जानने का एक प्रयास है। इस परम तत्त्व के अस्तित्व सम्बन्धी प्रश्नो पर विचार या अस्तित्व-पक्ष तत्त्व-मीमासा है। ज्ञान सम्बन्धी प्रश्नो पर विचार या ज्ञान पक्ष ज्ञान-मीमासा। इसी प्रकार परम सत्ता के मूल्य सम्बन्धी प्रश्नो पर विचार या मूल्य पक्ष मूल्य मीमासा है। मूल्य क्या है? मूल्यो का क्या स्वरूप है? मूल्यो का मापदण्ड क्या है? किस आधार पर किसी कार्य या वस्तु को मूल्यवान या मूल्यहीन कहा जाता है? विभिन्न वस्तुओ या कार्यो मे मूल्य पृथक पृथक है या कोई परम मूल्य है? यदि परम मूल्य कोई है तो उसका स्वरूप क्या है? इत्यादि। यही मूल्य मीमासा के प्रमुख प्रश्न है। मूल्य मीमासा मे विचारक मूल्य के सम्बन्ध मे एक समग्र दृष्टिकोण उपस्थित करता है। मूल्य मीमासा का विषय मूल्य विशेष न होकर मूल्य सामान्य होता है। जिसे अंग्रेजी मे Value as such कहा जाता है। अर्थात मूल्य मीमासा किसी कार्य का मूल्य विशेष परिस्थिति या विशेष देशकाल मे नही ऑकती बल्कि सामान्य परिस्थितियो मे, सभी देश काल मे उसका मूल्यांकन करती है।

मूल्य-मीमासा की दो प्रमुख शाखाये है-

(1) नीति-मीमासा (Ethics) और

(2) सौन्दर्य- मीमासा (Aesthetics)

1 नीति-मीमासा (Ethics)

मनुष्य अन्य जीवधारियो से श्रेष्ठ एक बौद्धिक विवेकशील और नैतिक प्राणी है। नैतिक प्राणी के रूप मे उचित अनुचित शुभ-अशुभ, कर्तव्य अकर्तव्य पाप-पुण्य, की भावनाये उसके स्वाभाविक गुण है इसे ही व्यक्ति की नैतिक चेतना कहते है। दैनिक जीवन मे हम प्राय एक दूसरे के कार्य व्यापारो पर उचित और अनुचित का निर्णय देते है। यद्यपि हमारे यह नैतिक निर्णय भिन्न-भिन्न

दशाओं मे भिन्न-भिन्न होते है। एक ही व्यक्ति एक दशा मे सत्य बोलने दिया। । करने को पुण्य कहता है और दूसरी दशा मे पाप। एक ही कार्य एक दशा मे उचित कहलाता है दूसरे मे अनुचित। नीति-मीमासा नैतिकता की औचित्य अनौचित्य की युक्तिसगत व्याख्या करती है। नीति मीमासक इस कार्य के लिए नैतिकता के प्रतिमान (Criteria) स्थापित करते है। इस आदर्श के अनुकूल कार्य को उचित या कर्तव्य कहते है और प्रतिकूल कार्य को अनुचित या अकर्तव्य।

नीति शास्त्र को अग्रेजी मे एथिक्स (Ethics) कहते है। एथिक्स शब्द ग्रीक के एथोस (Ethos) से लिया गया है जिसका अर्थ है चरित्र। इस प्रकार 'एथिक्स' चरित्र का विज्ञान है। एथिक्स का अग्रेजी पर्यायवाची मोरल फिलासफी' (Moral Philosophy) भी है। मोरल' शब्द लेटिन भाषा के मोर्स (Mores) से लिया गया है जिसका अर्थ है रीति रिवाज या अभ्यास। इस प्रकार मोरल फिलासफी रीतिरिवाज प्रचलन या अभ्यास का दर्शन है। आदते और व्यवहार मनुष्य के चरित्र की अभ्यासगत विशेषताओ या स्थायी विशेषताओ से सम्बधित है। आचार या व्यवहार मनुष्य के चरित्र का दर्पण है। इस प्रकार नीतिशास्त्र आदत या चरित्र का शास्त्र है और मनुष्य के चरित्र या आदतो का मूल्याकन करके उनमे उचित अनुचित का विवेचन करता है।

नीति शास्त्र नैतिक निर्णयो से सम्बन्धित विवेचन है। ये नैतिक निर्णय नैतिक मूल्यो के सूचक है। ये नैतिक मूल्य व्यक्ति विशेष या परिस्थिति विशेष के सापेक्ष नही बल्कि निरपेक्ष है। जो सत है वह निरपेक्ष रूप से सार्वभौमिक या सर्वव्यापी सत् है वह परम सत् है। मूल्य' इसी परम सत का महत्व-पक्ष है। परम सत् निरपेक्ष है अत मूल्य भी निरपेक्ष सार्वभौमिक या सर्वव्यापी होना चाहिये।

2. सौन्दर्य-मीमासा (Aesthetics)

नीति मीमासा मानव की नैतिक चेतना शुभ-अशुभ उचित-अनुचित की मीमासा है। उसी प्रकार सौन्दर्य मीमासा मानव की सौन्दर्यानुभूति, सुन्दर- असुन्दर की मीमासा है। सौन्दर्य क्या है ? सौन्दर्य का स्वरूप क्या है ? इसका मापदण्ड क्या है ? किस आधार पर किसी वस्तु को सुन्दर या

असुन्दर कहा जाता है ? क्या हमारे सुन्दर या असुन्दर सम्बन्धी निर्णयो का कोई युक्तिसंगत आधार है ? दैनिक जीवन मे हम प्राय प्रत्येक वस्तु या व्यक्ति के लिए सौन्दर्य सम्बन्धी अपने निर्णय देते रहते है। यद्यपि हमारे सौन्दर्य सम्बन्धी मूल्य या निर्णय भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे या देश कालो मे बदलते रहते है। विभिन्न प्रकार की वस्तुओ या विभिन्न व्यक्तिओ मे एक को जो वस्तु या व्यक्ति सुन्दर लगता है दूसरे को वह सुन्दर नही लगता। कई बार एक ही व्यक्ति जो वर्तमान मे सुन्दर लगता है परिस्थितियो एव देशकाल के परिवर्तित होने पर सुन्दर नहीं लगता। तब क्या सौन्दर्य की कोई सर्वमान्य सार्वभौमिक बुद्धिसंगत व्याख्या संभव नही है ? क्या सौन्दर्य सम्बन्धी मूल्य परिवर्तनशील है ? अथवा क्या सौन्दर्य का कोई सामान्य धर्म या गुण है जो सौन्दर्य का हेतु या आधार है ?

सौन्दर्य मीमांसा का एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न सौन्दर्य का सत्य और शिव से सम्बन्ध को लेकर है। क्या सत्य, शिव और सुन्दर मे कोई आवश्यक सम्बन्ध है ? क्या सुन्दर का सत्य होना आवश्यक है या असत्य भी सुन्दर हो सकता है ? क्या सुन्दर मे शिव अर्थात् कल्याणकारी होना भी निहित है अथवा अकल्याणकारी भी सुन्दर होता है। सुन्दर के साथ सत्य और शिव यानी कल्याणकारी की विवेचना सौन्दर्य मीमांसा की महत्वपूर्ण विवेचना है।

नैतिक मूल्यो कि भांति सौन्दर्यात्मक मूल्य भी व्यक्तिगत या देशकाल सापेक्ष नही । सौन्दर्यात्मक मूल्य भी सार्वभौमिक एव निरपेक्ष है क्योकि नैतिक मूल्यो की तरह ये भी परम सत् के मूल्य पक्ष या महत्व पक्ष के अग है।

नैतिकता, सत्य और सौन्दर्य

मूल्य मीमांसा के अन्तर्गत नैतिकता और सौन्दर्य के मूल्यो के अतिरिक्त एक अन्य महत्वपूर्ण मूल्य 'सत्य' भी है। भारतीय दर्शन मे जीवन का परम लक्ष्य 'सत्य, शिव और सुन्दर' के परम मूल्यो की प्राप्ति मे माना गया है। इनमे 'सुन्दर' का सम्बन्ध मूल्य मीमांसा की शाखा सौन्दर्य मीमासा से और 'शिव' का सम्बन्ध मूल्य मीमासा की शाखा नीति मीमासा से है। उल्लेखनीय है कि यहाँ शिव

का तात्पर्य भगवान शिव शकर से नही है बल्कि शिव का अर्थ है कल्याणकारी। 'सत्य' का सम्बन्ध दर्शन की महत्वपूर्ण शाखा तर्क शास्त्र से है। तर्कशास्त्र अब अत्यधिक विकसित हो जाने के कारण एक पृथक विषय के रूप मे जाना जाने लगा है। इसीलिये उसका उल्लेख मूल्यमीमांसा के अन्तर्गत न करके इसी अध्याय मे आगे दर्शन की एक पृथक शाखा के रूप मे किया गया है।

1 7 दर्शन की अन्य शाखाये या क्षेत्र

दर्शन की उपरोक्त प्रमुख तीन शाखाओ के अतिरिक्त दर्शन की अन्य शाखाये भी है। वस्तुत ज्ञान की प्रत्येक शाखा का एक दार्शनिक पक्ष होता है। ज्ञान की इन विभिन्न शाखाओ अर्थात् विभिन्न विज्ञानो के ये ही दार्शनिक पक्ष दर्शन की विभिन्न शाखाओ के रूप मे जाने जाते है जिनमे मुख्य इस प्रकार है -

1 **धर्म दर्शन** (Philosophy of Religion)

2 **समाज दर्शन** (Social Philosophy)

3 **शब्द विज्ञान** (Semantics)

4 **तर्क शास्त्र** (Logic)

5 **राजनीति दर्शन** (Political Philosophy)

6 **अर्थशास्त्र का दर्शन** (Philosophy of Economics)

7 **इतिहास का दर्शन** (Philosophy of History)

8 **शिक्षा दर्शन** (Philosophy of Education)

9 **विज्ञान का दर्शन** (Philosophy of Science)

दर्शन की इन विभिन्न शाखाओ या समस्याओ के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि दार्शनिक केवल जीवन और जगत के अनसुलझे प्रश्नो या समस्याओ को हल करने का उद्देश्य लेकर ही नही चलता वरन हमारे सामाजिक राजनैतिक धार्मिक और नैतिक जीवन को हमारे विश्वासो और सहजात प्रवृत्तियो की दार्शनिक परीक्षा करता है उनका मूल्याकन करता है और भविष्य का दिशानिर्देश देता है इस प्रकार जीवन के हर पहलू पर ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र मे दार्शनिक पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है। यथार्थत दर्शन मानव समाज के आगे चलने वाली मशाल है।

अध्याय 2

मानव मूल्य की अवधारणा और उसका दार्शनिक परिप्रेक्ष्य

मानव मूल्य के अन्तर्गत सर्वप्रथम मानव शब्द विचारणीय है। मानव विचारशील एव बुद्धियुक्त होने के कारण सभी जीवो मे श्रेष्ठ है। मनु ने भी मनुस्मृति मे यही बात लिखी है—

'भूताना प्राणिन श्रेष्ठा, प्राणिना बुद्धि जीविन ,

बुद्धिजीविनस्तु नरा श्रेष्ठा ।।"[1]

अर्थात जड वृक्षादि से प्राणि श्रेष्ठ उसमे बुद्धिपूर्वक जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार सृष्टि मे मनुष्य की श्रेष्ठता सर्वमान्य एव स्वय सिद्ध है। अग्रेजी मे भी इस बात की पुष्टि की गई है -Man is the crown of the creation

मानव" शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत मे इस प्रकार की गई है- मनोरपत्य पुमान् मानव। अर्थात् मनु के अपत्य के अर्थ मे मनु शब्द से अण् प्रत्यय लगाकर शब्द निष्पन्न हुआ।

यास्क ने निरुक्त मे मनुष्य का लक्षण बताते हुए लिखा है

"मत्वा कर्माणि सीव्यति इति मनुष्य "

अर्थात् जो ज्ञान एव बुद्धि के द्वारा मनन करके अपने कर्मो का ताना-बाना बुनता है वही मानव" है। वास्तव मे आहार निद्रा भय मैथुन आदि तो पशुओ मे भी मनुष्य के समान होता है परन्तु उनका धर्म (नियम) पूर्वक पालन करने वाला ही 'मानव' है।

इस प्रकार जो पहले सोचता है विवेकनिष्ठ होकर स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय लेता है, फिर कार्य करता है वही मानव' है[1] तात्पर्य यह है कि विचारशील प्राणी होने के कारण मानव यह सोचता है

---

1 मनुस्मृति ' 1196

कि क्या अच्छा है और क्या बुरा है, क्या शुभ है और क्या अशुभ है। इसी शुभ तथा अशुभ और अच्छाई एवं बुराई के द्वन्द्वात्मक-अन्तराल से मूल्य शब्द प्रादुर्भूत हुआ है।[1]

2 1 मूल्य का प्रत्यय अतिशय व्यापक एवं अर्थवान है

मानव जीवन में मूल्यों का प्रसार किसी भी दार्शनिक या दार्शनिक सम्प्रदाय से अधिक व्यापक और महत्वपूर्ण है। मानव-जीवन निम्नतर जीवों की तरह एक नियत प्रवृत्ति चक्र से बंधा नहीं है। मनुष्य चेतन रूप से किन्हीं साध्यों की प्राप्ति के लिए कर्म-प्रवृत्त होता है। मनुष्य अपने साध्य का पूर्वज्ञान ही नहीं रखता बल्कि इसके प्रति सतत् जागरुक भी रहता है। आत्मबोध की अद्भुत प्राकृतिक देन मनुष्य को अपने विचारों भावनाओं और क्रियाओं के मूल्यांकन में प्रवृत्त करती है।[2] आत्मबोध का विकास मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों को समायोजित करता है और वह प्राकृत विषयों के अन्तराल से आदर्श विषयों की खोज करता है। आदर्श विषयों की यह खोज ही मूल्यान्वेषण है। इस प्रकार मूल्य विकासशील मानव-जीवन के लक्ष्य और उपलब्धि है।[3] भारतीय दर्शन प्रारम्भ से ही दार्शनिक चिंतन में मूल्यों को अनन्य स्थान देता आया है। उदाहरणार्थ उपनिषदों में जीवन के चरम लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधनों की विस्तृत चर्चा मिलती है। प्राचीन भारतीय विचारकों ने मानव जीवन को आध्यात्मिक नैतिक एवं भौतिक दृष्टि से उन्नत करने के लिए पुरुषार्थ नाम से अपने दार्शनिक विचारों की नियोजना की थी।[4] किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि प्राचीन भारतीय विचारक मूल्यों को दर्शन की एक शाखा विशेष या किसी विषय-वस्तु के रूप में लेते हैं। मूल्य उनके दार्शनिक चिंतन-मनन का केन्द्रीय तत्व है इससे उन्हें दार्शनिक चिंतन की प्रेरणा मिलती है। इस

---

1 एतनीय जानाति इच्छति भवति।

2 प्रो० हिरियन्ना एम० इण्डियन कान्सेप्शन्स आफ वैल्यूज (1975) काव्यालय पब्लीशर्स मैसूर पृ० 7

3 पाण्डेय जी०सी० मूल्य मीमांसा रा०हि०ग्र०अ० जयपुर 1973 पृ० 30

4 मिश्र जयशंकर प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास 1971 पृ० 107

सारस्वरूप ही मूल्य है।[1] जिसका बोध एकान्तिक और आत्यान्तिक तृप्ति का हेतु हो। मानवी अभिलाषा के यही विषय पारमार्थिक-मूल्य कहे जाते है। इस प्रकार पारमार्थिक मूल्यो की सिद्धि सभी विशेषात्मक मूल्यो के तात्विक आधार एव खड-मूल्यबोध की पूर्वपीठिका के रूप मे की गयी है। पारमार्थिक-मूल्य डा० राधाकृष्णन के शब्दो मे समग्र अनुभूति है"।

2 2 मूल्य-अर्थ एव परिभाषाए

वस्तुत मूल्य" शब्द जितना सक्षिप्त तथा सरल होता है मानवीय सदर्भ मे उसकी व्याख्या उतनी ही कठिन है क्योकि विभिन्न सन्दर्भो मे इस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थो मे होता है। सुविख्यात सस्कृत के विद्वान श्री शिवराम वामन आप्टे के अनुसार—

> "नपुसक लिग सज्ञा शब्द "मूल्यम्" का अर्थ "कीमत", "मोल", "लागत", होता है। विशेषण के रूप मे "मूल्य" शब्द का अर्थ "मोल लेने योग्य" होता है।"[2]

हिन्दी साहित्य–कोश ' के अनुसार—

"मनुष्य चूँकि पहले व्यक्ति है, इकाई है, उसके अपने कुछ सम्बन्ध होते है, परन्तु व्यक्ति-मनुष्य एक महत्तर मानव-समाज का, परिवार, नगर, प्रदेश, प्रात, राष्ट्र या ससार का सदस्य, नागरिक, सामाजिक विशेष होकर सामान्य अग भी है। अत उसके प्रत्येक विचार, कर्म और कल्पना मे "मूल्य" का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है। इन विविध मूल्यो के (सघर्ष के) बाद भी एक बडा मूल्य बचा रहता है, जो एक प्रकार से इन सब का सार है और वह है मानव-मूल्य।"[3]

---

1 प्रो० पाण्डेय जी०सी० मूल्य मीमासा रा०हि०ग्र०अ० 1973 पृ० 254-257

2 सस्कृत हिन्दी कोष - वामन शिवराम आप्टे

3 हिन्दी साहित्य कोष

किसी वस्तु का मूल्य इसलिए दिया जाता है कि उसम व्यक्ति अथवा समाज की आवश्यकता को पूर्ण करन की शक्ति हाती है। समाज द्वारा उसकी गुण-ग्राहकता मान्य होती हे अतएव कहा जा सकता है कि कोई भी वस्तु जो व्यक्ति और समाज के लिए उपयोगी हो - मूल्य रखती है। जीवन को उत्कर्षोन्मुख अथवा प्रगतिगामी बनाने के लिए ही मूल्य की आवश्यकता प्रतीत हुई। डा० हुकुमचन्द्र का अभिमत एतद्दृष्टया उल्लेख्य हे **''जीवन को सम्यक् एव सयमित ढग से चलाने के लिए विचारको ने ऐसा अनुभव किया कि जीवन के लिए कुछ मापदण्ड चाहिए। उन्हीं के आधार पर मूल्यो की बात की जाने लगी।** वस्तुत मूल्य व्यक्ति द्वारा उच्चादर्शों की प्राप्ति के व साधन हे जो जीवनोत्कर्ष क लिए अनिवार्य है।

चेतना तथा धारणा की भॉति मूल्य'' भी अमूर्त है ओर अमूर्त को शब्दो मे बॉधना दुष्साध्य होता है। **अतएव कहा जा सकता है कि - मूल्य एक ऐसी वस्तु हे, जिसको पूर्णतया परिभाषित नहीं किया जा सकता है।**

वस्तुत 'मूल्य'' शब्द अर्थशास्त्रीय शब्द है। अर्थशास्त्र मे किसी वस्तु की क्रय-शक्ति, विपणन-शक्ति अथवा अर्घ्य-शक्ति को ''मूल्य'' कहा जाता है। इस सन्दर्भ मे डॉ० नगेन्द्र ने लिखा हे- मानदण्ड ओर मूल्य आदि शब्द मूलत साहित्य के शब्द नही हे। पाश्चात्य आलोचना मे भी इनका समावश अर्थशास्त्र अथवा वाणिज्य से किया गया है।'

तात्पर्य यह हुआ कि अर्थशास्त्रीय दृष्टि से किसी वस्तु की क्रय-शक्ति'' मूल्य कहलाती है। इस क्रय-शक्ति का आकलन वस्तु की उपयोगिता अथवा उसके उत्पादन-व्यय के आधार पर होता है।

नीतिशास्त्रीय दृष्टि से मूल्य का अर्थ मानवीय क्रियाओ मे ''अच्छाई'' या ''बुराई' से होता है। नीतिशास्त्र मे मूल्यो'' की मीमासा मे ''शुभ'' तथा 'अशुभ'' मूल्यो पर विचार होता है। कुछ विचारको के अनुसार सर्व-सम्मत एव सर्व-व्यापक मूल्य-निर्धारण असम्भव है। डॉ० सगम लाल पाण्डेय का मत इस सदर्भ मे उल्लेखनीय है- ''कहीं मूल्य सुख-दुखो पर आधारित होता है तो कही सह इच्छा (desire) का विषय है। **''कहीं पर यह भावना (Feelings) से सम्बद्ध है, तो कहीं यह रुचि**

(Interest) का विषय है, कहीं यह मूल्याकन का आधार है, कहीं यह सत्य के रुप मे है तो कहीं यह श्रेय के रुप मे।[1] इसीलिए मूल्य' पूर्णत स्पष्ट नही हो पाता यथार्थत मूल्य और कुछ नही व्यक्ति के द्वारा सत-गन्तव्य को प्राप्त करने के मानदण्ड है जो जीवन को सत्पथ की ओर अग्रसारित करते है। डा० हुकुम चन्द्र ने ठीक ही कहा है कि- **"उन्हे ही जीवन का मूल्य माना जाना चाहिए, जिनसे मानव का उत्कर्ष सभव हो।"[2]**

निष्कर्षत हम कह सकते है कि मूल्य मानव जीवन के उच्चादर्श अथवा आधार-स्तम्भ है जिनके ऊपर मानव का अस्तित्व प्रतिष्ठित है और जो मानव-जीवन को प्रगतिगामी बनाते है। हमारे भारतीय विद्वानो एव पाश्चात्य मनीषियो ने अनेक दृष्टियो से विविध दिशाओ मे मूल्यो के सम्बन्ध म पर्याप्त विचार-विमर्श किया है। सर्वप्रथम हम मानव-मूल्य क सन्दर्भ मे प्राचीन भारतीय मनीषियो के विचारो को विश्लेषित करेंगे।

2 2(अ) मूल्य प्राचीन भारतीय मनीषियो की दृष्टि

मानव-जीवन के वास्तविक लक्ष्य एव स्वरुप के विषय मे विश्व मे मूल रुप स दो पारस्परिक विरोधी विचार-धाराये दृष्टिगोचर होती है। पहली विचारधारा ससार को नश्वर तथा क्षणभगुर मानती है और क्षण-भगुर होने के कारण असत्य भी मानती है। अत असत्य विश्व का त्याग कर परम सत्य की खोज मे जीवन व्यतीत करने को कहती है। इसके विरुद्ध दूसरी विचारधारा के मतानुसार जीवन की सार्थकता भोगवाद एव सुखवाद मे है। अत भोगवादी इस जगत को सत्य स्वीकारते हुए प्रत्येक वस्तु के भोग मे जीवन की सफलता बताते है। इन्हे अगोचर, अथवा अज्ञात की खोज मे जीवन-यापन निरर्थक ज्ञात होता हैं। इनके विचारानुसार यथार्थ सत्य तो वर्तमान जीवन है और अधिकाश सुखोपभोग ही जीवन का चरम लक्ष्य है।

---

1 नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण प्रोफेसर सगम लाल पाण्डेय पृ० 303

2 आधुनिक काव्य म नवीन जीवन-मूल्य डॉ० हुकुम चन्द्र पृ० 293

सनातन भारतीय चिन्तनधारा मे दोनो दृष्टिकोणो का समुचित सामजस्य है। इनके अनुसार जीवन-सरिता के दो तट है -

1 आध्यात्मिक, तथा 2 भौतिक – (पारलौकिक तथा इहलौकिक)

दोनो मे मूलत कोई स्थायी अन्तर नही है। सासारिक सत्य के मार्ग द्वारा ही शाश्वत सत्य की प्राप्ति वाछनीय है। वस्तुत दोनो अभिन्न है। दोनो के समन्वय मे ही मानव-जीवन की सार्थकता तथा पूर्णता है। इन दोना के समन्वित रुप को भारतीय चितन-परपरा मे 'पुरुषार्थ'' कहा गया है।[1] इसमे भौतिक सुख के अतर्गत अर्थ एव काम है तथा आध्यत्मिक-सुख के अतर्गत धर्म एव मोक्ष। अर्थ एव काम मानवेच्छा के सहज विषय है और धर्म एव मोक्ष मानवेच्छा के उचित एव आदर्श विषय है।[2] पुरुषार्थ-नियोजित मनुष्य धर्मानुकूल भौतिक या दुनियावी सुखोपभोग करता हुआ जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष की ओर अग्रसित होता है वस्तुत पुरुषार्थ व्यक्ति के सर्वागीण विकास का मार्ग प्रस्तुत करता है,जिसका अनुगमन करते हुए मनुष्य स्वय के लिए जीते हुए भी समष्टिगत मूल्यो का सधान करता है। हमारे प्राचीन भारतीय चिन्तको ने 'पुरुषार्थ'' को जीवन-मूल्यो का पर्याय माना है। पुरुषार्थ का कोशगत अर्थ प्रयत्न, प्रयास, पराक्रम आदि है किन्तु भारतीय जीवन-दर्शन मे यह पुरुषार्थ रुढि सा हो गया है। भारतीय विचारको के अनुसार जीवन के चार पुरुषार्थ या लक्ष्य (मूल्य) है - धर्म, अर्थ काम और मोक्ष

इनमे 'मोक्ष'' जीवन का परम मूल्य है। **"पुरुषार्थ वस्तुत एक साधना है, जिसमे धर्म के आधार पर ''अर्थ'' तथा ''काम'' (इहलौकिक जीवन) की साधना करते हुए, पारलौकिक जीवन को साधने का प्रयास है।"**

---

1 डा० मिश्र, जय शकर-प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास बि० हि० ग्र० अ० पटअना 1980 पृ० 237-239

2 डा० हिरियन्ना, एम०-इडियन कान्सेप्शन आफ वैल्यूज काव्यालय पब्लिशर्स, मैसूर (1975), पृ० 15-16

इस प्रकार मानव-जीवन के चार प्रमुख साध्य धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष ही पुरुषार्थ है। इनके द्वारा इहलोक एव परलाक दोनो के सुखो की प्राप्ति सम्भव हे दूसरे शब्दो मे मानव जीवन का उद्देश्य इन्ही पुरुषार्थो (मूल्यो) को प्राप्त करना है।

2 2(ब) धर्म-अर्थ और अभिप्राय—

धर्म'' पहला पुरुषार्थ हे। सस्कृत भाषा के शब्दकोषो मे धर्म'' के अनेक अर्थ मिलते है। 'अमरकोश' मे धर्म शब्द का अर्थ - सुकृत पुण्य, यमराज न्याय, आचार आदि दिया गया है। व्याकरण के अनुसार 'धर्म' शब्द धृन' (धारणे) धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ हे - धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजा। यत्स्याद्धारणसयुक्त स धर्म इति निश्चय ।।[1] अर्थात् जो धारण करे वह धर्म हे। इस प्रकार 'धर्म'' का वास्तविक अर्थ हुआ - ''जो मानव-जीवन को धारण करे, वह धर्म है। इस प्रकार धर्म इहलोकिक तथा पारलौकिक जीवन का सयोजक कहा जा सकता है। धर्म' के विषय मे अनेक विद्वानो ने विभिन्न विचार व्यक्त किये है। डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार- **''धर्म परम मूल्यो मे विश्वास और उन मूल्यो को उपलब्ध करने के लिए जीवन की एक पद्वति का प्रतीक है।''**[2] इस प्रकार धर्म' परम मूल्यो मे आस्था और जीवन की एक पद्वति है। श्री पी०वी० काणे (P V Kane) ने लिखा है **-''धर्म से उनका अभिप्राय किसी विशेष ईश्वरीय मत से नहीं, बल्कि जीवन के तरीके या आचरण की एक सहिता से है।''**[3] श्री काणे महोदय ने भी ''धर्म'' को जीवन या आचरण की एक सहिता कहा है। ''मनुस्मृति'' मे धर्म के दश लक्षण बताये गए है-

''धृति क्षमा दमोडस्तेय शौचमिन्द्रिय निग्रह ।

''धीर्विद्या सत्यमक्रोधो, दशक धर्म लक्षणम्।।''

---

1 महाभारत कर्णपर्व 109 58

2 धर्म और समाज डॉ० राधाकृष्णन पृ० 175 (हिन्दी अनुवाद)

3 धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-1 पी०वी० काणे, पृ० -8

अर्थात् धेर्य क्षमा इच्छाओ का दमन चोरी न कराना पवित्रता इन्द्रिय-निग्रह बुद्धि विद्या सत्य क्रोध न करना - ये धर्म के दश लक्षण है।

धर्म नेतिक मूल्यो का आविर्भावक (उत्पादक) हे। धर्म के कारण ही मनुष्य सृष्टि के अन्य जीवो - पशु-पक्षियो आदि से श्रेष्ठतर कहा गया है-

''आहार निद्रा भय मैथुन च, सामान्यमेतद् पशुर्भिसमाना ।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीना पशुर्भिसमाना।।''[1]

अस्तु निष्कर्षत धर्म'' एक श्रेष्ठ मानव-मूल्य है। यही मानव-मर्यादा का सस्थापक एव नियामक हे। इसके पालन रा व्यक्ति तथा समाज मे सन्तुलन स्थापित होता है। आधुनिकता के सन्दर्भ मे धर्म कर्तव्य का पर्याय माना गया है। इस प्रकार धर्म'' विशिष्ट कर्तव्यो का बोधक सिद्ध होता हे।

2 2(स) अर्थ - अभिप्राय एव परिचय

पुरुषार्थ-चतुष्टय ' मे 'अर्थ'' द्वितीय पुरुषार्थ माना गया है। इसका सामान्यत अर्थ भौतिक सुखो एव आवश्यकताओ की साधनभूत सामग्रियो की पूर्ति करना है। इसके द्वारा मनुष्य इहलौकिक एषणाओ (आकाक्षाओ) की पूर्ति करता है। ''महाभारत'' मे लिखा है कि—''अर्थ सर्वजगन्मूलम्'' अर्थात् धन सम्पूर्ण ससार की जड है। प्रकारान्तर रो अर्थ (धन) सम्पूर्ण सासारिक क्रिया-कलापो की धुरी है। चाणक्य ने तो 'अर्थ'' की महत्ता यहॉ तक वर्णित की है कि-अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्य । अर्थमूलो हि धर्म कामाणिते।[2] इतना ही नही **''अर्थो हि लोके पुरुषस्यबन्धु ''** अर्थात् ससार मे धन ही पुरुष का भाई है।

---

1 भर्तहरि नीतिशतकम

2 अर्थशास्त्र । 70/10-11

वर्तमान-युग मे ता अर्थ का मूल्य दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक बढता चला जा रहा हे। इसे अर्थ-युग की सज्ञा दी जा सकती हे। सस्कृत का अधोलिखित श्लोक वर्तमान-युग मे अक्षरश चरितार्थ हो रहा हे —

''यस्यास्ति वित्त स नर कुलीन , स पण्डित श्रुतवान गुणज्ञ ।

स एव वक्ता, स च दर्शनीय , सर्वेगुणा कान्चनमाश्रयन्ति।।''[1]

इतना ही नही पचतन्त्र हितोपदेश एव [illegible] आदि सस्कृत ग्रन्थो मे भी अर्थ ' की अत्यधिक महत्ता प्रतिपादित की गई हे। डॉ० गोपाल ने अर्थ'' को परिभाषित करते हुए लिखा हे-' **''अर्थ शब्द धन, सम्पत्ति, अथवा मुद्रा का पर्यायवाची नहीं है। यह भौतिक सुखो की सभी आवश्यकताओ और साधनो का द्योतक है।''[2]** डॉ० कापडिया के मतानुसार— **''मानव मे प्राप्त करने की प्रवृत्ति का तुष्टिकरण ही ''अर्थ'' है। xxxx वस्तुत अर्थ शब्द सफलता, सौभाग्य एव समृद्धि की खोज का व्यजक है।''[3]** इस प्रकार 'अर्थ'' मानवीय इच्छा की पूर्त्ति का सर्वोत्तम साधन हे। इससे सुखोपलब्धि होती है। किन्तु 'कठोपनिषद्'' मे नचिकेता ने यमराज से कहा है— 'न हि वित्तेन सर्पणीयो मनुष्य अर्थात् मनुष्य धन से तृप्त नही किया जा सकता। अन्तत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हे कि ''अर्थ ' पुरुषार्थ की जहॉ महत्ता वर्णित है, वही इसकी निन्दा भी की गई है, यथा अर्थातुरोना गुरुर्नबन्धु'' अर्थात् धनातुर व्यक्ति न गुरु का ध्यान रखता है और न भाई-बन्धुओ का। 'अर्थोपार्जन ' या धन-सग्रह वही श्रेयस्कर माना गया है, जो धर्मोन्मुख होकर किया जाय। वर्तमान-युग मे तो 'अर्थ'' की महत्ता सर्वोपरि हो गई है।

---

1 नीतिशत्र्क-42

2 डॉ० गोपान भारतीय सामाजिक सस्थाये पृ० 27 मम ,

3 डॉ० के० एम० कापडिया-भारतवर्ष मे विवाह एव परिवार [illegible]

काम-अर्थ एव परिचय

काम ' तृतीय पुरुषार्थ है। सकुचित अर्थ मे' काम मात्र इन्द्रिय-सुख योन-इच्छा की सन्तुष्टि हे किन्तु व्यापक अर्थ मे यह मानव की सारी इच्छाओ एव कामनाओ का प्रतीक है। इस अर्थ मे व्यावहारिक जीवन मे जा भी वॉछनीय ओर प्रेयस है वह सब काम है । अग्रेज कवि कालरिज के अनुरार समस्त देहिक स्पदन मानसिक भाव एव विचार कामदेव के अग्निहोत्र के होमद्रव्य है।[1] कोशग्रन्था म काम के विभिन्न अर्थ दिये गए है। आप्टे महोदय ने काम शब्द के विभिन्न अर्थ दिये हे- 'अभिलाषा इच्छा (एषणा) अभिलाषा-पात्र अनुराग तथा प्रेम ' आदि।

वास्तविक रूप से 'काम'' इस सृष्टि का मूल कारण है। वेदो उपनिषदो पुराणो तथा दर्शनो मे काम ' का महत्व वर्णित है। आचार्य वात्स्यायन के अनुसार- **''पंचेन्द्रियो (कान, त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथा नासिका का स्वेच्छानुसार अपने-अपने विषयो मे सलग्न होना ''काम'' है।''**[2] वैदिक मान्यताओ के अनुसार ''काम'' भाव रो ही सृष्टि उत्पन्न हुई- 'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। अर्थात् अकेले प्रजापति ने सृष्टि-सरचना की इच्छा से प्रेरित होकर स्वय को दो भागो मे विभाजित किया, उसका एक अश नारी रूप मे ओर दूसरा अश पुरुष रूप मे प्रकट हुआ। अतएव प्रकृति तथा पुरुष की काम-भावना से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई। डॉ० गोपाल के अनुसार **''काम इन्द्रियो के सम्पर्क से जनित सुख को कहते है।''** ''गीता'' मे श्रीकृष्ण ने ''काम'' के महत्व को धर्म के अविरोधी रूप मे स्वीकारा है, **धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोडस्मि-भरतर्षभ।''** भर्तृहरि के अनुसार' जब एकाक्ष, खज, पुच्छ-कर्ण-रहित, भुखमरा जराजीर्ण श्वान भी मदन-प्रेरित होकर श्वानी का अनुगमन करता हे तो हृष्ट-पुष्ट स्वस्थ सर्वागशील मानव की बात ही क्या ? श्रृगार-शतक के रचयिता के अनुसार काम-वासना

---

1 All thoughts all Passions, all delights, whatever stirs this martal frame,

All are but minsters of Love and feed his sacred flame

पर पूर्ण विजय प्राप्त करना वेसे ही दुष्कर हे जैसे विन्ध्य-पर्वत का तैरकर समुद्र पार करना।[1] महाकवि एव विद्वानश्री जयशकर प्रसाद जी ने अपनी 'कामायनी' मे काम एक पृथक सर्ग रखा हे। कामायनी काम की पुत्री है। काम अशरीरी हे। वह काम विश्व-मेत्री लोक-मगल आनन्द आदि की मूल शक्ति हे। प्रसाद जी ने तो काम को सृष्टि का सचालक एव मगलमय कहा है- काम मगल स मडित श्रेय सर्ग इच्छा का हे परिणाम।।' (कामायनी) इस प्रकार इस ससार के लिए काम मूलाधार हे।

आधुनिक युग के महान जर्मन मनोवैज्ञानिक चिकित्सक सिगमण्ड फ्रायड ने वासनाजन्य काम (Lower ICOS) को ही परम पुरुषार्थ माना। फ्रायड के अनुसार समस्त मानव चेष्टाये और क्रियाए जाने-अनजाने इसी से प्रेरित एव प्रभावित है। विश्व मे साहित्य सगीत कला और सद्गुणो का जो भी विकास सभव हुआ हे वह मेथुन्य-काम का ही उदात्त रुप है। किन्तु फ्रायड अतिवादी है ओर परवर्ती मनोवैज्ञानिक दार्शनिको एडलर एव युग ने उसके सिद्धान्तो का खडन एव परिमार्जन किया।

इस प्रकार काम की महत्ता सार्वस्वीकृत है किन्तु इसका एक गर्हित पक्ष भी हे जिसके वशीभूत मानव पशु हो जाता है। वह विवेक-भ्रष्ट एव पतित-कर्म-रत होकर लोक-परलोक दोनो को नष्ट करता है। डा० भगवान दास के अनुसार कामीय ईर्ष्या' से न जाने कितनी स्त्रियो, कितने पुरुषो की हत्या राजमहलो मे की गई है— जहर से, फॉसी से छुरी-तलवार से, बन्दूक-पिस्तौल से, जिन्दा गाड देने ओर दीवार मे चुनवा देने रो अन्त पुर की खिडकियो के नीचे मगरों से भरे तालाबो मे फेक देने से इत्यादि। इतिहास की सूक्ष्मेक्षिका से ऐसे अनेकानेक प्रकरण दृष्टिगत होते है। दैनिक समाचार पत्रो एव अन्य पत्र-पत्रिकाओ मे मैथुनीय ईर्ष्या एव विकृत-काम-भावना के अगणित दृष्टात प्रत्युपस्थित होते है।

---

1 भर्तृहरि - श्रृगार-शतक श्लोक-८० विश्वामित्र पराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना तेडपि स्त्रीमुख पकज सुललित दृष्टेव मोहगता।

शाल्यन्नदधिदुग्धमोघृतयुत ये भुञ्जते मानवा: तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेत् विन्ध्यस्तरेत सागरम्।।

शास्त्रकारो ने काम के प्रबल वेग वशीभूत करने की क्षमता और दुष्ट प्रभाव से समाज को बचाने हतु ब्रह्मचर्य यम नियम और आत्मसयम आदि पर बल दिया और समाजमे सुव्यवस्था एव सतुलन बनाये रखने क लिए उत्तम विवाह-पद्वति और एक पत्नीव्रत तथा पातिव्रत्य की व्यवस्था की और निरोधक रुप म परस्त्री गमन और परपुरुप-समागम को डिसवेल्यू मानकर निषिद्ध घोषित किया तथा शासन द्वारा कठोर दड एव सामाजिक बहिष्कार की व्यवस्था की। इस प्रकार भारतीय चितक काम' के वरेण्य रुप का अनुमोदन करते है। यह वरेण्य रुप मध्यम मार्ग' का आविष्कार है जो गीता मे 'युक्ताहार विहार के रुप मे निरुपित हुआ है।[1] महाकारुणिक भगवान बुद्ध इसे ही मध्यमा प्रतिपत् कहते हे। यही अरस्तू का स्वर्णपथ है। तात्पर्यत, काम सदैव धर्म से अनुप्राणित एव नियाजित होना चाहिए।

2 2(य) मोक्ष चरम मूल्य

चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष' है। इसे मानव-जीवन मे सर्वोच्च महत्व दिया गया है। जीवन के चरम लक्ष्य की खोज भारतीय मनीषा की सहज-स्वाभाविक रुचि रही है। वेदिक विचारो का सपूर्ण विकास इसी-दिशा मे हुआ हे, यही बौद्ध एव जेन धर्मो का गतव्य हे। विविध भारतीय दार्शनिक सिद्वान्तो के सूक्ष्म अवगाहन से विदित होता हे कि सामान्य रुप से भारतीय चिन्तनधारा का झुकाव जीवन के चरमलक्ष्य के सधान एव उसकी उपलब्धि की ओर है। यद्यपि यह झुकाव इतना लचीला है कि मोक्ष स्वरुपत वेविध्यपूर्ण प्रतीत होता है। भारतीय दार्शनिक साहित्य मे मानव जीवन के चरम साध्य को मोक्ष, कैवल्य निर्वाण, अपवर्ग आदि नामो से अभिहित किया गया है। नाम के साथ-साथ इसके स्वरुप को लेकर भी मतभेद है, जो प्राय दर्शन विशेष की मान्यताओ की उपज है। सामान्यत इसके दो अर्थ हे। सकुचित दृष्टि से इसका अर्थ 'जीवन-मुक्ति'' है। इस मुक्ति का तात्पर्य ''मृत्यु के बन्धन से छुटकारा'' पाना ही है परन्तु व्यापक अर्थ मे ''मोक्ष'' का अभिप्राय ''सर्वतोमुखी स्वतन्त्रता'', सभी प्रकार के बन्धनो से रहित हो जाना है। इसी जीवन मे जब जीव भेद-बुद्धि के रहित हो जाता है, तब

मुक्तावस्था' आ जाती हे और 'मुक्तावस्था' आत ही मनुष्य परमानन्द मे लीन हो जाता है। अन्यथा मृत्यु के पश्चात मोक्ष या मुक्ति का कोई अर्थ ही नही रह जाता हे। तत्वज्ञान से नि श्रेयस् की प्राप्ति ही मोक्ष' हे— तत्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमो मोक्ष।[1] इसी तत्वज्ञान को मनुष्य की पूर्णावस्था एव सर्वतोमुखी तृप्ति की दशा कहा गया है। यह आत्यातिक-दु ख का परित्याग है। इस बिन्दु या स्थिति पर मनुष्य तीन सोपानो-धर्म, अर्थ एव काम को पार करके पहुचता है। यह मानव-विकास की चरमावस्था हे। श्री गोरीशकर भटट ने 'मोक्ष को व्याख्यायित करते हुए इसी सन्दर्भ मे अपने विचार व्यक्त किए हे— '' **मोक्ष वह अवस्था है, जहॉ जीव एक ओर ससार के बन्धनो से मुक्त हो जाता हे और दूसरी ओर वह ईश्वर मे लीन हो जाता है। xxx धर्म, अर्थ और काम जीव को समाज मे बॉधते है, लेकिन मोक्ष इनसे छुटकारा दिलाता है। अर्थ और काम सामाजिक है, लेकिन मोक्ष वैयक्तिक।''**[2]

इस प्रकार लेखक का मोक्ष विषयक वक्तव्य युक्ति-सगत ज्ञात होता है क्योकि 'मोक्ष'' का सम्बन्ध व्यक्तिमात्र से हे। इसमे समष्टि के लिए कोई भी स्थान नही है। व्यक्ति समूह या समाज से विलग होकर धर्म अर्थ और काम साधना के बाद ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। वस्तुत मोक्ष से ' आवागमन के बन्धन से मुक्ति'' का अर्थ लेना इसे नितान्त सकुचित कर देना ही है। जीवन-मुक्ति का यथार्थ अर्थ इसी जीवन से सबधित हे। **''जीवन के पश्चात् मोक्ष की बात करना उसे मूल्यो की कोटि से च्युत करना होगा।''**

साख्यशास्त्र मे पुरुष (विवेकशील प्राणी) का सर्वोच्च जीवन-लक्ष्य कैवल्य है। साख्य मत मे जीवन सर्वत्र आधिभौतिक आधिदैविक एव आध्यात्मिक दुखो से आक्रान्त है। इन विविध दुखो की आत्यातिक निवृत्ति ही मोक्ष हे।

साख्यशास्त्र मे 'त्रिगुणातीत'' पद से प्रकृति तथा पुरुष दोनो को स्वतत्र मान कर पुरुष के अकेलेपन, केवलपन या कैवल्य को 'मोक्ष'' माना गया है।

---

1 श्रृगार प्रकाश, पृ० 330

2 गौरीशंकर भट्ट भारत में समाजशास्त्र प्रकृति और सस्कृति, पृ० 261

अद्वेतवादी मोक्षावस्था को आनन्दमय मानते है। इनके अनुसार मोक्ष का अर्थ है- ब्रह्मानुभूति। भारतीय-दर्शनो मे 'मोक्ष' की व्याख्या दो दृष्टिकोणो से की गई है। पहली विचारधारा के अनुसार मृत्यु का ही मोक्ष कहा गया है— ऐसा चार्वाक-दर्शन मानता है। दूसरी विचारधारानुसार दु खो एव आसक्ति के अभाव को मुक्ति स्वीकार किया है- यह मत बोद्ध तथा जैन मतावलम्बी मानते है। यही मत वेदान्तिया एव तर्कशास्त्रियो का भी है

इन समस्त धारणाओ का अवलोकन करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि दु खो के निवारण से वास्तविक आनन्द की प्राप्ति होने पर ही 'मोक्ष' सम्भव है। निष्कर्षत मोक्ष की स्थिति मे सुख-दु ख की बात समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति मे आत्मा निर्विकार एव निरपेक्ष हो जाती है। इस प्रकार हम कह सकते है कि मोक्ष" जीवन का सर्वोच्च एव अन्तिम साध्य अथवा मूल्य है। आचार्य शकर के अनुसार यह दार्शनिक निकायो मे समस्त साधनो का सफलीभूत होना है, मानो दूध दही मे परिणित होगया।[1]

2 3 मूल्य -पाश्चात्य विचारको की दृष्टि मे

पाश्चात्य विचारको ने मूल्य' को विभिन्न दृष्टिकोणो से व्याख्यायित किया है। प्रमुख रुपेण इन विद्वानो ने समाजशास्त्रीय नीतिशास्त्रीय एव उपयोगितावादी आदि दृष्टियो से 'मूल्य" की व्याख्या की है। पाश्चात्य समाजशास्त्री हेरिक मानव-मूल्यो को सामाजिक सन्दभो मे व्याख्यायित करता हुआ लिखता है कि "**यह सत्य है कि मानवीय मूल्य सामाजिक चौखटे मे रखे जाते है।**"[2] **स्पष्ट है कि हेरिक महोदय मूल्यो को सामाजिक सन्दर्भो की परिधि मे ही रखना** चाहते है। समाज मे ही वे व्यक्ति की सार्थकता मानते हैं। वे समाज से अलग वैयक्तिक मूल्यो को नकार देते है। जोसेफ एच० फीचर ने भी मूल्य को समाजशास्त्रीय दृष्टि से परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'मूल्य वे मानदण्ड

हे जो व्यक्ति और समाज का अर्थ तथा महत्व प्रदान करते है। जोरोफ महोदय के विचार से समाज प्रधान होता हे ओर व्यक्ति गोण।

लोरी नेलसन तथा उनके सहयोगियो ने **सामाजिक दृष्टि से मूल्यो को वास्तविक रूप मे अमूर्त (Abstractions) मानते हुए उनको परिभाषित तथा विश्लेषित करना कठिन माना है।''**[1]

सामाजिक दृष्टि से मानव-मूल्यो ' को व्यक्ति एव समाज के आधार पर दो भागो मे विभक्त किया जाता हे (1) वेयक्तिक मूल्य, तथा (2) सामाजिक मूल्य।

किन्तु दोनो के बीच कोई रेखा खीचना सम्भव नही है क्योकि वैयक्तिक मूल्य ही व्यक्ति से ऊपर उठ कर सामाजिक-मूल्य बन जाते हे। वैयक्तिक मूल्यो मे व्यक्ति-स्वातत्रय अहिसा आदि आते हे ओर सामाजिक मूल्यो मे आर्क्षिक 'ार्मिक एव राजनीतिक मूल्य सन्निहित है।

पाल एडवर्ड्स ने इनसाइक्लोपीडिया आफ फिलासफी' मे नीतिशास्त्रीय दृष्टि से मूल्य'' को स्पष्ट करते हुए लिखा हे **''मूल्य का सकुचित दृष्टि से अर्थ ''शुभ'', ''वांछनीय'' या ''योग्य'' तथा व्यापक दृष्टि से इसका अर्थ है- ''सब प्रकार का औचित्य'', ''कृतज्ञता'', ''गुण'', ''सौन्दर्य'', ''सत्य'', और ''पवित्रता''।''**[2] स्पष्टत पाल की दृष्टि नीतिशास्त्रीय है। वह 'मूल्य'' को मानव-जीवन का मार्ग-दर्शक मानता है। वे ''शुभ'' एव 'अशुभ'' अथवा ''अच्छाई'' तथा ''बुराई'' की परिधि मे मूल्यो'' की अर्थवत्ता स्वीकारते है। ''इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका'' मे ''मूल्य'' को व्याख्यायित करते हुए लिखा गया है **''मूल्य जीवन के अस्तित्व तथा उसकी उन्नति के सन्दर्भ मे परिभाषित होते है।''**[3] जी० ई० मूर महाशय ने 'शुभ'' के सन्दर्भ मे ''मूल्य' को स्पष्ट करते हुए लिखा है- **''शुभ**

---

1 Community structure and Change, Lowry Nelson p 116

2 इनसाइक्लोपीडिया आफ फिलासफी- Paul Edwards - p 229, Volumes

एक ऐसा शरीर-विषयक पूण हे, जिसके सभी अग स्वलक्ष्य मूल्य होते है।'[1] स्पष्ट हे कि मूर [illegible] परिभाषित किया है। अर्बन ने मूल्य का [illegible] परिभाषित किया है। इसने गुणात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है - ''मूल्य वह हे, जो मनुष्य की इच्छा की पूर्ति करता है।''[2] इस प्रकार अर्बन मूल्य' का मानवेच्छा की पूर्ति का साधक मानता हे।

निष्कर्षत मूल्यो क विषय मे पाश्चात्य' विद्वानो द्वारा व्यक्त विभिन्न दृष्टिकोणो के विचार प्रस्तुत करने पर भी सुनिश्चित परिभाषा देना अतीव दुष्कर कार्य हे। वास्तविक रूप मे मूल्य' को किसी एक परिभाषा में बांधना उसकी वास्तविकता को स्पर्श मात्र करना हे। वस्तुत मूल्य वही हे जो समाज द्वारा सर्वस्वीकृत तथा मान्य हो और जो मानव का हित कर सके।

2.4 नवीन मूल्यो का सृजन

परिवर्तन सृष्टि का अपरिहार्य नियम हे। पुरानी मान्यताएँ नए विचारो को जन्म देती हे। प्राचीन समाज का ढाचा जहाँ बदला वहाँ नए मूल्यो की स्थापनाएँ स्वाभाविक रूप मे होती है। यह परिवर्तन युग की सहज देन होती हे।

प्रचलित परम्पराओ की आधार-पीठिका पर भी नए मूल्य जन्म लेते हे। मूल्य थोपे नही जा सकते व सहजत उत्पन्न होते हे। ''जितने भी मूल्य है, उनकी पीठिका सिर्फ समाज ही हो सकता है। क्योकि व्यक्ति का विकास तो समाज की दिशा मे होता है। असल मे प्रश्न यह है कि चाहे वे सामाजिक मूल्य हो चाहे वे वैयक्तिक मूल्य हो, वे ''मानव-मूल्य'' है या नही। ? वे उस सत्य को वाणी देते हे या नहीं, है चाहे वह व्यक्ति के रूप मे हो, चाहे समाज के रूप मे, मानवीय मूल्य एक ही है।''[3] कवि-वरेण्य श्री रामधारी दिनकर सामाजिक-सन्दर्भ मे मूल्यो की अर्थवत्ता मानते हुए,

मूल्य का परिभाषित करत हुए लिखत हे - ''**मूल्य वे मान्यताएँ, है, जिन्हे मार्ग-दर्शक ज्योति मान कर सभ्यता चलती रही हे और जिसकी उपेक्षा करने वालो को परम्परा अनैतिक, उच्छश्रृखल या बागी कहती हे। किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पुराने मूल्यो को मिटा कर, उनकी जगह नए मूल्यो की प्रतिष्ठा करने वाले व्यक्ति भगवान बन जाते है।**''[1] मूलत मूल्य'' समाज के लिये मार्ग-दर्शक ज्योति होते हे और उन्ही के प्रकाश मे मानवीय सभ्यता बढती हे। जो मूल्यो की अवहलना करते हे उन्हे प्रचलित परम्परा अवमानित एव उपेक्षित करती है। वस्तुत युगीन बदलती हुइ परिस्थितिया का सघर्ष नए वेयक्तिक मूल्या की सर्जन करता हे। यह सत्य हे कि कभी-कभी नए मूल्य-सर्जक अत्याधिक प्रशसनीय एव यशस्वी बन जाते है। डॉ० एन० के० देवराज ने सस्कृति का दार्शनिक विवेचन मानव-मूल्यो के सन्दर्भ मे करते हुए लिखा है। - '**मनुष्य लगातार जीवन की सम्भावनाओ का चित्र बनाता रहता है। ये सम्भाव्य चित्र ही वे मूल्य है, जिनकेलिए वह जीवित रहता है जिन आदर्शो एव मूल्यो को लेकर मनुष्य जीवित रहता है, उसकी गरिमा और सोन्दर्य मनुष्य के सास्कृतिक महत्व का माप प्रस्तुत करते हे।**' डा० देवराज ने मूल्यो को सस्कृति के साथ जाडा हे। सचमुच मूल्य' सस्कृति के अपरिहार्य अग हे। मूल्य और आदर्श ही मनुष्य के जीवन के मुख्याधार हे।

डॉ० जगदीश गुप्त ने मूल्यो'' के सन्दर्भ मे अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है— ''**बिना मानवीय सवेदनाओ को केन्द्र मे रखे हुए मूल्य की कल्पना नहीं की जा सकती है।xxxx मूल्यो की प्रतिष्ठा का अर्थ मानवता और मानवीयता की प्रतिष्ठा है उसके बिना मानवीय अस्तित्व निरर्थक है। इससे भिन्न रुप मे मानव-मूल्य की कलपना मै नहीं कर पाता।**'' यहॉ पर डॉ० गुप्त ने मानवीय सवदनाओ से मूल्य को जोडा हे। मानवीय सवेदना से उनका तात्पर्य मानव की अन्तरात्मा से हे। साथ ही वे मूल्यो की प्रतिष्ठा का अर्थ मानवता की प्रतिष्ठा भी मानते है। ''**साहित्य-कोश**'' मे मानव-मूल्यो के विषय मे लिखा गया है- ''**मूल्य और प्रतिमान समानार्थी शब्द है। दोनो कहीं मानव-निर्मित निकष या कसौटियॉ है, जिनके सहारे जीवन की परख की जाती है। मनुष्य चूंकि पहले व्यक्ति है,**

---

1. दिनकर जी साहित्यमुखी पृ० 56

इकाई है, उसके अपने कुछ मूल्य होते हे, परन्तु व्यक्ति या मनुष्य एक बृहत्तर मानव समाज का , परिवार, नगर, प्रदेश, राष्ट्र या ससार का सदस्य, सामाजिक विशेष होकर सामान्य अग भी है। अत उसके प्रत्येक विचार, कर्मओर कल्पना मे ''मूल्य'' का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है।''[1] यहाँ पर वेयक्तिक मूल्यो का सामाजिक मूल्यो के साथ जोड कर सामाजिक-मूल्यो को उच्चतर माना गया हे। सारत मानव-मूल्या पर विचार करने पर हम इस निष्कर्प पर पहुँचते हे कि वे ही श्रेष्ठ मानव-मूल्य कह जा सकते हे जो समाजहितकारक हो ओर मानवोत्कर्प-कारी हो। मूल्य वे आधार-स्तम्भ हे जिनक उपर मानव-जाति का अस्तित्व आधारित हे। मूल्य व ज्योतिर्मान नक्षत्र है जो मानव-मगल का मार्ग प्रशस्त करत हे।

2 5 मानव-मूल्य के तत्व

मूल्य-सर्जक अवयवो या तथ्यो को ''**मूल्य के तत्व**'' की सज्ञा से अभिहित किया गया हे। मूल्य वे मानवीय आदर्श मानदण्ड या मान्यताऍ है, जिन्हे मार्ग-दर्शक ज्योति मान कर सभ्यता चलती है ओर उनका अवलम्ब ग्रहण करके मानव प्रगति-पथानुगामी बनता हे। सक्षेपत मूल्य'' के प्रमुख तत्व निम्नोक्त हे -

1 मूल्य के धार्मिक तत्व

धर्म-सम्बन्धी विचारो एव मान्यताओ को मूल्य का धार्मिक तत्व माना जाता है। उदाहरणार्थ-मध्ययुग भक्ति-काल मे समाज मे पारम्परिक आधार पर भिक्षुक, ब्राह्मण, दरिद्र तथा दीनो को ''दान-देना'' उसी प्रकार पूजा-पाठ करना परोपकार करना, तीर्थयात्रा करना, आदि धर्म माना जाता था। अतएव ये सभी ''मूल्य के धार्मिक तत्व'' कहलाते थे। किन्तु युगीन मान्यताए आज परिवर्तित हो गई। लोगो की मानसिकता बदल गई। अत आज तो 'सघर्ष ही मूल्य माना जा रहा है। जिस भिक्षुक दरिद्र या दीन को दान दिया जाता था उसे आज का समाज सघर्ष परिश्रम करने की चेतावनी दे रहा है।

2 मूल्य का नैतिक तत्व

नैतिकता से जुड आदश का मूल्य का नेतिक-तत्व माना जाता है। नेतिक' अथवा नेतिकता द्वारा मनुष्य के समस्त सद्गुणो का बोध होता है। न्याय, सयम सहनशीलता परोपकार उदारता ईमानदारी जीवमात्र के प्रति करूणा, कर्त्तव्यनिष्ठा आदि मानवीय सद्गुण नेतिकता के अन्तर्गत आते हे। दूसरे शब्दो म सत्कर्म सम्बन्धी समस्त सद्गुण नेतिक मूल्य अथवा मूल्य के नेतिक तत्व कहलाते हे। यदि किसी की कोई वस्तु खो गई है ओर सयोग से हमे प्राप्त हो गई हे, तो हमे चाहिए कि हम यथाशक्ति पता लगा कर उसकी वह वस्तु उसे दे दे- यह हमारे "नैतिकता-मूल्य" के अन्तर्गत आता हे।

३-मूल्य के जैविक तत्व

मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्तियॉ अथवा जीवन सम्बन्धी अनिवार्य आवश्यकताएँ जेसे भूख, प्यास, निद्रा, भय, मैथुन आदि को "मूल्य का जैविक-तत्व" कहा जाता है। मनुष्य अपनी भूख प्यास अथवा सेक्स सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति करना चाहता है और करता भी है- यह उसका जैविक-मूल्य हे। परन्तु ध्यातव्य हे कि उसे कठोर परिश्रम करके मर्यादित रुप से अपनी इस आवश्यकता की पूर्ति करना चाहिए। जहा पर प्राचीन भारतीय मूल्य अथवा सामाजिक मूल्य "सेक्स" के विषय मे बन्धन योन-वर्जनाओ का प्रतिबन्ध सुनिश्चित किए है वही पर वर्तमान व्यक्ति-स्वातत्र्य सम्बधी मूल्य उसे पूर्ण स्वतत्र कर दिए हे। महाकवि अज्ञेय कृत शेखर एक जीवनी" नामक उपन्यास मे शेखर को अपनी मौसेरी बहिन शशि"' के साथ रात्रि भर स्वतत्र विचरण करना-- इसका ज्वलन्त उदाहरण है। साठोत्तरी उपन्यासो मे ऐसे अनेक उदाहरण द्रष्टव्य है।

4- मूल्य का आध्यात्मिक तत्व

आध्यात्मिकता से जुडे हुए आदर्शो को आध्यात्मिक-मूल्य या मूल्य का आध्यात्मिक तत्व कहते है। आध्यात्मिक-मूल्यों मे सत्य, शिव, सुन्दरम् की चर्चा नैतिक-जीवन की दृष्टि से की जाती है

जिसका सम्बन्ध बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक से होता है। तात्पर्य यह है कि ये आत्मा की ही वस्तुऐं है इन्हे आत्मानुभूति के द्वारा ही अनुभूत किया जा सकता है। मोक्ष" का सम्बन्ध आत्मानुभूति से है। डा० राधाकृष्णन ने इस सन्दर्भ मे उचित ही लिखा है कि— "हिन्दू धर्म के अनुसार मनुष्य न केवल "रोटी" पर और न अपने काम, पूजी आकाक्षा या बाह्य प्रकृति के साथ सम्बन्ध पर जीवित रहता है। वह अपने आध्यात्मिक-जीवन मूल्यो के भरोसे जीता रहता है।"

5- मूल्य का भौतिक-तत्व

भौतिकता से जुडे हुए आदर्शों को 'मूल्य का भौतिक-तत्व" कहते है। भोजन, वस्त्र, भवन, एव समस्त सासारिक सुख-सम्पदा से सम्बद्ध मूल्य 'भौतिक-मूल्य" के अन्तर्गत समाहित किए जा सकते है। हमारे यहाँ का चार्वाक-दर्शन" तो भौतिक-मूल्यो को ही सब कुछ मानता है। पाश्चात्य विद्वानो ने भी भौतिक-मूल्यों की अत्यधिक महत्ता मानी है। इसी प्रकार मूल्य का आर्थिक-तत्व" "मूल्य का चारित्रिक-तत्व", "मूल्य का सामाजिक-तत्व" तथा "मूल्य का वैयक्तिक-तत्व" आदि है।

2 6 मानव-मूल्य के भेद

मूल्यो के भेद के विषय मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है। पुनरपि हम इनकी तार्किक विवेचना करने का प्रयास करेगे। मूल्य" मूलत दो प्रकार के होते है -

(1) **शाश्वत मूल्य,** (2) **युगीन मूल्य**

2 6(अ) शाश्वत मूल्य—

शाश्वत मूल्य वे मूल्य है जो देश काल एव परिस्थितियो से निरपेक्ष तथा कालजयी होते है। ये सर्वदा जीवन्त रहते है। जैसे- परोपकार, दया उदारता, अहिसा, प्रेम सत्य, ईमानदारी, न्यायशीलता मानवतावाद आदि शाश्वत मानव मूल्य है- - ये कभी पुराने नही होते है। जिन कृतियो

ग शाश्वत मानव-मूल्यो की प्रतिष्ठा की गई है। वे प्रत्येक युग मे महत्वपूर्ण रहते है। सूर तुलसी कबीर आदि का काव्य इन्ही शाश्वत मूल्यो क कारण अमर तथा कालजयी है।

2 6(ब) युगीन मूल्य

युगीन मूल्य व मूल्य है जो पारम्परिक तथा कथित मूल्यो से अलग होते है। मनुष्य जिन सामाजिक परम्पराओ आदर्शो एव मान्यताओ को मानता आया है जरुरी नही है कि हर पीढी उन्हे स्वीकारती या मानती रहे। उदाहरणार्थ- पहले समाज मे "दान-देना" पारम्परिक आधार पर एक मूल्य था किन्तु वर्तमान युग मे ऑख मूद कर दान देना हम मूल्य नही मानते है। आज तो हम 'सघर्ष" को मूल्य मानत है। जिसे पहले दान दिया जाता था उसे आज का समाज सघर्ष करने की चेतावनी दे रहा है। जेसे- भिक्षुक, ब्राह्मण दरिद्र और दीनो के प्रति आज लोगो का भाव बदल चुका है। यही युगीन मूल्य" कहा जायगा।

2 6(स) वैयक्तिक-मूल्य-

वे मूल्य जो व्यक्ति के निजी हितो एव व्यक्तिगत सुविधाओ को वहन करे, वे "वैयक्तिक-मूल्य" या "व्यक्तिवादी मूल्य कहलाते है। हर व्यक्ति का अपना एक वैयक्तिक जीवन-मूल्य होता है। वर्तमान-युग मे वर्जनाओ का विरोध एव व्यक्ति स्वातत्र्य की तलाश से जुडे मूल्य जैसे- स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध आज वेयक्तिक मूल्य के परिचायक है, जबकि यही मूल्य-दृष्टि पहले वर्जनाओ की लक्ष्मण-रेखा की सीमा मे बॅधी थी।

2 6(द) सामाजिक-मूल्य

वे मूल्य जो समाज की अपेक्षाओ एव मर्यादाओ से जुडे हो, वे "सामाजिक-मूल्य कहलाते है। हर व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। हर समाज की अपनी मान्यता और आदर्श होता है। जिस आदर्श या मूल्य को समाज मे माना जाता है वह उस समाज का "सामाजिक मूल्य" कहलाता है। उदाहरणार्थ,

हमारे हिन्दू समाज मे किसी व्यक्ति के मृत्योपरान्त अन्येष्टि-क्रिया त्रयादशाह आदि सामाजिक-मूल्य हे। समाज के सभी सदस्य इनका पालन करते हे।

2 6(य) नेतिक-मूल्य

य वे मूल्य हे ,जा नेतिक आदर्शो- पवित्रता शुभ, ओचित्य कर्त्तव्य न्याय आदि से समाविष्ट हात हे। उदाहरणार्थ - यदि मार्ग मे कोई व्यक्ति मोटरसाइकिल से धक्का खाकर पडा है और उसका सिर फट गया हे। रक्त-प्रवाहित हो रहा है। मे वहा पर सयोगात् पहुच गया हू, तो अपरिचित होने पर भी मेरा नेतिक-मूल्य यह कहता है कि उसे किसी तरह से 'प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र' या किसी डाक्टर के पास ले जाकर, उसका प्राथमिक उपचार कराऊँ। आदि।

इसके अतिरिक्त वेचारिक मतभेद के कारण अन्य भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानो ने अपने-अपन ढग से मूल्यो के भेद निर्धारित किए है। अत कतिपय विद्वानो के मत यहाँ पर उल्लेखनीय है।

डॉ० वद प्रकाश वर्मा ने अपने ग्रन्थ - - नीतिशास्त्र के मूल सिद्वान्त" मे मूल्यो के मुख्यत दो भद निर्दिष्ट किए हे। (1) साधन-मूल्य ओर, (2) साध्य-मूल्य,

2 6(र) साधन-मूल्य

उन समस्त वस्तुओ को साधन कहा जाता है, जो अपने आप मे "शुभ" न होकर, किसी अन्य वस्तु के साधन के रुप मे ही शुभ होती हैं।" उदाहरणार्थ- भोजन, भवन, वस्त्र, धन-सम्पत्ति तथा अन्य सभी भोतिक वस्तुये अपने आप मे शुभ" नहीं है। वे स्वास्थ्य जीवन-रक्षा तथा सुख के लिए आवश्यक साधन-मात्र है। इसी कारण इन वस्तुओ से सम्बन्धित सभी मूल्यों को - "साधन-मूल्य" की सज्ञा दी गई हे।

2 6(ल) साध्य-मूल्य

भौतिक-वस्तुओ के विपरीत मनुष्य की कुछ मानसिक अवस्थाये, अपने आप मे "शुभ" तथा स्वत साध्य होती हैं। ये मानसिक अवस्थायें अपने परिणामों के कारण "शुभ" नहीं होती, अपितु ये

स्वत साध्य और अपने आप म वाछनीय होती है। ऐसी स्वत साध्य मानसिक अवस्थाओ को ही साध्य मूल्य कहा जाता है। ये मूल्य परिणाम-निरपेक्ष होते है । इनका महत्व अपनी उत्कृष्टता के कारण ही होता है। ये मूल्य व्यक्ति देश काल और परिस्थितिया पर निर्भर नही होते है। कोन-सी मानसिक अवस्थाये स्वय मे शुभ एव वाछनीय होती है इस प्रश्न का कोई निश्चित एव सर्वमान्य उत्तर दना सम्भव नही है क्योकि इसके विषय मे विद्वानो मे मतभेद है। उदाहरणार्थ- प्लेटो तथा अरस्तू आदि-दार्शनिक ज्ञान एव चिन्तन को स्वत साध्य शुभ मानते है परन्तु कान्ट शुभ-सकल्प'' को अपने आप म शुभ तथा वाछनीय मानता है। प्राचीन भारतीय मनीषियो ने 'सत्य'' 'शिव'' एव सुन्दरम को ही स्वत साध्य मूल्य माना है।

प्राचीन भारतीय मानव-मूल्यो - धर्म अर्थ, काम ओर मोक्ष को भी स्थूल दृष्टि से विभाजित किया जा सकता है। ''मोक्ष'' स्वय मे साध्य है- अत इसे 'साध्य-मूल्य'' या सर्वोच्च मूल्य माना गया है। इसी कारण धर्म अर्थ तथा काम को - साधन-मूल्य'' कहना ही उचित है। पाश्चात्य विद्वान अर्बन ने शारीरिक एव आर्थिक-मूल्यो को प्राथमिकता दी है क्योकि वे मानवीय जीवन के लिए पूर्णत आवश्यक है मूल्यो क अन्य वर्ग क्रमश कम आवश्यक है।[1] हमारे यहाँ **''शरीरमाद्य खलु धर्म साधनम्''** कह कर महाकवि कालिदास न शरीर को समस्त धर्मो का प्रथम सोपान माना है। इस प्रकार दार्शनिक मतो का अनुशीलन करने से विदित होता है कि विविध मानव-मूल्यो को मोटे तोर पर धर्म अर्थ, काम और मोक्ष नामक पुरुषार्थ-चटुष्टय की धारणा मे समाहित किया जा सकता है। इसमे अर्थ एव काम (Wealth and Pleasure) मानवेच्छा के सहज- स्वाभाविक-वैश्विक विषय या मूल्य है जबकि धर्म एव मोक्ष मानवेच्छा के उचित एव आदर्श विषय या मूल्य है। दर्शन का साक्षात् सबध उच्चतर मूल्यो (धर्म एव मोक्ष) से है और इसका लक्ष्य उन्हे अनुभूतिगम्य बनाना है। किन्तु, साथ ही दर्शन दो निम्नतर मूल्यो अर्थ एव काम की हेयता का तार्किक प्रदर्शन करते हुए उनकी प्राकृत अनिवार्यता स्वीकार करता है। इस प्रकार भारतीय दर्शन को मानव-मूल्यों की समीक्षात्मक व्याख्या कहा जा सकता है।[2]

---

1 Urban W M Fundamentals of Ethics, पृ० 161

अध्याय 3

मूल्य–चेतना का उद्भव एवं विकास

मनुष्य प्रकृतित जीव–जगत का अग है और पशु–जगत की सहज-व्यवस्था क अनुरूप आहार निद्रा भय एव मेथुन की सहजात-प्रवृत्तियो से सचालित होता हे। किन्तु इन सहज-प्रवृत्तियो के युगपत वह बुद्धि-विवेक का भी स्वामी होता है। अरस्तू के अनुसार मनुष्य एक विवेकशील पशु है। पशु–जीवन के समान वह एक सहज एव नियत प्रवृत्ति–चक्र से बॅधा नही है। सहज-प्रवृत्तियो का सहज अनुगमन न करके मनुष्य विवेक-निर्धारित राह का अनुमोदन करता है। वस्तुत स्वत्व-बोध के आलोक मे सहज-प्रवृत्तियो का सजग-विश्लेषण करता हुआ मनुष्य अपनी राह स्वय चुनता है ओर इस चयन म ही आत्म-शान्ति पाता है। आत्मानुभूति, विवेक एव चयन की स्वतन्त्रता के आधार पर यथा प्राप्त जागतिक विषयो के अन्तराल से आदर्श विषयो की खोज ही मानवोचित जीवन का लक्षण हे ओर यही मूल्यान्वेषण भी हे। तार्किक छानबीन का विषय इच्छानुरुप ही नही, आत्मानुभूति रुप भी होता हे। जहॉ दिये हुए स्वभव को भोगना ही प्रवृत्ति–जीवन की नियति है, मूल्य विकासशील मानव–जीवन के लक्ष्य और उपलब्धि है। प्रवृत्ति–सचालित पाशविक–जीवन नियत स्वभाव को भोगने के लिए अभिशप्त हे लेकिन उसके अतर्निहित अभाव को परिपूर्ण करने मे अशक्त है जबकि मनु–पुत्र' आत्मगत् एव वस्तुगत अभाव से असतुष्ट होकर भूमा का अनुसधान करता है- **भूमा वै सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति।**[1]

3 1 भारतीय एव पाश्चात्य परपरा मे मूल्य-चेतना

1 भारतीय चिन्तन परपरा मे मूल्य-चेतना

दर्शन की प्राचीन भारतीय या पाश्चात्य परपरा मे मूल्य दर्शन का अध्ययन दर्शन के एक प्रस्थान के रुप मे अविद्यमान था। दर्शन के जन्मदाताओ मे लौत्से का नाम उल्लेखनीय है। 1845 के

लगभग लोत्स ने मूल्य-मीमासा की स्पष्ट उदभावना की।[1] 1885 से 1920 के बीच ब्रन्टानो एरनफेल्स माइनाग जिमल हाटमान पॉलल्पि और अर्बन की रचनाओ स मूल्य दर्शन एक नवीन प्रस्थान के रूप म आविर्भूत हुआ।[2] किन्तु मूल्य-मीमासा के मूल प्रश्न या धारणाये इससे पूर्व ही दार्शनिक मनीषा मे विद्यमान थी। उदाहरणार्थ प्लेटो के दर्शन मे सत् श्रेयस ओर सौन्दर्य की स्पष्ट और अविभक्त विवेचना मिलती है। प्लेटो का आदर्श विषयक सिद्धान्त मूल्य विवेचना का महत्वपूर्ण उत्स लगता है। एस ही उपनिषदा मे जीवन क चरमलक्ष्य ओर उसकी प्रापति के साधनो की विस्तृत चर्चा मिलती है[3]। इसस स्पष्ट होता है कि दर्शन की प्राचीन भारतीय अथवा पाश्चात्य परपरा मे मूल्य विषयक धारणाये एक पृथक् दार्शनिक प्रस्थान के रूप मे विकसित नही थी, किन्तु उनका अस्तित्व था और मूल्य-दर्शन के यथेष्ट परिज्ञान के लिए उसके विकास के सदर्भो को भी परखना पडेगा। अध्ययन की सुविधा के लिए इसे भारतीय और पाश्चात्य मूल्य-विकास की परपरा के रूप मे विशेषित किया जा सकता है।

3 2 (1) भारतीय चितन परपरा-

3 2(अ) वैदिक सहिताओ एव उपनिषदो मे विकासित मूल्य-दृष्टि—

दर्शन की प्राचीन भारतीय परम्परा दर्शन को आत्मा का विज्ञान या अध्यात्मशास्त्र कहती है।[4] अध्यात्मशास्त्र मे दुख और मोक्ष, सत् और ज्ञान का समन्वित प्रतिपादन हुआ है। सामाजिक–नैतिक जीवन काव्य ओर कला तथा लोकिक सुखभोग को अपारमार्थिक मूल्य मानने के कारण इनका यथेष्ट

---

1 पेरी आर० बी० जनरल थियरी आफ वेल्यू 1912 पृ० 5

2 प्रा० पाण्डय गोविन्द चन्द्र मूल्य मीमासा रा० हि० ग्र० अ० जयपुर 1973 पृ०

3 प्रा० हिरियन्ना एम० इण्डियन कान्सेप्शन्स आफ वैल्यूज पृ० 1 काव्यालय पब्लीशर्स मैसूर

4 शंकर आनन्द वेदान्त-सूत्र [illegible]

विवेचन अर्थशास्त्र मे नही मिलता। इससे स्पष्ट होता है कि नाना प्रकार और स्तरो के मूल्यो का तुलनात्मक या आपेक्षिक विवेचन एक स्वतन्त्र शास्त्र का विषय नही था।[1] किन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि प्राचीन भारतीय-जन मे मूल्यबोध या मूल्यचेतना नही थी। भारतीय आध्यात्मिक सांस्कृतिक चिन्तन धारा का संक्षिप्त विहगावलोकन करने से मूल्य–चेतना के अवबोध और विकास की चार अवस्थाए दृष्टिगत होती है। वेदिक–सूत्र धर्म को सजीव मानने वाले भावुक सृजनशील और प्रवृत्ति प्रधान मनुष्य का धर्म है। वैदिक जन विश्वास करते थे कि प्रकृति की प्रत्येक शक्ति एक देवता के अधीन काम करती है और देवता की पूजा-स्तुति करने से मनुष्य का कल्याण होता है। अतएव वेदिक जन अधिकाश मे वेदिक देवताओ की स्तुति करते थे कि उनके बेल मोटे हो , घोडे बलवान हो फसलो की उन्नति हो और उन्हे शत्रुओ पर विजय मिले।[2] इस प्रकार प्राचीन वेदिक जन जीवन प्रवृत्तिशील अग्रगामी और सचरिष्णु था। सफल प्रवृत्ति ने एक नियत प्राकृतिक और सामाजिक व्यवस्था मे विश्वास दृढ किया। पूर्व वेदिक युग मे इस सहज सार्वभोम विश्वनियामक व्यवस्था को ऋत कहा गया। वरुण को ऋत के गोप्ता के रूप मे देखा गया। वरूण का नैतिक व्यवस्था के नियामक का रूप अत्यत प्रभावशाली है। ऋतस्यगोप्ता वरुण सार्वभोम विश्व व्यवस्था के नियामक है। यह विश्व-व्यवस्था के भोतिक-पक्ष के साथ ही नैतिक-पक्ष को भी नियत्रित करते है। अनिष्ठा और यातना के समय उपासक के साथ रक्षक रूप मे रहना, उसे अह (पाप) से मुक्ति दिलाना, पापी को जलोदर से युक्त कर पीडित करना एव दान्यता उनके नैतिक स्वरूप को स्पष्ट करते है।[3] वरूण जिस ऋत् के सरक्षक है सारा देवमडल भी उससे आबद्ध है। देवो को ऋत् से उत्पन्न अर्थात ऋत्‌जात कहा गया है। ऋत् की धारणा मे जगत की बाह्य दृश्यमान- व्यवस्था के गर्भ मे स्थित नेतिक -नियम की सत्ता को स्वीकार किया गया है। जगत की उत्पत्ति के पूर्व ऋत् विद्यमान था और परिवर्तनशील प्रकृति-चक्र ऋत् की ही अभिव्यक्तियॉ है। उषस् का आगमन, सूर्य का चमकना, ग्रहो,

---

1 प्रा० पाण्डेय गोविन्द चन्द्र मूल्य–मीमासा पृ० 683 राजस्थान हिन्दी ग्रथ अकादमी 1973

2 दिनकर रामधारी सिह सस्कृति के चार अध्याय पृ० 125-128

3 भारतीय दर्शन सं० नन्दकिशोर देवराज द्वि० स०-1978 पृष्ठ 42, उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान लखनऊ।

नक्षत्रों तथा ऋतुओ की नियमित गति एव क्रम सब कुछ ऋत् के ही कारण है। ऋत का मार्ग ही सदाचार का मार्ग है जो बुराइया (Disvalues) से अस्पृष्ट यथार्थ पथ है।[1] इस सहज सार्वभाम तात्विक व्यवस्था का आनुकूल्य ही सत्य ओर मूल्य के रुप मे स्वीकृत किया गया। जीवन और उससे जुडी हर वस्तु की अर्थवत्ता ऋत् से अनुप्राणित होने पर ही सम्भव थी। यही कारण हे कि ईश्वर और ऋषि दोनो ही कवि द्रष्टा और सृष्टा माने जाते थे।[2] इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक जन ऐहिक पदार्थों को प्रार्थनीय मानते हुए भी धी-गम्य ऋत के प्रकाश को ही वरेण्य मानते थे।[3] धी शब्द के अर्थ मे उस वक्त ज्ञान के अतिरिक्त सकल्प का भी अश विद्यमान था। ज्ञान और कर्म का यह सहज सामरस्य उत्तर वेदिक काल मे भग हो गया और वेदो का सहज स्वाभाविक दर्शन ब्राह्मणो के जटिल कर्मकाण्ड मे खोने लगा। कर्मकाण्ड की प्रधानता ब्राह्मण सहिता मे है जहॉ यज्ञ-कर्म मनुष्य का प्रधान कर्म माना गया हे। किन्तु वेदो मे ज्ञान-मार्ग की जो स्फुट बाते जहॉ तहॉ बिखरी थी उनसे नित्य और अनित्य की विवेक-दृष्टि विकसित हुई ओर धीरे-धीरे सासारिक भोगो की असारता ओर आत्मिक जीवन की पारमार्थिकता का विरोध विचार का विषय बनने लगा।

प्रथमत हम कठोपनिषद्कार द्वारा प्रतिपादित एक पूर्णत शुद्धविरोधवाद का सिद्धान्त देखते हे। वहॉ हमे बतलाया गया कि लोक मे दो मार्ग है एक श्रेयस मार्ग है, दूसरा प्रेयस मार्ग। ये दोनो मार्ग मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयास करते है। मनुष्य को इनमे से श्रेयस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। जो श्रेय मार्ग का अनुसरण करता है, उसे लक्ष्य सिद्धि उपलब्ध होती है, तथा जो प्रेयस मार्ग अपनाता हे वह अपने उद्दिष्ट ध्येय से वचित रहता है। श्रेय और प्रेय मे वरण का प्रश्न उपस्थित होने पर विचारशील मनुष्य उनमे से एक का चयन करता है। प्रज्ञाशील मनुष्य प्रेयस

---

1 ऋत सहिता 10/136/6

2 ईशा० -8

के सम्मुख श्रेयस का चयन करता है और अविवेकी श्रयस् के सम्मुख प्रेयस का चुनता है।[1] कठोपनिषद के दो श्लोक हम उपनिषदीय युग की श्रय और प्रेय के अवधारण को सम्यक रूप से अभिव्यक्त करते है। इसी तरह नचिकेता यम प्रदत्त सुख और वैभव के जीवन का उपहार अस्वीकृत कर देता है। वहाँ नचिकेता प्रमाणित कर देता है कि वह सामान्य पुरुषो की भॉति वेभव विलास पश्चानुगामी नही प्रत्युत दृढ सुखनिरपेक्षवादी है। यह सुखनिरपेक्षवाद कुछ उपनिषदो मे पतित हो कर निराशाकूद मे परिणित हो गया जो प्राय शापेनहावर जेसे कवि चितक का आदर्श है। किन्तु यह नैराश्यमय प्रवृत्ति नचिकेता की सुखनिरपेक्ष वृत्ति के तार्किक परिणाम का अतिचार मात्र है।[2] उपनिषदो मे कहा गया है कि यज्ञ से सासारिक सुख और स्वर्ग जरूर मिलते है किन्तु दोनो नाशवान है। अतएव मनुष्य का सच्चे सुख के लिए कुछ और करना चाहिए।[3] यह सच्चा सुख मोक्ष अथवा जीवन मृत्यु से निवृत्ति का सुख था। इस प्रकार श्रेय और प्रेय का भेद आध्यात्मिक आचार–दर्शन के मूलमत्र के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ।[4] आत्मज्ञान या मोक्ष को श्रेय तथा इन्द्रिय ग्राह्य अनित्य एव लोकिक सुख भाग को प्रेय माना गया। इस प्रकार मोक्ष के सामने उपनिषद् स्वर्ग, सुख को हीन मानने लगे। तब भी उपनिषदो मे सन्यास ओर निवृत्ति पर बहुत जोर नही दिया गया और न ही मोक्ष को केवल दुखाभाव के रुप मे प्रतिपादित किया गया है। भौतिक जीवन के परे एक शाश्वत सत्य को देखने ओर लक्ष्य मानने पर भी उपनिषदो मे जीवन को नकारने की दृष्टि बिरल ही पायी जाती है।[5]

---

1 अन्य छयाऽन्य दुतैत प्रयथ्ते उभो नानर्थे पुरुष सिनीत। तयो श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्था उप्रेयो वृणीते।। श्रेयस्च प्रयस्च मनुष्यमे तस्तो सपशील्य विविनावर्त धीर। श्रेयोहि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मदो योग क्षेमाद वृणीत। कठ 1 2 1 2

2 उपनिषादिक दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण आर० डी० रानाडे (रा० हि० ग्र० अ०) 1971

3 दिनकर रामधारी सिंह सस्कृति के चार अध्याय पृ० 125-128

4 द्रष्टव्य कठ 1 2 2

उपनिषदो के अनुसार आत्मा ब्रह्म है और ब्रह्म जगत का उपादान कारण[1]। आत्मा के विरुद्ध या अतिरिक्त कुछ नही है[2]। सभी पदार्थ आत्मा से अनुप्राणित और नाम रूप और कर्म से उपाहित उसी के अंश है[3]। विश्व आनन्द से बना है और आनन्द मे व्याप्त है[4]। विश्व स्वय दुखात्मक नही है प्रत्युत विश्वमिद वरिष्ठम विश्व सर्वोत्तम वरणीयतम् है[5]। फलत उपनिषदो मे दुख की नही आनन्द की गीमारा मिलती है और इसी कारण उपनिषदो मे सन्यास और निवृत्ति का उल्लेख भी विरल है। वृहदारण्यकोपनिषद हमे बताता है कि प्राचीन तत्व-ज्ञानी जब इस बात का अनुभव करने लगते थे कि वैभव-विलास् कीर्ति और सतान से कोई प्रयोजन नही यदि वह शाश्वत् मूल्य की ओर नही ले जाते। इस प्रकार सतान कीर्ति एव वैभव से विकर्षण और शाश्वत मूल्यो के प्रति आकर्षण उन्हे सन्यस्त जीवन की ओर पेरित करते थे[6]। ध्यातव्य है कि यद्यपि यहॉ सन्यस्त जीवन-बालकवत् सहज जीवन की अनुसशा की गइ है तथापि वह केवल असार और तुच्छ ऐन्द्रिक जगत से प्रतिक्रियाजन्य पराङ्मुखता तथा निर्वेद है। बृहद का कथन है कि "जो आत्म-सयम कर्म-विरक्ति, धीर-सहिष्णु तथा आत्मसचय का जीवन व्यतीत करता है, वह प्रत्येक वस्तु मे आत्मा का ही दर्शन करता है वह दोष-मुक्त पाप-मुक्त, अशुचि-मुक्त होकर ब्रह्मतत्व का अधिकारी हो जाता है[7]। वह प्रज्ञा पुरुष आत्म-चैतन्य

---

1 तैत्ति० ३ ।

2 छान्दोग्य० 6 1 4

3 प्रश्नव्य बृह० 1 4 7

4 तैत्ति० 2 7

5 मुण्डक 2 5 11

6 एतमेव प्राजिनो लोकमिच्छत प्रव्रजन्ति। एतद्ध स्म वैतत् पूर्वे विद्वास प्रजा न कामयन्ते कि प्रजया करिष्यामो येषा नोऽयमात्माऽय लोक इति। तेहस्म पुत्रैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य चरन्ति। बृह० IV 4 22

7 तस्मादेवविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षु समाहितो भूत्वा आत्मन्येवात्मान पश्यति। सर्वमात्मान पश्यति। नैन पाप्मा तरति सर्व पाप्मान तरति, नैन पाप्मा तपति, सर्व पाप्मान तपति, विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति। बृह० ४ 4 23

की तरफ म तर्क-बुद्धि का परित्याग कर आत्म–विक्रीडा एव आत्मानद का उपभाग करता है। इस प्रकार उपनिपदो म श्रेय एव प्रय का स्पष्ट निर्धारण हुआ हे और ऐन्द्रिक रुखोपभोग (प्रेय) पर आधिभौतिक अध्यात्मिक मूल्य (श्रेय) को वरेण्य माना गया हे । उपनिषदो मे मूल्य के लिए अर्थ शब्द प्रयुक्त किया गया हे जिराका नैरुत्तिक अर्थ प्राप्य अथवा गतव्य है। इसके साथ ही अर्थ शब्द वरत्, भाव अथवा अभिप्राय का भी वाचक बन गया। अर्थ की दो विधाये थी प्रतीयमान अथवा प्रेयस ओर वास्तविक अथवा श्रेयस्। इस अर्थगत द्वद के सम्मुख मनुष्य को एक का वरण करना आवश्यक हे। इसीलिये अर्थ पर अथवा वरेण्य है[1]। यह अर्थ केवल ज्ञान या प्रज्ञा का विषय नही है बल्कि सकल्प है। उपनिषदो के अनुसार केवल प्रज्ञा या मेधा से अर्थप्राप्ति सभव नही है, किन्तु प्रत्यक्ष रूप रो श्रेयस केवल ज्ञानगम्य नित्य सद्रूप हे और ज्ञानका स्वरूप आत्मज्ञान ओर अद्वैतस्फूर्ति हे।

वैदिक परपरा की इस राक्षिप्त रूपरेखा रो परिलक्षित होता हे कि वैदिककाल मे मूल्य अथवा वरेण्य का अवधारण उस ऋतानुकूल आनन्दमयी सृजनात्मकता के रूप मे था जिसे मानव अपने मे दिव्य-प्रेरणा मानता था ओर जिसके अनुसरण मे उसे न केवल अपना जीवन चरितार्थ लगता था अपितु अपनी सर्जनात्मकता मे उसे सृष्टि के मूल मे स्थित इच्छामय छन्दोमय तपोमय व्यापार का अपन दृष्टि-स्वर पर स्फुरण उपलब्ध होता है। मनुष्य मे कृतित्व का आविर्भाव, उसका दिव्य छद से अनुछदित होकर स्रष्टा बनना, यही उसके जीवन का चरम मूल्य अथवा वरेण्य पद है।

ऐसा लगता हे कि वेदिक लोगो का विश्वास मोक्ष-सर्वोच्चमूल्य मे नही था। वे पुनर्भव के क्षय की कल्पना तो करते थे लेकिन उनका अपुनर्भव स्वर्ग के दीर्घकालिक प्रवास से समीकृत था साख्य दर्शन म सर्वप्रथम मोक्ष की धारणा का युक्तिरागत विचार हुआ। यहॉ दु खत्रयाभिघात (आधिभौतिक आधिदैविक एव आध्यात्मिक) को परम-पुरुषार्थ या सर्वोच्च कर्तव्य माना गया और वह अभिघात भी

---

1. प्रो० [illegible] हि० ग्र० अ० 1973

सीमित नही बल्कि एकान्तिक ह तीनो तापो का समूलत सार्वकालिक उच्छेद ही मानव अध्यवसाय का चरम-साध्य-माना गया।[1] यह मोक्ष ही भारतीय जीवन-दर्शन का चरम-मूल्य है और प्राचीनो क लिए जीवन का एकमात्र सार और एकमात्र लक्ष्य है। मोक्ष और मुक्ति शब्द क्रमश मोक्ष् और मुच् धातु से व्युत्पन्न हे जिनका अर्थ हे "स्वतत्र होना या "छुटकारा पाना"। इस प्रकार मोक्ष का अर्थ जीवन-मरण-चक्र और परिणामत सभी सासारिक दुखो से आत्यातिक निवृत्ति है। मूल्य को प्राचीन भारतीय दर्शन मे पुरुषार्थ कहा गया है। भारतीय मनीषा ने पुरुषार्थो के चार रूप स्वीकार किये है यथा धर्म अर्थ काम और मोक्ष धर्म (नैतिक-मूल्य) साधन मूल्य हे जबकि मानसिक और आध्यात्मिक मूल्य साध्यमूल्य हे। धर्म और अर्थ क्रमश मोक्ष ओर काम के साधन हे। अस्तु, मानव-जाति के सम्मुख दो ही रास्ते हे- सासारिक सुखोपभोग का रास्ता एव नि श्रेयस या आत्म–कल्याण का रास्ता। इसे ही क्रमश प्रेय और श्रेय मार्ग कहा गया। ध्यातव्य है कि ओपनिषदिक चितक को धर्म, अर्थ और काम आत्यतिक रूप से सतुष्ट नही कर पाये। नचिकेता ओर मैत्रेयी का असतोष इस धारणा की स्पष्ट उद्‌भावनाये है। तत्वद्रष्टाऋषि मोक्ष से कम किसी मूल्य को जीवन का परमशुभ स्वीकार करने को तैयार नही है। उपनिषद दर्शन का लक्ष्य उस स्थिति को प्राप्त करना है, जहॉ जीव परमतत्व का ज्ञान प्राप्त कर उसके साथ तादात्मय स्थापित कर लेता है। ऐसा व्यक्ति "आत्मवत् सर्वभूतेषु की धारणा प्राप्त करता हे। उस मानवात्मा के लिए है ओर' चाहिए का द्वैत समाप्त हो जाता है और नैतिक कार्य उसके लिए वेसे ही सहज बन जाते है जैसे सहज क्रियाए हमारे लिए स्वाभाविक ओर सहज है। प्रो० हिरियन्ना के अनुसार भारतीय दर्शन मे मूल्यो के अनुसधान अनुक्रम मे मोक्ष का सप्रत्यय विश्व-चितन को भारतीय मनीषा की सर्वाधिक मौलिक देन है।[2]

---

1 भारतीय दर्शन मे मोक्ष चिंतन; प्रस्तावना डा० अशोक कुमार राय मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रथ अकादमी प्रथम सस्करण-1973

3 2(ब) बुद्ध-महावीर युग की मूल्य विषयक दृष्टि

भारतीय मूल्यान्वेषी-चेतना के विकास की दूसरी अवस्था का काल विभाजन महाकारुणिक-तथागत बुद्ध के आविर्भाव-काल से लेकर भारत मे बोद्ध धर्म के पतन तक माना जा सकता है। ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक दार्शनिक वातावरण मे पर्याप्त परिवर्तन आ गया था। ससारवाद का स्वीकार प्रायिक हो चुका था ओर अतर्निहित कर्म की व्याख्या सामान्यत सभी आचार्यो के लिए समान थी।[1] उस समय निवृत्तिपरक धर्म का बोलबाला था। परिव्राजक आचार्य पुनर्जन्म रूपी ससार को विशेष दुखात्मक एव कर्म को उसके मूल मे बन्धनकारी मानकर अपवर्गात्मक मोक्ष को जीवन का लक्ष्य ओर सन्यास को उसका साधन विज्ञापित कर रहे थे। भगवान बुद्ध वीतरागी महावीर ओर मक्खली गोसाल प्रख्यात निवृत्तिमार्गी थे लेकिन ससार को कर्म प्रधान मानते थे। इनके विरोध मे प्रवृत्तिमार्गी चिन्तक भोगवादी जीवन-मूल्यो की व्याख्या ओर भोतिक जीवन की सफलता के साधनो पर विचार कर रहे थे। अजित केशकम्बली तथा अन्य लोकायतिक विचारक प्रवृत्तिवादी थे। भोतिकवादी तत्व-दृष्टि के आलम्बन से आनुभविक-सुख को ही चरम-मूल्य मानते थे। बुद्ध-महावीर के विराट आभामडल के समक्ष लोकायत इसलिए के अन्दर नहीं आ पाये लेकिन लोकायत मूल्य-सचेतना ने अर्थशास्त्र के विकास को प्रेरित एव पुरस्कृत किया। इस सदर्भ मे अर्थ शब्द का अर्थान्तर हो गया और वह विशेषत उपयोगिता, विनिमेयता सामाजिक हित-सुख का वाचक बन गया किन्तु इसके बावजूद लोकायत मूल्यवाद मुख्यधारा मे नही आ सका। दुख को अनर्थ' या डिसवैल्यू मानकर उसके अभावरुपी मोक्ष को ही इस युग का चरम--मूल्य अवधारित किया गया। काम कर्मओर भोग तथा नि शेष मानव जीवन और प्रमाण अनर्थ माने गये। इस निवृत्तिपरक धारा के साथ ही एक समन्वयात्मक धारा भी प्रचलित थी जिसमे मूल्य को पुरुषार्थ, सहज मानव--पर्येषणा के लक्ष्य एव तृप्ति के रुप मे अवधारित किया गया ओर माना गया कि प्रवृत्ति का सम्यक् और नियत अनुपालन मनुष्य को स्वत निवृत्ति के निकट ले आता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय महाभारत के अनेक सदर्भो मे प्रगट होता है और भगवद्गीता मे इसका अद्भुत सामजस्य द्रष्टव्य है। डा० राधाकृष्णन के अनुसार 'गीता विरोधात्मक

तथ्यो का समन्वय करके उन्हे एक तत्र-बद्ध-समष्टि के रुप के प्रगट करती है[1]। डा० हिरियन्ना क अनुसार गीता कर्म के त्याग का नही प्रत्युत् कर्म मे त्याग का उपदेश देती है[2]। श्रीमती एनी बेसेन्ट क अनुसार गीता साधक का सन्यास के उस निम्नस्तर से जहाँ पदार्थो तथा कर्मो का त्याग किया जाता हे निष्काम कर्मयोग के उस उच्च-स्तर तक ले जाती है जहाँ कामना ओर आसक्ति का त्याग किया जाता हे ओर जहा योगी ध्यानावस्थित होते हुए भी शरीर ओर मन से लोक कल्याण के लिए कार्य करते हे। यह दृष्टिकोण वेदिक आचार-विधान का सामाजिक विकास है। जहाँ ऋत् गति अथवा स्थिति का नियामक था धर्म स्थिति के नियता-रूप मे स्वीकृत हुआ। धर्म समाज को धारण करन वाले नियमो की समष्टि रूप मे अवधारित हुआ लेकिन अनुषगत इसे मानव-हृदय-अवस्थित सहज स्वत स्फूर्त स्वयशासन रूप मे भी स्वीकृति मिली। इन विविध विचार-सरणियो के समवेत-प्रभाव के गर्भ से पुरुषार्थ-चतुष्टय' की अवधारणा का जन्म हुआ। पुरुषार्थ चतुर्धा विभक्त होकर भी मानवता एव सामरस्य की वेदिक परपरा मे एक मूल्य निश्रेणी प्रस्तुत करते हे। इस मूल्यनिश्रेणी मे परम-पुरुषार्थ मोक्ष शीर्ष-पद धारक है। अर्थ ओर काम गृहस्थाश्रम मे धर्मानुकूल होते हुए भी परम पुरुषार्थ मोक्ष के गवेषी के लिए त्याज्य है। बुद्ध-शकर युग की इन दोनो अवैदिक एव वैदिक-निवृत्यात्मक एव समन्वयात्मक चितनधाराओ मे वासना के आत्यतिक-क्षय के द्वारा ही परम-मूल्य की उपलब्धि सभव हे[4]। इस दृष्टि से मानव अनुभूति सभी दिशाओ मे सर्वत्र मूल्य-छाया या अर्थ–प्रतिविम्ब से युक्त हे ओर सभी वेषयिक उपाधियो मे दुख अथवा अनर्थ का सपर्क निरतर हे। इन दोनो ही धाराओ मे वासना क्षय के द्वारा ही परम पुरुषार्थ की प्राप्ति सम्भव है[5]।

---

1 डा० एस० राधाकृष्णन इन्डियन फिलासफी वाल्यूम I पृ० 529

2 डा० हिरियन्ना एम० आउट लाइन्स आफ इडियन फिलासफी पृ० 121

3 शर्मा चन्द्रधर-भारतीय दर्शन आलोचन एव अनुशीलन पृ 15 मोतीलाल-बनारसीदास पब्लिशर्स दिल्ली पटना वाराणसी

4 प्रो० पाण्डेय जी० सी०, मूल्य मीमासा पृ० 210 हि० ग्र० अ० जयपुर 1973

5 प्रो० पाण्डेय जी० सी० मूल्य-मीमासा पृ० 7-8, रा० हि० ग्र० अ०, जयपुर 1973

३ 2(स) भक्तिकालीन मूल्य-चेतना का स्वरूप -

मध्यकाल मे भक्ति का चरम पुरुषार्थ के रूप मे अवधारण भारतीय मूल्य चेतना के विकास का तृतीय चरण प्रस्तुत करता हे। मध्यकाल मे भक्ति के विशेष विस्तार के कारण एक नया युग प्रस्तुत हुआ। वेदान्त दीप की भूमिका मे रामानुज विशिष्टाद्वेत के तीन दार्शनिक तत्व स्वीकारते हे- ईश्वर, जिसे उपनिषदो ने ब्रह्म कहा हे ओर जो सृष्टि का निमित्तोपादान कारण है चित्त-रूप आत्मा एव अचित स्वरूप जड।[1] चित् स्वरूप आत्मा स्वरूपत अचित् स्वरूप अन्य सत्ताओ से भिन्न हे। वह मूर्त-साकल्य जिसके शरीर का निर्माण जड और आत्माये करती है। आत्मा जड शरीर मे प्रवेश करती हे ठीक वेस ही ईश्वर जड-जगत एव आत्म–जगत मे प्रवेश करता हे और उन्हे उनका वर्तमान–मूल्य प्रदान करता हे। ईश्वर के बगेर जड-जगत ओर आत्माये निर्मूल्य है। वस्तुत रामानुज का उद्देश्य ब्रह्म ओर ईश्वर, तर्क ओर श्रद्धा मे समन्वय करके तर्कमूलक श्रद्धावलबित दर्शन प्रदान करना था। धार्मिक अत प्रज्ञा से वे इस निष्कर्ष पर पहुॅचे कि " **उपनिषदो का ब्रह्म, भगवद्गीता का वासुदेव, पॉचरात्र के भगवान तथा आलवारो की अर्चा-सब एक ही परमतत्व के विभिन्न नाम हे , और उसे हम केवल भक्ति-योग से ही जान सकते है**[2]। भक्ति मूल रूप से एक भाव हे ईश्वर के प्रति असीम प्रेम है। परन्तु रामानुज उसे 'ईश्वर की उपासना" और 'ईश्वर के अपरोक्ष ज्ञान' से समीकृत कर देते हे। इसके भी आगे रामानुज ईश्वर-प्राप्ति का सरलतम् साधन शरणागति या प्रपत्ति अवधारित करते है। यह सर्व-जन-सुलभ एव सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु यहाॅ एक प्रश्न हे कि जीव के मोक्ष मे मानव-प्रयत्न ओर ईश्वरीय-अनुकम्पा का अलग–अलग क्या योगदान है? वेष्णव-वदान्ती इस प्रश्न पर मौन है और मोक्ष-प्राप्ति को ईश्वर की अहैतुकी कृपा के रहस्यमय-आवरण से आवेष्टित कर लेते हे।

ध्यातव्य है कि ओपनिषदिक परपरा मे मोक्ष उच्चतम जीवन-मूल्य और स्वयसाध्य-सर्वोच्च-जीवोपलब्धि था तथा ज्ञान भक्ति और कर्म उसके साधन-मूल्य सयुक्त रूप से अवधारित थे। परन्तु वैष्णव वेदान्ती मानव –जीवन का सर्वोच्च मूल्य भक्ति मानते है। सुस्पष्ट है कि वेष्णव-वेदान्ती जीवन क सर्वोच्च–मूल्य और साध्य के रूप मे मोक्ष की अवहेलना करते है। और मोक्ष के पारपरिक साधन भक्ति को सर्वोच्च–मूल्य या साध्य मानते है। इतना ही नही वे मुक्ति को भक्ति की चेरी मानते है[1]। इस प्रकार भक्ति का स्थान सर्वोपरि हो गया ओर वह सर्वश्रेष्ठ-सर्वोच्च साध्य-मूल्य-स्वरूप स्वीकृत और समादृत हुइ। पराभक्ति ज्ञानार्जित शुष्क-मोक्ष के ऊपर की स्थिति है, ऐसा सिद्वान्त क्रमश विकसित हुआ। तुलसीदास ने रामचरित मानस मे भक्ति को चरम पुरुषार्थ के रूप मे स्वीकृत किया है। उदाहरणार्थ बालि ने राम द्वारा अतिम अभिलाषा पूछे जाने पर मोक्ष न मागकर बालि चिरकाल तक भक्तिमय जीवन मे लीला दर्शन को ही परम-पुरुपार्थ के रूप मे मॉगा।

सुनतु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।

प्रभु अजहूँ मे पापी अत काल गति तोरि।।

सुनत राम अति कोमल वानी। बालि रीस परसेउ निज पानी।।

अचल करो तनु राखहु प्राना। बालि कहा सुनु कृपा निधाना।।

जन्म-जन्म मुनि जतन कराही। अत राम कहि आवत नाही।।

जासु नाम बल सकर कासी। देत जबहि सम गति अबिनासी।।

मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा।।

अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर मागऊँ। जोहि जोनि जन्मो कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ[1]।

इतना ही नही अर्थ और काम से भक्ति की उच्चता का आख्यान करते हुए युगपुरुष क्रॉति-द्रष्टा कविकुल गुरु भक्त शिरोमणि आचार्य तुलसी कहते हे—

कामिहि नारि पियारी जिमि। लोभिहि के प्रिय दाम।।

तिमि रघुनाथ निरतर प्रिय लागहि मोहि राम।[2]

इस प्रकार धर्मशास्त्र यद्यपि पारपरिक चार पुरुषार्थो की ही विवेचना करते है लेकिन मध्ययुग मे भक्ति पचम-पुरुषार्थ के रूप मे प्रतिष्ठित हो गई। इतना ही नही यह पचम-पुरुषार्थ पर पुरुषार्थ बन गया और पूर्व निर्धारित पुरुषार्थ-चतुष्टय अपर पुरुषार्थ' के रूप मे स्वीकृत हुए। यथा

अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहौ निर्बान। जन्म-जन्म रति राम पद यह वरदान न आन[3]।।

मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति को भाव-सपर्क से पिघले हुये चित्त का प्रवाह बताया है। रसानुभूति ही भक्ति का सार हे ओर यही भक्ति कालीन चरम मूल्य की अवधारणा।

३ 2(द) आधुनिक मूल्यवादी प्रवृत्तियॉ—

आधुनिक युग मे भक्तिकालीन रसाभिमुख्य क्रमश 19वी शताब्दी की पूर्व सन्ध्या तक कोरी भावुकता एव इहलौकिक श्रृगारिक रसिकता मे डूबने लगा।[4] इस समय भारतीय जनता का हाल

अत्यन्त बुरा था हिदुत्व की एसी जर्जर और विषण्ण अवस्था पहले कभी नही आयी थी ओर ऐसे मे भारत का शासक ऐसी जाति हो गयी थी जो पुरुषार्थ मे प्रवीण साहस मे अग्रणी ओर लाभ मे अतिशय प्रचड थी। किन्तु रिनेसॉ की उदार भावनाओ ओर फ्रान्सीसी राज्य–क्रान्ति का सॉस्कृतिक प्रभाव भारत के चितको ओर शिक्षित लोगो के बीच भली भाति रच-बस गया था। विज्ञान के आविष्कारो ने दार्शनिक चितन मे बुद्धिवाद का जोर बढा दिया। इन सबके समवेत प्रभाव मे आधुनिक युग के भारतीय मनीषिया ने अपनी परपरा की पुनर्व्याख्या का प्रयास किया। इस पुनर्व्याख्या मे आध्यत्मिक ओर मानवीय मूल्यो के समन्वय पर ध्यान केन्द्रित हुआ ओर 19वी शताब्दी मे कोरे ज्ञान और कारी भावुकता के स्थान पर सेवा ओर प्रेम का मानववादी आदर्श क्रमश प्रस्फुटित हुआ।

3.3 पाश्चात्य दार्शनिक चितन मे मूल्य-चेतना का विकास

3.3(अ) ग्रीक युगीन मूल्य दृष्टि

भारतीय आध्यात्मिक चितन परपरा से परे पाश्चात्य दर्शन की यूनानी परपरा मे दर्शन का आविर्भाव प्रकृति विषयक मीमासा से हुआ। ज्ञातव्य हे कि ग्रीक परपरा एहिक, सामाजिक और बुद्धिवादी थी। थेलीज एनाक्जिमेंडर ऐनक्जिमीनीज पाइथागोरस हेराक्लाइटस पारमेनाइडीज डेमाक्रिट्स एव एनेक्जेगोरस आदि ने विश्व के मूल तत्व को परिभाषित करने का प्रयास किया। इन प्रयासो मे पाइथागोरस की परपरा एक आध्यात्मिक सोच से जुडी थी और हेराक्लाइटस की उक्तियो मे एक प्रच्छन्न जीवन–दर्शन का आभास मिलता हे। हेराक्लाइट्स का मत है- **मेरा दर्शन इनेगिने सुयोग्य लोगो के लिए ही है** क्योकि गधो को घास चाहिए, स्वर्ण नही। हेराक्लाइटस अवनत-मार्ग और उन्नत-मार्ग का अवधारणा करते है। अवनत मार्ग तेजस्वरूप परमतत्व का अवतार या तिरोभाव (Descent or Involution) मार्ग है जबकि उन्नत-मार्ग परमतत्व के आविर्भाव या विकास (Ascent or Evolution) का मार्ग हे। उन्नत-मार्ग का अनुसरण करते हुए विज्ञान स्वरूप परमतत्व का साक्षात्कार ही मानव-जीवन का चरम-लक्ष्य है।[1] इस दार्शनिक परपरा को अग्रसारित करने का श्रेय सोफिस्टो को

है। सोफिस्टो ने दर्शन को मानव-केन्द्रित करने का प्रयास किया। प्रोटागोरस की उक्ति है कि 'मनुष्य ही सभी पदार्थो का मानदड है। त्रोन पान्तोन क्रेमाथोन आन्थ्रोपोस मेत्रोन एस्तिन । यह उक्ति मूल्यवाद की दृष्टि से उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी ज्ञान-मीमासा की दृष्टि से। भौगोलिक ज्ञान के विस्तार एव नाना समाजो के प्रचलित आचार विचारो मे विभेद से परिचित होने के कारण विचारशील यूनानी मस्तिष्क के लिए यह सहज प्रश्न था कि इस व्यवस्था भेद को धर्म या न्याय की सार्वभौमता से कैसे समातोलित किया जाय।[1] सोफिस्टो ने इस वैविध्य को मानव रुचि एव रुढि पर आश्रित होने के कारण मानव-सापेक्ष अवधारित किया। उन्होने मूल्यों को मानवापेक्षी माना।[2] इसके विपरीत सुकरात प्लेटो अरस्तु ने इस व्यवस्था-भेद का मूल विवेक-बुद्धि मे खोजा। प्लेटो ने मूल्यो के आदर्श पक्ष को उभारने का प्रयास किया। उन्होने मानव जीवन को मूल्यापेक्षी माना। प्लेटो की श्रेयमीमासा का सबसे सुविचारित एव सुव्यवस्थित प्रतिपादन फिलेबस मे मिलता है। फिलेबस का मत है कि सुख ही श्रेयस है। सुख मे केवल विशुद्ध सात्विक सुख ही ग्रहण किया गया है। इसके विपरीत सुकरात ज्ञान को सुख से श्रेष्ठ मानते है और मानव-मूल्यो की श्रेष्ठता के अनुक्रम मे इस प्रकार समायोजित करते है कि मात्र ज्ञान सर्वश्रेष्ठ मूल्य बनकर सामने आता है। प्लेटो की मूल्य विषयक धारणाए इस प्रकार सिद्ध होती हैं–

1 मूल्य बुद्धिग्राह्य अर्थ है न कि इन्द्रिय ग्राहय पदार्थ,

2 मूल्य और सत् का मौलिक अभेद,

3 मूल्य निरपेक्ष नित्य और स्वरुप-सत् विषय है, मानस धर्म अथवा मानस धर्म सापेक्ष नही

4 ज्ञान का परायण ज्ञेय और ज्ञेय मे श्रेष्ठता का सम्पर्क आकार या प्रमाण,

5 भौतिक और सामाजिक स्तर पर मूल्य का द्योतक वस्तु की नियतरुपता एव इसके घटको पर परस्पर अविरोध।

---

1 प्रो० पाण्डेय जी० सी०-मूल्य मीमासा पृ० 10 11 रा० हि० ग्र० अ० जयपुर 1973

2 तुलनीय केम्ब्रिज एन्शियेण्ट हिस्ट्री जि० 5 पृ० 376 एव बर्नेत जान-ग्रीक फिलासफी पृ० 106

इस प्रकार प्लेटो का दर्शन सोफिसटो के विपरीत मूल्यो की वस्तुनिष्ठता और बुद्धिग्राह्यता का प्राचीनतम् और प्रबलतम उदाहरण है जिसका प्रभाव समूची पाश्चात्य दार्शनिक परपरा पर पडा है। अरस्तू के दर्शन मे आचारशास्त्र की तत्वमीमासा से पृथक कल्पना की गयी है। तत्वमीमासा मे वह प्लेटो के आकार का प्रत्याख्यान करता है। अरस्तू के अनुसार वस्तुओ की निष्पत्ति द्रव्य और आकार के सयोग से होती है। इसके बावजूद वे शुद्ध एव स्वतत्र आकार की पारमार्थिकता को स्वीकार करते है और अनित्य भौतिक-जगत के ऊपर उसके प्रेरक अतिम-कारण और चरम-आकार-रुप ईश्वर की नित्य सत्ता स्वीकार करते है। ईश्वर को ज्ञान का ज्ञान या 'रुप का रुप कहा गया है।[1] ईश्वर निमित्त कारण के रुप मे सृष्टि के प्रेरक नही है बल्कि ईश्वर चरम-कारण के रुप मे सृष्टि मे प्रेरक है और स्वय अपरिवर्तित रहकर नित्य परिवर्तनो को गति देते है। दूसरे छोर पर अत्यक्त-भूत सृष्टि-प्रक्रिया के उपादान कारण है। अरस्तू ने अनित्य अव्यक्त से नित्य व्यक्त पदार्थो तक एक परात्पर श्रेणी स्वीकार की है जिसके उत्तुग शिखर पर अवस्थित दिव्य-परमार्थ की प्रेरणा शेष सभी को परिणमनशील बनाती है। इस दृष्टि से अरस्तू मे भी प्लेटो की तरह सत् मे वस्तु और मूल्य की एकता अक्षत रहती है।[2] अरस्तू के दर्शन मे मूल्य, मानव–मूल्य और नैतिक मूल्य का विवेक मिलता है। मूल्य स्वतत्र सत् है और उसकी मूल्यवत्ता उसके विश्व-प्रक्रिया के लिए परमलक्ष्य या परमाकर्षक पद होने मे है। यह परमार्थ देव-पद का नित्य-विषय है। प्लेटो और अरस्तू दोनो ही इस बौद्धिक परमार्थ दर्शन को चरम-मानव मूल्य या परमार्थ मानते है। मानव मूल्य क्या है ? यह अरस्तू के आचार-शास्त्र का मुख्य प्रश्न है। इसके उत्तर मे कहा गया है कि प्रत्येक मानव-प्रवृत्ति किसी अर्थ को लक्ष्य बनाकर गतिशील होती है। अत एक अर्थ वह है जिसको सभी अपना लक्ष्य बनाये। इस प्रकार मानव-मूल्य मानवीय प्रवृत्तियो का वास्तविक लक्ष्य है। अरस्तू ने मानव-मूल्य के लिए 'युदाइमोनिया' शब्द प्रयुक्त किया है।[3] यूदाइमोनिया का अर्थ है,- सुदैव या देव-रक्षितता। सामान्य

---

1 रौस स० अरिस्टोटल सलेक्शन्स पृ० 116

2 प्रो० पाण्डेय जी० सी०-मूल्य मीमासा कृ० 1973 पृ० 16 रा० हि० ग्र० अ० जयपुर

जीवन का सूक्ष्म चित्रण नही मिलता। अरस्तू ने नेतिक कर्तव्य क महत्व का विशेष विचार नही किया और न अपन आदश जीवन मे काम और कला क गवेष्य सोन्दर्य को कोई स्थान दिया।

प्लेटो और अरस्तू की अत्यधिक ज्ञान प्रधान बुद्धिवादी मूल्य चितन परपरा का परवर्ती विकास जिन क्षितिजो की ओर हुआ उनके व्याख्याता एपीक्यूरस ओर स्टोइक थे। ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के अन्त तक वह सामाजिक ओर राजनेतिक परिवेश भी बदलने लगा था जिसमे प्लेटो अरस्तू ने अपने नेतिक एव मानव मूल्यो का निर्धारण किया था। क्रमश मकदूनिया ओर रोम के उदय से जो राजनीतिक--सामाजिक व्यवस्था अस्तित्ववान हुयी उसमे व्यक्ति एक विराट विश्वग्रासी व्यवस्था का अग बन गया। पुरान नगर राज्य मे व्यक्ति समाज के साहचर्य मे था तथा नागरिक राजनीतिक जीवन म उसकी स्वाभाविक ओर अनिवार्य सहभागिता थी ओर उसी परिवेश मे वह अपने जीवन की सार्थकता का अनुभव करता था। नवीन राज्य व्यवस्था मे राज्य-सचालन कुछ लोगो के हाथ मे रह गया ओर नागरिक के लिए राज्य मे भाग ग्रहण से जीवन मे सार्थकता बोध का सहज आभास लुप्त हो गया। फलत विचारशील लोग निजीजीवन मे भौतिक अथवा आध्यात्मिक सार्थकता के सूत्र खोजन लग। अब तक एन्टिस्थनीज एव एरिस्टिपस ने सुकराती आदर्श की विभिन्न व्याख्याओ के रूप मे सिनिक ओर सिरनेइक सप्रदायो की स्थापना कर दी थी। जीनो एव एपीक्यूरस ने इसका नवीन रूपान्तर ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के अन्त मे प्रस्तुत किया।

एपीक्यूरस और स्टोइक प्रस्थान हैलेनिस्टिक और रोमन युग की विचारधारा के दो रूप है। एपीक्यूरस का दर्शन सुखवादी है। उसके अनुसार दर्शन जीवन को सुखी बनाने का एक साधन हे ओर जीवन की सार्थकता सुखिता मे है। नाना सुखो मे वह कोई मौलिक गुण-भेद नहीं मानता। सुखो म केवल परिमाण-भेद ही उसे स्वीकार है, लेकिन एपीक्यूरस सुखवादी होकर भी सुखासक्ति का पेरोकार नही है। क्योकि उसे सुखिता की बुनियाद सयम और सादगी मे दिखती है और उसे पता है कि शारीरिक मानसिक आरोग्य, शान्ति धैर्य और पुरूषकार के बगैर सुखी जीवन की प्रत्याशा व्यर्थ है।

स्टोइक सम्प्रदाय के अनुसार जीवन की परम सार्थकता उसकी सुखिता में न होकर साधुता में है। स्टोइक मत का उत्कृष्ट बुद्धिवाद एक प्रकार की श्रद्धा के निकट आ जाता है जो सारी प्रकृति में ऋत के समान एक आतरिक और दिव्य नियम को व्याप्त मानता है। समाज भी स्वरूपत प्राकृतिक नियम पर आधारित है। एक विश्व समाज है और व्यक्ति का धर्म विश्व-नागरिक के रूप में अपनी स्थिति के अनुरूप कर्तव्य पालन है। इस प्रकार स्टोइक मत मनुष्यों को उनके नाना समाजो के पृथक-पृथक और सकीर्ण व्यवस्थाओ के परे एक बुद्धिगम्य विश्व-नियम के बधन (बन्धुत्व) मे देखता है। किन्तु ये बुद्धिवादी धारणाये लोगो को अन्तिम रूप से सतुष्ट नही कर सकी और क्रमश ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार और अतत साम्राज्य द्वारा स्वीकार ने दार्शनिक मूल्य विचितन परपरा को एक सर्वथा नया मोड दिया।[1]

१ ३(ब) मध्यकालीन मूल्य-चितन

ईसाई धर्म लोक जीवन की तुच्छता और अमर जीवन की सभावना का सार्वभौमिक सदेश लेकर आया। उसका आधार हृदय की श्रद्धा न कि बौद्धिक तर्क थी, और वह समाज मे अब तक उपेक्षित दरिद्र पीडित और दास वर्ग की ओर उद्दिष्ट था। अरस्तू के प्रकृति सिद्ध दासता के स्थान पर वह मानव मात्र की बराबरी का सदेश लेकर आया। बोद्धिक ज्ञान और उससे निर्धारित नेतिकता के स्थान पर ईसाई धर्म ने ईश्वरीय सदेश मे श्रद्धा के आधार पर लौकिक भोगो के त्याग ईश्वर-भक्ति और विश्व-प्रेम को व्यक्ति और समाज के लिए प्रधान मूल्यो के रूप के स्वीकार किया।[2] इस मत मे सुख की चाहना को सहज मानव धर्म माना गया है। दुखरहित, नित्य और निरतिशय सुख की प्राप्ति ही परम-पुरुषार्थ है, जिसे अनादि वासना या जन्म-सिद्ध पाप के कारण मनुष्य प्राप्त नही कर पाता। श्रद्धा भक्ति, सदाचार और ईश्वरानुग्रह से मनुष्य मृत्यु से अनन्तर ईश्वर का दर्शन प्राप्त कर

---

1 प्रो० पाण्डेय जी० सी० मूल्य मीमासा पृ० 20 22 रा० हि० ग्र० अ० 1973

2 वही पृ० 22 23

इस चरम पुरुषार्थ की सिद्धि कर सकता है। इस दृष्टि से मूल्य के दो अर्थ निकलते है-परमार्थ अथवा सत रूप अर्थ और इष्ट रूप अर्थ अथवा पुरुषार्थ। परमार्थ ईश्वररुप है जिसमे वास्तविकता और अच्छाई अपने चरमोत्कर्ष मे नित्य विद्यमान रहते है। पुरुषार्थ सुखरुप है जो मनुष्य की सहज-प्रवृत्ति का सहचर है।[1] मनुष्य अपनी प्रवृति के विषय को समझने मे दिग्भ्रमित हो सकते है अपने पौरुष का मिथ्या प्रयोग कर सकता है। अस्तु ईश्वर उसके मानस-कुंज मे विवेक–ज्योति की प्रतिष्ठापना करता है जिसके सहारे सदसत-त्याग करता हुआ वह पवित्र-जीवन जी सकता है। किन्तु स्वच्छद इच्छा-शक्ति को विवक का वशवर्ती बनाकर भी वह दिव्य अनन्त और अमर जीवन के अभिलाषा से वचित सिर्फ जागतिक सुखो तक सकुचित रहेगा। श्रद्धाईश्वर-प्रदत्त सदेश मे विश्वास और भक्ति-लोक जीवन से परे लोकोत्तर दिव्य-सत्य की ओर निर्दिष्ट मानवेच्छा तथा हृदय का समग्र झुकाव है। श्रद्धा-भक्ति ही के दिव्य-जीवन पुरस्कर्ता है। श्रद्धा-भक्ति अर्जित ईश्वरानुग्रह मनुष्य को अतिमानवीय ज्ञान-शक्ति और दिव्य-जीवन प्रदान करता है। इस प्रकार ईसाई धर्म न केवल परमार्थ मे भेद करता है प्रत्युत पुरुपार्थ के भी दो भेद स्वीकृत करता है—प्राकृत मानव-हित यानी इहलौकिक सुख और अप्राकृत मानव-सुख यानी स्वर्ग। प्राकृतिक जगत का अश होकर भी मानव स्वर्गच्युत् ईश्वर-पुत्र है, अस्तु उसके जीवन की चरम मूल्यवत्ता ईश्वर मे निहित है। मनुष्य अल्पज्ञता और स्वच्छन्दता के वशवर्ती ईश्वर-विमुख होकर पाप ग्रस्त होता है और ईश्वर की अहैतुक कृपा उसे पाप-मुक्त करके लोकोत्तर जीवन का सहभागी बनाती है।[2] इस प्रकार पाश्चात्य मूल्य-विचिन्तन परपरा की प्राचीन और मध्यकालीन अवधारणा मे एक चरम मूल्य की स्वीकृति मिलती है। प्राचीन काल मे यह चरम मूल्य सभी सत्ताओ के लिए आदर्श भूत अतीन्द्रिय ज्ञानगम्य और सदात्मक है तथा मानव जीवन की सार्थकता इहलोक मे समाज के अन्दर है। मध्यकाल मे इसे भक्तिलभ्य पुरूषोत्तम से सगीकृत किया गया और मानव जीवन की सार्थकता परलोक मे अवधारित की गयी। मध्यकाल का अन्त एक नई

---

1 तु० कोपल्सटन एक्विनास पृ० 180

2 प्रो० पाण्डेय जी० सी० मूल्य-मीमांसा पृष्ठ 23-24

एहिकता और बोद्धिकता के विकास तथा चर्च के प्रभाव के ह्रास के साथ हुआ। इस युग मे चर्च धार्मिक श्रद्धा का केन्द्र था लेकिन उच्च-मूल्यो से पतित तत्कालीन चर्च लोक-श्रद्धा का प्रतीक बनने के सर्वथा अयोग्य था। इससे श्रद्धा का ह्रास हुआ धार्मिक श्रद्धा के ह्रास से परलोक और उसके साधन भक्ति के प्रति उपेक्षा का भाव उपजा।[1]

३.३(स) आधुनिक मूल्यवादी प्रवृत्तियॉ

आधुनिक युग प्राकृत मानव-जीवन के बहुमुखी विकास को ही सर्वप्रमुख मानव-मूल्य मानती है। आधुनिक युग मे मूल्यो को मानवीय राम कहानी के स्वतत्र, विकासोन्मुख-उद्योग की उपलब्धि के रुप म समझने की नई प्रवृत्ति मिलती है। यह प्रवृत्ति मनुष्य को दृष्टि पथ मे केन्द्रित करके चिन्तन पथ पर पाव रखती है। यह दृष्टि 'मानव–केन्द्रतावाद' कही जा सकती हे जिसमे मूल्य तार्किक परीक्षा एव मानवीय अपेक्षा की कसौटी पर कसकर ही अपनी अर्थवत्ता प्राप्त करते है। इस दृष्टि से धर्म और दर्शन की जगह विज्ञान ने ले लिया और सर्वोच्च ईश्वर पद पर मानव एव मानव समाज की प्रतिष्ठा हुई। इस नवीन चेतना के आलोक मे **व्यक्ति-स्वातंत्र्य** और **"भावी समाज की ओर प्रगति"** प्रधान मूल्य के रुप मे समादृत हुए। जिसमे मूल्य नित्य पद से उतर कर जैव या सामाजिक विकास के अग बन गये है।[2] हेगेल मार्क्स, काण्ट स्पेन्सर नीट्शे बर्गसा ह्वाइटहेड इत्यादि ने मूल्यो को विभिन्न रुपो मे विकास की प्रक्रिया के अन्तर्गत माना है। वैज्ञानिक, आर्थिक एव प्रोद्योगिक प्रगति ने जनता के कल्याण को एक नया आयाम प्रदान किया। इस दृष्टि से सामाजिक जीवन स्वय एक प्रधान मूल्य के रुप स्वीकृत हुयी है। भौतिक-सामाजिक जीवन के स्तर का निरतर उत्कर्ष सर्व-स्वीकृत प्रमुख मूल्य के रुप मे प्रतिष्ठित हुआ है। नवीन सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि ने स्वतत्रता समानता एव सौभात्र (बंधुत्व) को मूल्य पद पर प्रतिष्ठित किया है। सामाजिक प्रगति के साथ व्यक्ति

सत्य एक परम-मूल्य के रुपमे विचिन्तित हुआ है। लॉक मिल और मोल्श इस पक्ष के विभिन्न रुपो के उदाहरण है। संक्षेप मे आधुनिक विचारको ने पारम्परिक बुद्धित्व और ईश्वरीय श्रद्धा को संदिग्ध और अस्वीकार्य कर दिया है। धार्मिक अन्धविश्वास और उसकी सिद्धि के लिए प्रयुक्त शास्त्रीय निगमनात्मक तर्क के विरुद्ध वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक तर्कबुद्धि एव आगमनात्मक-तर्क पद्धति का आलम्ब। आधुनिक युग की विशेषता है। आधुनिक युग है स्वातन्त्र्य का युग-व्यक्ति स्वातन्त्र्य का युग धार्मिक परपरा और प्रभुत्व के प्रति विद्रोह का युग दर्शन की धार्मिक दासता से मुक्ति का युग विचार-भावना कर्म स्वातन्त्र्य का युग निष्पक्ष और स्वतत्र आलोचना का युग भोतिक विज्ञान के प्रबल अभ्युदय का युग एव सस्कृति और कला के उत्थान का युग तथा प्रगतिशील जनजागरण का युग। पाश्चात्य जगत का यह काल सास्कृतिक पुनर्जागरण (Renaissance) और धर्म सुधार आन्दोलन का समय है। इस जनजागरण ने पारलोकिक ईश्वरीय आनन्द की धारणा को निर्मूल करके इहलोकिक जीवन की सुख-समृद्धि को स्वीकार्य बनाया। आधुनिक दृष्टि मूल पाप की धारणा से मुक्त होकर मानव जीवन और उसकी चुनोतियो पर केन्द्रित है। जीवन के सुख-साधन ही प्रधान मूल्य के रुप मे स्वीकृत हुए है।[1] मानव जीवन की समझ ही सत्य की समझ है और इसका एकमात्र साधन इन्द्रियानुभूति है न कि धार्मिक बोद्धिक कल्पनाये।

अध्याय 4

सांस्कृतिक नवजागरण एवं धर्म–सुधार आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में नवीन मूल्यों का प्रादुर्भाव

भारतभूमि वह प्राचीन और पवित्र भूमि है जिसने सम्पूर्ण विश्व मे सद्मूल्यो को स्थापित किया है। तत्व ज्ञान ने भी सर्वप्रथम इसी भूमि को वास–भूमि बनाया। यही से आध्यात्मिक प्रवाह हिमालय के उच्च शिखर से सम्पूर्ण विश्व मे प्रवाहित हुआ। यह वही भारत भूमि है जहाँ ससार के सर्वश्रेष्ठ ऋषियो की चरणरज पड चुकी है। यही सबसे पहले मनुष्य प्रकृति तथा अन्तर्जगत के रहस्योद्घाटन की जिज्ञासाओ के अकुर उगे थे। इसीप्रकार आत्मा का अमरत्व, अन्तर्यामी ईश्वर एव जगत् प्रपच तथा मनुष्य के भीतर सर्वव्यापी परमात्मा-विषयक मतवादो का पहले-पहल यही उद्भव हुआ था। यही पर धर्म और दर्शन के आदर्शों ने अपनी चरम उन्नति प्राप्त की थी।[1] भारत की इसी पुण्य–भूमि को पुराणो मे भरतवर्ष या भारतवर्ष' कहा गया है। खारवेल के अभिलेख मे इस शब्द को भरधवस कहा गया है। मार्कण्डेय पुराण (57/59) के अनुसार भारतवर्ष के पूर्व, दक्षिण एव पश्चिम मे समुद्र एव उत्तर मे हिमालय है। विष्णु पुराण (2/3/1) मे भी यही उल्लेख है। मत्स्य वायु आदि पुराणो मे भारतवर्ष कुमारी अन्तरीप से गगा तक कहा गया है। जैमिनी के भाष्य मे शकर ने कहा है कि हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक भाषा एव सस्कृति मे एकता है।[2] विष्णु पुराण ने भारतवर्ष को स्वर्ग एव मोक्ष की प्राप्ति के लिये कर्म-भूमि माना है। वायु पुराण मे भी यही बात दुहराई गई है।

अपनी गौरवमयी सास्कृतिक परम्परा के कारण ही सैकडो वर्षो तक पराजित रहने के बाद भी भारतीय सस्कृति अपने पुण्य प्रताप एव ईश्वर की कृपा से विलुप्त नही हुई। सैकडो विपरीत परिस्थितियो के बीच रहने पर भी भारतीय सस्कृति अपनी रक्षा करने मे समर्थ सिद्ध हुई है। बौद्ध-धर्म

---

1 विवेकानन्द साहित्य पचम खण्ड पृष्ठ 179

2 धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम खण्ड), डॉ० पी० वी० वामन काणे पृष्ठ 107, 108

के अवसान-काल मे ऐसे अनेक तत्व हमारे देश की संस्कृति मे प्रवेश कर गये जिनसे देश का पूर्णतया पतन हो सकता था। उनमे से कई दोष हमारे हिन्दू धर्म मे भी समाहित हो गये थे। बौद्धो के नैतिवाद और बिना विचार के सन्यास ग्रहण की प्रथा ने भारतीय समाज को कर्म-विमुख और दुर्बल कर दिया था।[1] समाज मे अनेको कुप्रथाएँ व्याप्त थी। ऐसे वातावरण मे हिन्दू-समाज अपने को विविध बन्धनो मे बाधने लगा था। विदेश-गमन प्राय निषिद्ध हो गया तथा हिन्दू राजशक्ति के अभाव की पूर्ति करने के लिए समाज के संरक्षण की व्यवस्था पुरोहितो ने अपने हाथ मे ले ली। मुसलमानो के द्वारा जबर्दस्ती धर्म-परिवर्तन कराए जाने से अपनी रक्षा के लिये हिन्दुओ की जाति-भेद और [illegible] पर बाध दी गयी थी। मुसलमानो का अनुकरण करते हुए नारियो की पर्दा-प्रथा को हिन्दू समाज ने भी स्वीकार कर लिया था। धीरे-धीरे ऐसी अव्यवस्था हो गयी थी कि स्वाभाविक और सबल मार्ग के सहारे आत्म-विकास का अवसर न प्राप्त होने के कारण समाज ने वीभत्स-वामाचार आदि गोपनीय क्रिया-कर्मो का सहारा ले लिया। धर्म के नाम पर एक अन्तर्घाती दुराचार भारतीय समाज मे आसीन हो गया। विदेशियो के द्वारा भारतीयो के सुख और स्वच्छन्दता के शोषण अपनी धन सम्पदा की वृद्धि और भोग व्यवस्था मे मन लगाने से भारत मे दरिद्रता बढ गयी। रोग, अकाल मृत्यु, दुर्भिक्ष आदि धीरे-धीरे बढने लगे। वस्तुत धर्म शिक्षा समाज-व्यवस्था उद्योग वाणिज्य संस्कृति आदि सभी क्षेत्रो मे उन दिनो भारत-पतित और पदभ्रान्त हो गया था। ऐसा लगता था मानो भारतीयो की भारतीयता शीघ्र ही पूरी तरह मिट जाएगी।[2]

तत्कालीन भारतीय दुर्व्यवस्था के युग मे अनेक विदेशी शक्तियो ने यहाँ पर अपना प्रभाव बढाया। इसी समय पश्चिमी जातियो का भी आगमन हुआ। डच, पुर्तगाली, फ्रॉसीसी आदि विदेशियो के बाद अग्रजो का आगमन हुआ। इन पश्चिमी जातियो की एक अलग ही प्रकार की सस्कृति थी। ये जातिया प्रमुख रूप से व्यापार के बहाने धन लूटने के लिये यहाँ आई थी।[3] अपने लक्ष्य की प्राप्ति

---

1 युगनायक विवेकानन्द (प्रथम भाग), स्वामी गम्भीरानन्द पृष्ठ ४

2 युगनायक विवेकानन्द (प्रथम भाग) स्वामी गम्भीरानन्द पृष्ठ ९

के लिए उन्होंने अपनी संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया। अंग्रेजी ने अपनी संस्कृति को भारतीय संस्कृति की अपेक्षा श्रेष्ठ साबित करने का प्रयास किया। उन्होंने ने केवल बाह्य जगत में बल्कि-मनोजगत पर भी अधिकार स्थापित कर एक दीर्ध-काल तक अपने शासन-करने का सुख स्वप्न देखा।

अंग्रेजों ने भारत मे एक ऐसी शिक्षा प्रणाली स्थापित करने की योजना बनाई जो उन्ही के उद्देश्य को पूरा करने में सहायक सिद्ध हो। अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली की स्थापना कर वे पाश्चात्य-संस्कृति समर्थक एक वर्ग तैयार करना चाहते थे। पाठ्य-पुस्तको, समाचार-पत्रो एव धर्म-प्रचार के माध्यम से सरल भाषा मे भारतवासियों को यह समझाने का प्रयास किया जाता था कि भारत वर्ष की अपनी कोई विशेषता नही है जिसे आधुनिक विश्व मे बचाकर रखना आवश्यक हो। प्रगतिशील बनने के लिए भारत को सब कुछ विदेशो से ही ग्रहण करना होगा। वेश-भूषा भोजन शिष्टाचार व्यक्तिगत नाम आदि सभी क्षेत्रों मे पाश्चात्य संस्कृति का सम्मान बहुत अधिक है।[1]

अंग्रेजो ने अतीत काल मे भारतीयो द्वारा की गई विज्ञान के क्षेत्र मे उन्नति के विषय मे कहा कि यह उन्नति वस्तुत दूसरी सभ्यताओ की सहायता से ही सम्भव हुई थी। मौलिकता भारत की न है बल्कि यूनान मिस्र या अरब की थी। भारत की जो निजी वस्तु है, उसका मूल्य तुलनात्मक दृष्टि से नगण्य है। पश्चिमी विद्वानो ने भारतीय सभ्यता सस्कृति, वेदान्त, वेद और धर्म की तीव्र आलोचना की। उस समय जिस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था की गई थी उसे स्वामी विवेकानन्द जी के शब्दो में **"नेति मूलक-शिक्षा"** कहा जा सकता है।[2] नेतिमूलक शिक्षा-व्यवस्था से किसी देश का कल्याण नही हो सकता क्योंकि यह शिक्षा-प्रणाली अपने देश की सस्कृति पर आधारित न होकर दूसरे देश की संस्कृति पर आधारित और अन्ध अनुकरण का परिणाम होती है।

---

1 युगनायक विवेकानन्द प्रथम खण्ड स्वामी गम्भीरानन्द, पृष्ठ 6,,

तत्कालीन परिस्थिया मे अग्रेजो ने भारतीयो मे दास-सुलभ दुर्बलता का बीज बो दिया था। उन दिनो शिक्षित वर्ग अग्रेजो के समान खान-पान वेश-भूषा आदि को ही अपनाने मे व्यस्त रहता था। खुलेआम अभक्ष्य भोजन और मदिरापान करना सभ्यता का अग माना जाता था।[1] अग्रेजो ने भारतीय सभ्यता और सस्कृति की तीखी आलोचना की। परिणामस्वरूप १८ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही भारतीय-सामाजिक-व्यवस्था का वातावरण कई प्रकार की विरोधी आलोचनाओ भौतिकवाद और घोर नास्तिकता के द्वारा विषाक्त हो गया था। जहाँ एक ओर ईसाई-मिशनरिया हिन्दू-धर्म की निन्दा कर रही थी वही वे छल-बल का प्रयोग कर हिन्दूओ का धर्म-परिवर्तन करवाने मे लगी हुई थी। वही दूसरी ओर धर्म-विमुख पश्चिमी विज्ञान अपनी सफलता के गर्व से चूर-चूर होकर श्रद्धा-भक्ति गुरु-परम्परा इतिहास-पुराण, रीति-नीति आदि को लुप्त कर देने का जैसे निश्चय कर चुका था।[2] इस पश्चिमी धर्म और विज्ञान के दुहरे आक्रमण के समक्ष भारतीय धर्म और सस्कृति का टिके रहना बहुत आसान नही था।

हमारे देश ने अपनी अन्तरात्मा मे हजारो वर्षो के अतीत के गौरव को सजोए रखा है। पूर्व कालीन मनीषियो और शास्त्रो के द्वारा दिखाए गए पथ पर चलकर ही हमने सैकडो बाधा-विपत्तियो को लाधते हुए युगोपयोगी नई साधनापद्धतियो का आविष्कार किया है। यही कारण है कि अग्रेजो द्वारा चलाये गये दुष्प्रचार और कुव्यवस्थाओ के होते हुए भी यह देश इतनी आसानी से नष्ट नही हो सका।[1] भारत के भाग्य-विधाता ऐसा होने भी नही देगे, क्योकि ऐसा होने पर ससार से एक ऐसी वस्तु सदा के लिये लुप्त हो जायेगी, जिसकी पूर्ति असम्भव है।

अत निराशापूर्ण बदलाव की दिशा मे प्रतिक्रिया की शुरुआत हुई। भारत की आत्म-रक्षा की शक्ति धीरे-धीरे स्थिरता के लिये तत्पर हुई। आरम्भ मे इस शक्ति की स्थापना पूरी तरह सफल न

---

1 भारतीय धर्म और सस्कृति डॉ० रामजी उपाध्याय पृष्ठ 11।

2 युगनायक विवेकानन्द (प्रथम खण्ड) स्वामी गम्भीरानन्द पृष्ठ

सकी। परिस्थितिवश पश्चिमी भावो के साथ परस्पर तालमेल कर चलने का मार्ग ही चुनना पडा। एक पराजित जाति सुलभ मनोवृत्ति को लेकर तत्कालीन भारतीय-समाज सभ्य जगत मे बहुत ऊँचा न होने पर भी अपने अनुरुप सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील हुआ था। वह हीन परिस्थितियो मे पडकर पाली। परम्पराओ से अपना नाता तोड चुका था। उस समय भारतीयो को एक और धक्का लगा। वह था-ईसाईयो का धार्मिक जोश।[1] पश्चिमी प्रभाव से लोग प्राचीन धार्मिक मान्यताओ सामाजिक प्रथाओ नैतिक सहिताओ पारम्परिक नियमो सास्कृतिक आदर्शों को छोडकर नए जीवन मूल्य अपनाने लगे। सक्रमण की इस स्थिति ने भारतीय समाज को मध्य-काल से आधुनिक काल मे परिवर्तित कर दिया।[2]

उन्नीसवी सदी मे अनेको ऐसी परिस्थितिया उत्पन्न हो गई जिनसे समाज मे पुनर्जागरण का कार्य आरम्भ हुआ। उदाहरणस्वरुप प्राचीन धार्मिक रुढियो तथा कर्मकाण्डो का क्रमश जटिल तथा कष्टकर होते जाना पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव, अग्रेजी शिक्षा का प्रसार ईसाई पादरियो के द्वारा मिशनरी प्रचार पाश्चात्य विद्वानो की पुस्तको का भारतीय बौद्धिकजनो पर प्रभाव। नयी आर्थिक परिस्थितिया का सृजन भारतीय समाज मे समाचार पत्रो का प्रभाव। सामाजिक क्षेत्र मे विविध कुप्रथाए सस्कार, रुढियो भेद-भाव का पक्षपात का बोलबाला था। सामाजिक विघटन व विश्रृखलता की स्थिति थी। सती बाल-विवाह, विधवाओ की निर्मम दुर्दशा कुलीन प्रथा, बहुपत्नीत्व आदि का पूर्ण साम्राज्य था।[3]

राजनैतिक दृष्टि से भारत दासता की बेडियो मे कसता जा रहा था। केन्द्रीय शासन का सर्वथा अभाव था। राजाओ की अलग सत्ता थी। जो परस्पर लडने-झगडने मे व्यस्त रहा करते थे। इन नरेशो मे आपस मे अविश्वास व्याप्त था। भारतवासियो मे राष्ट्रीयता के भावो का अभाव था।

---

1 भारतीय धर्म और सस्कृति, – डॉ० रामजी उपाध्याय पृष्ठ 113

2 भारतीय सामाजिक चिन्तन और आन्दोलन, ओम प्रकाश वर्मा, डॉ० जय सिह पृष्ठ 109

3 भारत मे अंग्रेजी राज (द्वितीय भाग) डॉ० सुन्दर लाल, पृष्ठ 800

दूसरी ओर अग्रेजो मे कूटनीति और भेद-नीति का पल्ला भारी था।[1] इस स्थिति मे दासता के अवमूल्यो का नाश अपरिहार्य हो गया था।

प्राचीन काल मे भारत की जिस प्रकार व्यावसायिक उन्नति हुई थी उसका प्रमाण विदेशी इतिहासकारो के बहुत से लेखो मे भी मिलता है। उन दिनो सूती ऊनी और रेशमी तीनो ही प्रकार का अच्छा से अच्छा कपडा इस देश मे तैयार होता था। चीनी-मिट्टी के बरतन लकडी की वस्तुए चमडे के सामान अच्छी से अच्छी वार्निश नारियल का तेल मजबूत और खूबसूरत रस्सिया चाय अरारोट चटाइया साबुन और कागज आदि भारतीय व्यवसाय के प्रमुख अग थे। ये सभी चीजे भारत से इगलेण्ड को जाया करती थी। इसके अतिरिक्त चीन, जापान, लका, ईरान, अरब, मिश्र, इटली और अफ्रीका भारतीय व्यवसाय के केन्द्र हो गए थे। इस बढे हुए व्यापार ने ही ससार के दूसरे देशो के मुकाबले भारत को सम्मानित स्थान प्रदान कर रखा था।[2]

कम्पनी के डाइरेक्टरो ने भारतीय व्यापार के साथ जो नीति अपनायी उसका नतीजा यह हुआ कि उससे भारतीय व्यवसाय अपनी अन्तिम अवस्था मे पहुँच गया।[3] औरगजेब के समय तक भारत के बन्दी अग्रेज व्यापारियो की हालत करीब-करीब वैसी ही थी जैसी कि 1928 मे भारत मे हीग बेचने वाले काबुलियो या शिलाजीत बेचनेवाले तिब्बतियो की थी। हिन्दुस्तान उस समय अपने देश की आवश्यकताओ के लिए किसी भी अन्य देश पर निर्भर न था। ईश्वर ने भारतवासियो को उपयुक्त जलवायु प्रदान की है। उनकी भूमि अत्यन्त उपजाऊ है, उस पर यहॉ के लोग काफी दक्ष है। इन्हीं सब कारणो से भारतवासी अपनी सभी आवश्यकताए पूरी कर सकते थे। उस समय अग्रेजी उद्योग-धन्धो की स्थिति भारतीय उद्योग-धन्धो के मुकाबले जर्जर थी। अग्रेज अपने देश मे बने हुए कपडे भारत मे लाकर बेचने का स्वप्न मे भी विचार नही कर सकते थे।

---

1 भारत मे अग्रेजी राज (द्वितीय भाग) डॉ० सुन्दर लाल पृष्ठ ४14

2 भारत मे अग्रजी राज के दो सौ वर्ष केशव कुमार ठाकुर पृष्ठ 221

3 भारत मे अग्रेजी राज के दो सौ वर्ष केशव कुमार ठाकुर पृष्ठ 226

4 भारत मे अग्रेजी राज (द्वितीय भाग) डॉ० सुन्दर लाल पृष्ठ ४7८

अग्रेजा ने गोवध की शुरुआत करवाई। सम्राट अकबर ने जो अपनी प्रजा का सच्चा शुभचिन्तक था और समस्त हिन्दू मुसलमानो ओर अन्य धर्मावलम्बियो को समान दृष्टि से देखता था अपन साम्राज्य मे गाय का वध बन्द करवा दिया था। उसके उत्तरधिकारियो ने भी इसी नीति का पालन किया था किन्तु अग्रेजो ने मथुरा जेसे पवित्र स्थल पर गाय का वध करवाया। मद्रास प्रान्त की हिन्दुस्तानी सना को आज्ञा दी गई थी कि कोई सिपाही परेड के समय ड्यूटी पर या वर्दी पहने हुए अपन माथे पर तिलक आदि धार्मिक चिह्न न लगाए और न ही कानो मे बालिया ही पहने। हिन्दू-मुसलमान सभी सिपाहिया का हुक्म दिया गया कि अपनी दाढिया मुडवा ले।[1] इसीप्रकार से सामाजिक आर्थिक व्यावसायिक धार्मिक और राजनीतिक प्रत्येक क्षेत्र मे अग्रेजो ने भारतीयो का शोषण किया।

अग्रेजा द्वारा दिये गए उत्पीडन का भारतीयो पर सकारात्मक प्रभाव भी पडा।[2] इसके परिणामस्वरुप देश मे नवीन सास्कृतिक चेतना का सूत्रपात हुआ। भारतीय सस्कृति के इस नवजागरण के कारण ही 19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हम भारतीय इतिहास के जीवन मे पुनर्निर्माण और पुर्नसस्कार की प्रबल आकाक्षा की अभिव्यक्ति पाते है। यह अभिव्यक्ति 19वी शताब्दी के अन्त (उत्तरार्द्ध) एव 20वी शताब्दी के पूर्वार्ध मे भारतीय और अन्य सस्कृतियो के सघर्ष या प्रतियोगिता ओर समन्वय की प्रक्रिया द्वारा हुई।

इस नवीन चेतना को मुखरित करने वाली प्रेरक शक्तियो पर सक्षिप्त रुप मे विचार कर लेना अत्यधिक प्रासगिक है।

4 1 नवीन प्रेरक शक्तियाँ

4 1 (अ) साहित्यिक संस्थाएँ

1 भारत मे अग्रेजी राज (द्वितीय भाग), डॉ० सुन्दर लाल पृष्ठ 820

2 भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, ए० आर० देसाई पृष्ठ 10

(1) एशियाटिक सोसायटी आफ बगाल

भारत मे प्रवेश करने के पश्चात् अग्रेजो ने जहाँ एक ओर अपनी राजनैतिक प्रभुता–प्रसार ओर आर्थिक वृद्धि की ओर ध्यान दिया। वही दूसरी ओर भारतीय साहित्य एव सस्कृति के अध्ययन की आर भी ध्यान दिया। अनेक अग्रेज साहित्य प्रेमियो ने भारतीय सस्कृति के मूल्याकन के लिये भी प्रयत्न किया जिसकी अभिव्यक्ति नवीन साहित्यिक सस्थाओ द्वारा हुई। ऐसी सस्थाओ मे सर्वप्रथम स्थान एशियाटिक सोसायटी ऑफ बगाल' का है। प्राच्य भाषा साहित्य और सस्कृति के प्रेमी सर विलियम जोन्स की प्रेरणा से इस सस्था की स्थापना हुई। वे बहुभाषाविद् थे। प्राच्य विद्या म अभिरुचि के कारण ही उन्होने एशियाटिक सोसायटी ऑफ बगाल" की स्थापना की जिसका उददश्य था-एशिया के साहित्य, कला, विज्ञान ओर प्राचीन इतिहास का अध्ययन तथा खोज करना।[1] वे ही इस सस्था के प्रथम अध्यक्ष हुए। इन्ही उद्देश्यो को लेकर बम्बई और मद्रास मे भी इसी प्रकार की सस्थाओ की स्थापना हुई। 1823 मे हेनरी टामस कोल बुकर (1765-1839) ने लदन मे **'रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन' एण्ड आयरलैण्ड** की स्थापना की। इन सस्थाओ के द्वारा भारत की प्राचीन भाषा (सस्कृत) सस्कृति (इतिहास और दर्शन) से परिचय प्राप्त करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इन सस्थाओ से प्रेरणा प्राप्त करके अनेक देशी और विदेशी विद्वानो ने इस दिशा मे अपना अमूल्य योगदान दिया और उन विद्वानो का ध्यान देशी भाषाओ और साहित्यो की खोज और उनके अध्ययन की ओर भी गया।

(2) **फोर्ट विलियम कॉलेज**

देशी भाषाओ के माध्यम से प्राच्य विद्या का ज्ञान प्राप्त करने में फोर्ट विलियम कॉलेज का महत्वपूर्ण स्थान है। इस कॉलेज की स्थापना 1800 मे लार्ड वैलेजली ने की थी। इस कॉलेज के तत्वावधान मे उन ब्रिटिश प्रशसको को भारतीय भाषा और भारतीय रीति-रिवाजों की शिक्षा दी जाती

1 द रुलर ऑफ द मुगल अम्पायर, सर यदुनाथ सरकार, पृष्ठ 10

थी जिन्हे भारत मे शासन करना था। इस कालेज के हिन्दुस्तानी विभाग के प्रथम प्रिन्सिपल डॉ० जॉन बोर्थविक गिलक्राइस्ट हुए जो 1784 मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के स्वास्थ्य विभाग मे चिकित्सक के रुप मे आए थे। उन्होने सर्वप्रथम हिन्दुस्तानी शैली (उर्दू) को प्रश्रय दिया। वे हिन्दुस्तानी को देशी भाषा या हिन्दवी या हिन्दुई की शैली मानते थे जिसका झुकाव न तो संस्कृत की ओर था और न फारसी-अरबी की ओर। इसलिए उन्होने संस्कृत शैली को हिन्दुई और फारसीमय शैली को उर्दू के नाम से अभिहित किया। हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी इन तीन शैलियो को मान्यता देने का श्रेय डॉ० गिलक्राइस्ट को है।

कॉलेज के तत्वाधान मे सबसे पहले केवल उर्दू शैली को प्रश्रय मिला किन्तु ज्यो-ज्यो अग्रेजो को इस बात का अनुभव होता गया कि उर्दू शैली इस देश मे सर्वव्यापक नही है त्यो-त्यो उन्होने हिन्दवी या हिन्दुई (आधुनिक हिन्दी) को भी अपनाया। 1824 मे विलियम प्राइस द्वारा हिन्दवी को आधुनिक रुप मे हिन्दी की संज्ञा मिली। फोर्टविलियम कॉलेज के द्वारा हिन्दी साहित्य और भाषा का कोई महत्वपूर्ण, कार्य तो नही हो सका किन्तु फिर भी सचेष्ट रुप से भारतीय पडितो, मौलवियो और मुंशियो की सहायता से देशी भाषाओ के विधिवत अध्ययन का यह प्रथम सरकारी प्रयत्न था। यह कॉलेज सन् 1854 मे ही समाप्त हो गया। यह कॉलेज अपने उद्देश्य मे पूर्ण रुप से सफल तो न हो सका, फिर भी हिन्दी उर्दू, हिन्दुस्तानी तथा अन्य भारतीय भाषाओ के इतिहास मे उसका विशेष महत्व है।[1]

4 2 नयी शिक्षा-नीति

भारत मे अग्रेजो के राजनैतिक,आर्थिक तथा सांस्कृतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए तथा भारत मे एक नवीन सांस्कृतिक क्रांति का सूत्रपात करने मे आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का महत्वपूर्ण स्थान है।

प्रारम्भ मे ईसाई मिशनरियो ने नवीन शिक्षा के प्रसार का प्रयत्न अवश्य किया किन्तु इस प्रयास मे उन्हे सफलता प्राप्त न हो सकी क्योकि नवीन शिक्षा के माध्यम से वे ईसाई धर्म का प्रचार करना चाहते थे। भारतवासियो को ईसाई धर्म की उतनी आवश्यकता नही थी जितना कि ऐसी शिक्षा की जिससे वे भौतिक जीवन मे प्रगति प्राप्त कर सकते।[1]

पाश्चात्य शिक्षा को कार्यान्वित करने मे लार्ड मैकाले (1835 ई०) का विशेष हाथ था। मेकाले से पूर्व अग्रेजो का उद्दश्य सुचारु रुप से शासन चलाना ही था। किन्तु शिक्षा के उद्देश्य एव क्षेत्र मे क्रमश विस्तार होता गया। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एव विद्यार्थियो के लिए पाठय पुस्तको के निर्माण की दृष्टि से 1817 **'मे कलकत्ता बुक सोसायटी'** की स्थापना हुई और 1820 मे बगाल मे नारी शिक्षा के प्रसार हेतु 'जुविनाइल सोसायटी फॉर बगाली फीमेल स्कूल'' की स्थापना की गई। 1823 मे 'पब्लिक इस्ट्रक्शन कमेटी' का निर्माण हुआ। किन्तु उस कमेटी के सदस्यो मे परस्पर इस बात पर मतभेद उत्पन्न हो गया कि धन प्राच्य शिक्षा पर खर्च किया जाय या अथवा पाश्चात्य शिक्षा पर। यह विवाद 1834 तक चलता रहा। उस समय समिति के पॉच सदस्य पूर्वी शिक्षा के पक्ष मे थे।[2]

राजाराम मोहन राय जेसे प्रगतिशील भारतीयो ने उस समय अग्रेजी शिक्षा के द्वारा पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन किया।[3] इसी समय सन् 1835 मे कमेटी के अध्यक्ष लार्ड मैकाले ने पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन किया जिसके फलस्वरुप उपयुक्त धनराशि को पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार के लिए खर्च करने का आदेश लार्ड बेटिक ने दिया।

अग्रेजी शिक्षा के माध्यम से पहले लिखना, पढना और गणित का ज्ञान ही कराया जाता था। किन्तु क्रमश अग्रेजी के माध्यम से भिन्न-भिन्न विषयो यथा कानून चिकित्साशास्त्र तथा अन्य प्रकार के

---

1 भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि ए० आर० देसाई पृ० 32

2 कल्चरल हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया – युसुफअली पृष्ठ 115

3 कल्चरल हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया – युसुफअली पृष्ठ 111

ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा भी दी जाने लगी। 1854 मे कम्पनी के बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स की ओर से भारत के लिए एक नवीन शिक्षा योजना का निर्माण किया गया जिसे चार्ल्स बुड ने प्रस्तुत किया था। इस योजना के अनुसार भारत मे शिक्षा को कई सस्थाओ मे वर्गीकृत किया गया। जैसे ग्रामीण वर्नाक्यूलर स्कूल एग्लो वर्नाक्यूलर हाईस्कूल कालेज युनिवर्सिटी। प्राचीन पद्धति से चलने वाली हिन्दू-मुस्लिम शिक्षण सस्थाओ को सरकारी नियत्रण मे लाया गया। इस योजना के द्वारा अग्रेजी के माध्यम से यूरोपीय ज्ञान का प्रसार सामान्य वर्ग मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग मे करने का प्रयत्न किया गया'।

सन 1857 मे कलकत्ता मद्रास ओर बम्बई विश्वविद्यालयो की तथा 1860 मे लाहौर मेडिकल कॉलेज की स्थापना हुई। इन सरकारी सस्थाओ के अतिरिक्त केनिग लखनऊ कॉलेज (1864) तथा मुस्लिम ऐग्लो ओरियन्टल कॉलेज अलीगढ भी स्थापित हुए। सर सैयद अहमद खॉ ने मुसलमानो मे शिक्षा के प्रसार के लिये अलीगढ मे एक धार्मिक तथा सास्कृतिक केन्द्र स्थापित किया। यही कॉलेज आगे चलकर 1920 मे युनिवर्सिटी मे परिवर्तित हो गया। 1882 मे पजाब विश्वविद्यालय स्थापित हुआ ओर 1887 मे प्रयाग विश्वविद्यालय का विधान स्वीकृत हो गया था। इन समस्त विश्वविद्यालयो ने भारत मे इग्लेण्ड की शिक्षा का ही अनुकरण किया। धीरे-धीरे शिक्षा के प्रचार-प्रसार, नियत्रण तथा योजना निर्माण मे भारतीय विद्वान भी भाग लेने लगे। शिक्षा नीति का निर्धारण किये जाने मे उनके भी प्रस्ताव रखे जाने लगे।

4 3 प्रेस और पत्रकारिता

अग्रेजो ने अपने लाभ की दृष्टि से भारत मे मुद्रण-कला और पत्रकारिता को प्रोत्साहन दिया था किन्तु तत्कालीन परिस्थितियो मे भारतवासियो ने प्रेस–ऐक्ट के अन्तर्गत अनेक कठिनाइयो और बाधाओ के रहने पर भी प्रेस से लाभ उठाया।

भारतवर्ष मे 18वीं शताब्दी के अतिम चरण मे मुद्रण-कला और पत्रकारिता दोनो का एक साथ प्रादुर्भाव हुआ। श्री विल्किन्सन (1750-1830) को मुद्रणकला का जनक कहा जा सकता है। उन्होने

1778 के पूर्व ही फारसी और बगाली टाइपो का निर्माण किया। इनके द्वारा ही **श्रीमद्भगवद्गीता** और **हितोपदेश** का अग्रेजी अनुवाद हुआ जिसका प्रकाशन 1785-87 मे हुआ।[1] श्रीरामपुर मिश्नरियो ने भी प्रेस और पत्रकारिता की वृद्धि मे महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होने प्रेस की सहायता से भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओ मे बाइबिल का अनुवाद मुद्रित कर प्रकाशित किया।[2]

प्रेस की सहायता से ही कलकत्ता (1817) आगरा (1832) तथा अन्य सोसायटियो ने पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान सबधी और भारतीय साहित्य सबधी अनेक पाठ्य पुस्तके प्रकाशित की।[3]

देश मे मुद्रण कला के बढते हुये प्रभाव के कारण समाचार पत्रो का प्रकाशन भी आरम्भ हुआ। प्रारम्भ मे अग्रजी भाषा मे ही समाचार पत्र प्रकाशित हुए। **'जेम्स आगस्टस डिकी'** प्रथम अग्रेज था जिसने भारत मे समाचार-पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। उसी के द्वारा 1780 मे बगाल मे गजट प्रकाशित किया गया किन्तु दो वर्ष बाद ही इसे बन्द करना पडा। इसके पश्चात् एशियाटिक मिस्सेलेनी नामक त्रैमासिक पत्र प्रकाशित हुआ। उसका प्रकाशन भी दो वर्ष ही चल सका। कलकत्ता से प्रकाशित कलकत्तागजट सरकार का मुख्य पत्र कहा जा सकता है।

कुछ समय बाद दिल्ली लखनऊ आदि शहरो से हिन्दी समाचार-पत्रो का प्रकाशन आरम्भ हुआ। 1826 ई० मे 'उतण्डमार्तण्ड' हिन्दी का प्रथम समाचार-पत्र प्रकाशित हुआ। इसी प्रकार उर्दू अखबार 1856 से प्रकाशित हुआ।

19वी शताब्दी के मध्य तक आते-आते अनेक धर्म तथा समाज-सुधारको ने अपने विचारो का प्रचार करने के लिये समाचार-पत्रो का सहारा लेना आरम्भ कर दिया। राजाराममोहन राय, देवेन्द्रनाथ टैगोर केशवचन्द्र सेन आदि अनेक समाज-सुधारको द्वारा पत्रो का प्रकाशन आरम्भ किया गया। 1857

---

1 कल्चरल हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया – युसुफअली पृष्ठ 194

2 दि ग्रोथ एण्ड डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दी लिटलेचर' – डॉ० लक्ष्मी शकर वार्ष्णेय – (परिशिष्ट – प्रबंध)

क पश्चात लगभग बीस वर्षों मे देशी भाषाओ मे मुद्रण कला के माध्यम से सार्वजनिक जीवन धीरे-धीरे प्रभावित होने लगा। 20वी शताब्दी मे अनेक देशी भाषाओ मे भी पत्र-पत्रिकाओ का प्रकाशन आरम्भ हो गया। इसप्रकार प्रेस तथा पत्रकारिता ने नवीन सास्कृतिक चेतना का सूत्रपात करने मे विशेष योगदान दिया।

4.4 राजनैतिक चेतनात्मक मूल्य

19वी शताब्दी के द्वितीय चरण तक राजनैतिक दृष्टि से अग्रेजो का प्रभुत्व सारे देश मे फेल गया। अत्याचार व शोषण के बढते प्रभाव को देखते हुए 1857 ई० मे सर्वप्रथम भारतीय नरेशो सैनिको तथा देश के कुछ विशिष्ट लोगो ने विदेशी शासन को भारत से सदैव के लिये समाप्त करने का प्रयास किया जिसे भारतीय इतिहास मे गदर या भारत के प्रथम स्वतन्त्रता-सग्राम की सज्ञा दी जाती है। यद्यपि भारतीय इस स्वतत्रता-सग्राम मे सफलता प्राप्त करने मे असफल रहे किन्तु भारत मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अन्त हो गया। ज्यो-ज्यो भारतीयो ने अग्रेजो के सम्पर्क मे आकर नई प्रकार की शिक्षा और सस्कृति तथा यूरोपीय राजनैतिक विचार-धारा का प्रभाव स्वीकार किया त्यो-त्यो भारत मे नवीन राजनेतिक-सस्कृति का निर्माण होने लगा।

नवीन शिक्षा प्रणाली के प्रभाव से भारतीयो को जीवन के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने की प्रेरणा मिली। अग्रेजो की सामाजिक चेतना, स्वतत्र-प्रियता, राष्ट्रीयता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण अनुशासन आदि बातो ने भारतीयो को बहुत प्रभावित किया। मुद्रण-कला के बढते प्रभाव से बडी सरलता से ग्रन्थ आदि उपलब्ध होने लगे जो मध्य-काल मे केवल राजाओ एव राजमत्रियो के हाथो मे ही हस्तलिखित एव सुशोभित होते थे। इसप्रकार समस्त नवीन ज्ञान प्रेस के माध्यम से मध्यवर्गीय लोगो के लिए सहजता से सुलभ हो गया जिससे नवीन धार्मिक, सामाजिक साहित्यिक, राष्ट्रीय चेतना के विकास मे सहायता मिली।

इसी युग मे गमनागमन के आधुनिक साधन रेल आदि का आरम्भ हुआ जिसके फलस्वरुप देश मे एक स्थान से दूसरे स्थान मे जाना अत्यत सुलभ हो गया जो राष्ट्रीय एकता के लिए

सहायक सिद्ध हुआ। इसप्रकार जहां एक ओर भारतवासियो का राजनेतिक ओर आर्थिक शोषण हो रहा था जिसके फलस्वरुप महामारी दुर्भिक्ष आर्थिक-दारिद्रय ओर बेगारी बढती जा रही थी वही दूसरी ओर भारतीयो का अपनी राजनेतिक अधोगति का भी अनुभव होने लगा था। कुछ उदारवादी अग्रेज जिन्हे भारतीयो स सहानुभूति थी परोक्ष रुप से राजनैतिक चेतना के विकसित होने मे सहायक हो रहे थे। 1876 मे 'इण्डियन एसोसिएशन'' की स्थापना हुई जिसका मुख्यत तीन तरह के मूल्या को स्थापित करना मुख्य उद्देश्य था-

(1) राजनैतिक प्रश्नो और समस्याओ पर भारतीय जनता की सम्मति की स्थापना करना।

(2) भारतीयो मे राजनैतिक एकता का प्रयत्न करना।

(3) हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करना।[1]

इसप्रकार इन सभी स्रोतो से समाज मे एक नवीन विचारधारा का जन्म हुआ। समाज मे एक चेतना जागृति हुई। साहित्य, शिक्षा तथा कला मे बौद्धिक जागृति आई। नई पीढी मे आन्दोलन पर उत्तेजना की नैतिक शक्ति का विस्तार हुआ। आर्थिक क्षेत्र मे भी आधुनिकीकरण को अपनाया गया। धार्मिक क्षेत्र मे हिन्दू धर्म के अन्तर्गत रुढियो और अन्ध विश्वासो को त्यागने पर जोर दिया जाने लगा और धर्म का नवीनीकरण किया जाने लगा। समाज मे क्रातिकारी परिवर्तन होने लगे। तार्किकता पर अधिक जोर दिया जाने लगा। भारतीय भाषा साहित्य और दर्शन मे परिवर्तन होने लगा। अग्रेजी बोलना लोग अपनी प्रतिष्ठा समझने लगे। मैजिनी और गैरोल्ड लोगो के आदर्श बन चुके थे। विदेशी शेली और भारतीय-प्राचीन चिन्तन मे तालमेल बिठाकर एक नए साहित्य का सृजन हुआ। शकुन्तला, कादम्बरी मेघदूत, रामायण आदि सभी धर्मग्रन्थो का विदेशी भाषाओ मे अनुवाद हुआ। चारो वेदो का पश्चिमी भाषाओ मे अनुवाद हुआ।[2] इसके अतिरिक्त नव–हिन्दुत्व की लहर का सचार हुआ। प्राचीन

---

1 भारतीय सामाजिक चिन्तन और आन्दोलन ,ओम प्रकाश वर्मा, एव डॉ० जय सिह पृष्ठ – 115

2 मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, प्रो० यदुनाथ सरकार, पृष्ठ – 150 ,

ग्रन्थों का पुनर्मूल्यांकन एव अध्ययन औद्योगीकरण एव नगरीकरण का विकास लोगो मे राष्ट्रीयता की भावना का विकास तथा ललित कलाओ का भी बहिर्मुखी विकास हुआ।[1]

4 5 समाज-सुधार आदोलन

तत्कालीन परिस्थितियो से प्रेरित होकर समाज मे अनेक समाज-सुधार आन्दोलन आरम्भ हुए जिनमे ब्रह्मसमाज आन्दोलन आर्य-समाज आन्दोलन रामकृष्ण मिशन, प्रार्थना-समाज, थियोसाफिकल सोसायटी पारसी-सुधार आन्दोलन मुस्लिम-सुधार आन्दोलन आदि का नाम लिया जा सकता है। इस शताब्दी के सुधार आन्दोलनो ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया। यहॉ कुछ समाज सुधार आन्दालना एव नवीन सस्थाओ का सक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है।

4 5(अ) ब्रह्म समाज -

ब्रह्म-समाज की स्थापना 1828 ई० मे धर्म तथा सामाजिक उद्‌देश्य को लेकर स्वर्गीय राजाराम मोहन राय (1772-1833) द्वारा हुई। अनेक हिन्दू मनीषियो की भाति उन्होने निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना पर जोर दिया। उनके उद्‌देश्य का यही सार था कि समस्त धर्मावलम्बियो के बीच एकता के सूत्र को दृढ बनाया जाय।[2]

राममोहन राय सस्कृत के प्रकाड पडित और अग्रेजी के विद्वान भी थे तथा फ्रेन्च, लैटिन, ग्रीक और हिब्रू का उन्हे पूर्ण ज्ञान था। राजाराम मोहन राय आधुनिक सस्कृति के जन्मदाताओ मे से थे। उन्होने हिन्दू-धर्म की स्थूलता को हटाकर उसे सूक्ष्म रुप दिया। धर्म के नकारात्मक स्वरुप को बदल कर सक्रिय रुप देने का श्रेय इन्ही को है। राजाराम मोहन राय के बाद केशवचन्द्रसेन (सन् 1838-1884 तक) ने ब्रह्म समाज का कार्य आगे बढाया। ईसाई न होते हुए भी वे प्रथम भारतीय थे

---

1 भारतीय सामाजिक-चिन्तन और आन्दोलन ओम प्रकाश वर्मा डॉ० जय सिंह, पृष्ठ 118

2, कल्चर हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया – यूसुफअली, पृष्ठ 136

जो ईसाईयत से सर्वाधिक प्रभावित थे। धर्म तथा समाज के प्रत्येक क्षेत्र मे इन्होने राजाराम मोहन राय के मिशन को आगे बढाया और मूर्तिपूजा तथा कर्मकाण्डो का विरोध करते हुए निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर जोर दिया। महर्षि देवेन्द्रनाथ टेगोर (सन् 1817-1905) ने सन् 1839 ई० मे तत्वबोधिनी नामक एक स्वतंत्र-सभा की स्थापना की। सन् 1842 ई० मे महर्षि देवेन्द्रनाथ ने ब्रह्म समाज मे प्रवेश किया। इन्होने जाति-पाति से परे समस्त मानव-जाति को ब्रह्म की उपासना का अधिकारी माना।[1]

केशवचन्द्र सेन के पश्चात् प्रताप मजूमदार ने केशवचन्द्र के सिद्धान्तो का प्रचार इस देश मे ही नही वरन् विदेश मे भी किया। केशवचन्द्रसेन ने जस्टिस **'महादेवगोविन्द रानाडे'** के नेतृत्व मे प्रार्थना-समाज की स्थापना की। इसी समाज से कालान्तर मे 'सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी' का जन्म हुआ। महाराष्ट्र प्रदेश मे बम्बई पूना तथा गुजरात प्रदेश मे अहमदाबाद मे इसकी विभिन्न शाखाएँ खोली गयी। उत्तर प्रदेश और पजाब मे प्रार्थना-समाज का विशेष प्रचार न हो सका।

4.5(ब) आर्य-समाज

स्वामी दयानद सरस्वती (सन 1824-1893) ने वैदिक धर्म के प्रचारार्थ एव हिन्दू समाज मे सुधार के उद्देश्य को लेकर सन् 1875 मे आर्य समाज की स्थापना की। दो वर्ष बाद लाहौर मे आर्य-समाज की स्थापना हुई। स्वामी जी ने वेदो का नवीन भाष्य लिखा और सारे देश का भ्रमण कर वेदिक धर्म का प्रचार किया। इसके अतिरिक्त उन्होने "सत्यार्थ प्रकाश" नामक ग्रन्थ का प्रणयन भी किया जिसमे उनके समस्त सिद्धान्तो का सग्रह है। पजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश मे आर्य समाज आन्दोलन का विशेष प्रभाव पडा। उन्होने वेदो पर ब्राह्मणो के विशेषाधिकार का खण्डन किया और ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र तथा स्त्री और पुरुष सबको वेदो के अध्ययन का अधिकारी माना। वे स्थूल कर्मकाण्ड एव मूर्तिपूजा के घोर विरोधी थे। आर्य समाज के प्रभाव मे आकर बहुत से लोगो ने

---

1 कल्चर हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया – युसुफअली पृष्ठ 134-

अपने घर के देवी-देवताओ की प्रतिमाओ को तोड कर बाहर फेक दिया। बहुतो ने श्राद्ध की पद्धति बन्द कर दी ओर बहुतो ने पुरोहितो को अपने यहाँ से विदा कर दिया।[1]

अपरोक्ष रुप से स्वामी जी ने राष्ट्रीयता के प्रचार मे भी काफी योग दिया। सामाजिक कुरीतियो का निवारण करते हुए भारतीयो को स्वतत्रता-सग्राम मे कूद पडने की प्रेरणा दी। वे प्रथम भारतीय थे जिन्होने स्वदेशी का प्रचार आरम्भ किया। उन्होने भारतीयो को उनके गौरवपूर्ण अतीत का स्मरण कराते हुए भविष्य के नव-जीवन निर्माण का सदेश दिया। आर्य-समाज ने आगे चलकर सार्वजनिक आन्दोलन का रुप धारण कर लिया। उसने अपने अनुयाइयो एव समाज को आगे बढाने के लिए नव-स्फूर्ति एव नव-उत्साह प्रदान किया। **"शुद्धि" द्वारा समाज की सुरक्षा इसका अपना मौलिक प्रयास था।**

4 5(स) थियोसोफिकल सोसायटी

थियोसोफिकल सोसायटी का जन्म सन् 1875 मे मेडम ब्लावाटस्की एव कर्नल आलकॉट द्वारा अमरिका मे हुआ था। सन् 1879 मे डॉ० एनीबेसेन्ट ने इस सोसायटी मे प्रवेश किया और अपना सारा जीवन जनसेवा मे समर्पित कर दिया। सर्वप्रथम सन् 1879 मे मद्रास के निकट अड्यार मे इस सोसायटी का केन्द्र खोला गया। डॉ० एनी बेसेन्ट के अनुसार 'भारतीयो का कर्त्तव्य है कि सर्वप्रथम प्राचीन हिन्दू धर्म, पारसी एव बौद्ध-धर्म का पुनरुद्धार कर उन्हे पुन शक्तिशाली बनाया जाय।[2]

इस उद्देश्य के फलस्वरुप देशवासियो मे एक नवीन आत्म गौरव की चेतना, अतीत के प्रति गर्व तथा भविष्य के प्रति अखण्ड विश्वास की भावना जागृत हुई और परोक्ष रुप से धर्म-सुधार, समाज-सुधार और राष्ट्र-भक्ति के द्वारा एक नए राष्ट्र-निर्माण की प्रेरणा उत्पन्न हुई। डा० एनीबेसेन्ट- अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व की महान महिला थी। सन् 1907 मे वे

---

1 भारतीय सस्कृति के चार अध्याय रामधारी सिंह 'दिनकर' पृष्ठ – 400

सोसायटी की अध्यक्षा चुनी गई। उनके नेतृत्व मे थियोसोफिकल सोसायटी ने भारतीय जीवन के राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रो मे महत्वपूर्ण योगदान दिया।

4.5(द) रामकृष्ण मिशन

स्वामी रामकृष्ण परमहंस की (सन् 1836-1886) पुण्य स्मृति मे स्वामी विवेकानन्द (सन् 1862-1902) ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। स्वामी विवेकानन्द पहले ब्रह्म–समाज के सदस्य थे किन्तु परमहंस से प्रभावित होकर उनके शिष्यत्व मे आ गए। विवेकानन्द ने वेदान्त का विशेष रुप से प्रचार किया। सन् 1893 मे शिकागो के विश्व-धर्म सम्मेलन मे हिन्दू-वेदान्त को सर्वोपरि सिद्ध किया। रामकृष्ण मिशन ने नवयुग के अनुसार हिन्दू धर्म का नए रुप मे प्रचार किया एव सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन मे भी उसे स्थान दिया। रामकृष्ण मिशन की अनेक शाखाए भारत के कोने-कोने मे फैल गई जिन्होने धार्मिक सामाजिक राष्ट्रीय तथा शिक्षा के क्षेत्र मे देश की बहुत सेवा की । मिशन के शिष्यो के कई वर्ग थे। एक उन सन्यासियो का वर्ग था जो आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर ईश्वर और मानवजाति की सेवा मे अपना सारा जीवन अर्पित कर देते थे, दूसरा वर्ग उन सासारिक एव सामाजिक जीवन यापन करने वाले व्यक्तियो का था जो अपनी जीविका स्वय उपार्जित करते थे किन्तु अपने जीवन को परमहंस के सिद्धान्तो के अनुसार ही व्यतीत करते थे। इस प्रकार दूसरे वर्ग के लोग प्रत्यक्ष रुप से धर्म सुधारक या समाज सुधारक नही कहे जा सकते किन्तु फिर भी मिशन के सन्यासी उनके सुधार के सदेश के प्रचार एव प्रसार मे पर्याप्त सहायता पहुँचाते थे।

उपर्युक्त सस्थाओ के अतिरिक्त अन्य अनेक छोटी-छोटी सस्थाओ ने भी समाज के किसी न किसी क्षेत्र मे सुधार के कार्य को आगे बढाया। इन सस्थाओ मे रानाडे का 'डेकन एजूकेशन सोसायटी" (सन् 1884) गोखले का "सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी" (सन् 1905), सोशल रिफार्म एसोसिएशन (1888), बम्बई और मद्रास का सामाजिक सुधार सघ भारतीय महिला परिषद् (1904), सोशल सर्विस लीग एव दलित वर्ग आन्दोलन आदि मुख्य थे जिन्होने अपनी सस्थाओ द्वारा

सामाजिक क्षत्र मे शिक्षा सम्बन्धी सुधार करने एव स्त्री जाति की दशा उन्नत करने के अनेक प्रयत्न किए और ब्रह्म समाज आर्य समाज आदि समाज सुधार आन्दोलनो के कार्य को आगे बढाया।

इन रामाज सुधार आन्दोलनो के अतिरिक्त काग्रेस ने भी इस क्षेत्र मे पर्याप्त योगदान दिया। सन 1885 मे काग्रेस की स्थापना हुई उस समय देश की प्रगति के लिए सामाजिक सुधार की आवश्यकता का अनुभव किया गया। इरा उद्देश्य की पूर्ति के लिए रान् 1888 मे काग्रेरा की प्रत्येक बेठक के साथ प्रतिवर्ष राष्ट्रीय समाज सुधार-परिषद के अधिवेशन भी होने लगे। इस परिषद के प्राण थे महादेव गोविन्द रानाडे। इसमे प्रत्येक वर्ष स्त्री-शिक्षा के प्रसार पर, बाल-विवाह निषेध पर्दा-प्रथा विरोध विधवाओ एव अरपृश्यो की दशा सुधारने, अन्तर्जातीय खान-पान और विवाह सबधी विषयो पर प्रोत्साहन देते हुए प्रस्ताव पास होते थे। सन् 1890 मे समाज सुधार का एक प्रबल समर्थक साप्ताहिक पत्र सोशल रिफार्म' निकाला गया। सन् 1897 मे बम्बई, मद्रास मे समाज सुधार के प्रान्तीय सगठन भी बने। इरा प्रकार समाज सुधार का कार्य काग्रेस द्वारा भी पर्याप्त रुप मे हुआ।

4 6 विविध समाज सुधारक

उन्नीसवी शताब्दी मे समाज-सुधार का जो कार्य आरम्भ हुआ। राजाराम मोहन राय इन समाज सुधारको मे अग्रणी थे। अनेक विषयो मे भारत के पथ-प्रदर्शक होते हुए भी वे भारत की प्राचीन सस्कृति को उसके समग्र रुप मे ग्रहण नहीं कर सके थे। हिन्दू-धर्म का भी उन्होने पूर्ण सम्मान नही किया था। उन्होने सस्कृत के स्थान पर अग्रेजी का उच्च आसन प्रदान किया। यद्यपि वे समाज मे परिवर्तन करना चाहते थे किन्तु यह कहने मे कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि परिवर्तन की यह चिन्तन पद्धति उनके निजी जीवन-धारा मे ही सीमित होकर रह गयी थी।

सती दाह-प्रथा को समाप्त करने और शुद्र यात्रा को आरम्भ करने मे निश्चय ही उनका अधिक योगदान था। प्राचीन पथी हिन्दुओ की दृष्टि से राममोहन के द्वारा सामाजिक-सुधार का यह प्रयास धर्म विरोधी लगने पर भी मानना पड़ेगा कि वे तत्कालीन भारत मे एक उदारता पूर्ण गतिशील मनोभाव का सचार करना चाहते थे। लेकिन विराट हिन्दू समुदाय पर उनका कोई प्रभाव नही पड़ा।

राम मोहन राय की विचारधारा मे मानो एक विदेशी मनोभावना ने ही प्रकट होकर हिन्दुओ की आत्मश्रृद्धा पर चोट की थी, जिसे हिन्दू जाति सादर स्वीकार नही कर सकी। राम मोहन राय मुसलमान और ईसाइयो की भाति प्रतिमा पूजन को मूर्ति पूजा कहा करते थे। वे उन्ही की भाषा मे उनकी निन्दा किया करते थे। उनके विचार के अनुसार प्रतिमा की पूजा करने वाले देश मे नैतिकता की कमी हो जाती है। इससे अवैध सम्बन्धो का मार्ग खुल जाता है तथा आत्म–हत्या, नारी हत्या नरमेध यज्ञ आदि-आदि होने लगते है मूर्ति पूजक देश मे बुद्धि की उन्नति नही हो पाती।[1]

इसलिये वेदान्त विहित धर्म की फिर से स्थापना की आवश्यकता का अनुभव करने पर भी राम मोहन राय उपनिषद का सहारा लेकर निर्गुण निराकार की उपासना मे रत हुए। सगुण उपासना को उनके द्वारा सशोधित धर्म सिद्धान्त मे कोई जगह न मिली। अग्रेजो की भाति राम मोहन राय ने भी मान लिया कि सासारिक उन्नति के लिये हिन्दुओ को अपने धर्म मे सुधार करना चाहिए।[2]

राजनैतिक जीवन मे सुअवसर और सुविधा पाने तथा सामाजिक जीवन मे सुख-स्वच्छन्दता की व्यवस्था की इच्छा ने राम मोहन राय की विचारधारा को इस प्रकार का स्वरुप प्रदान किया था। वे एक उन्नति प्रदान करने वाले सर्वव्यापी धर्म के सहारे भारतीय समाज को सुसम्बद्ध और सतेज कर देना चाहते थे। राजा राम मोहन राय भारत मे पश्चिमी शिक्षा फैलाकर अपने देश को पश्चिमी ज्ञान विज्ञान से समृद्ध करना तथा इसे एशिया महादेश के नेता के पद पर प्रतिष्ठित देखना चाहते थे।

राजा राम मोहन राय मे जो भाव धारा कभी क्षीण और कभी सबल रुप मे बहती थी उसी ने बाद मे ब्रह्म समाज के द्वारा एक साकार रुप धारण किया। राजा राम मोहन राय ने अपने को अहिन्दू नहीं कहा। वे आदि ब्रह्म समाजी सनातन भावधारा से पूरी तरह से अलग नही होना चाहते थे।

---

1 भारतीय धर्म और सस्कृति डॉ० राम जी उपाध्याय – पृष्ठ 114

2 स्वामी रामकृष्ण – रोमा रोला पृष्ठ 105

3 स्वामी रामकृष्ण – रोमा रोला, पृष्ठ 105

देवेन्द्र नाथ ठाकुर का नाम भी समाज सुधारको मे अग्रणी रहा है। वे मूल रुप से भारतीय थ। किन्तु साधारण ब्रह्म समाज और नव-विधान वाद मे उग्र पथ का सहारा लेकर वे हिन्दू समाज से अलग हो गए। साधारण ब्रह्म समाज ने विवाह ओर आहार-विहार मे जातिय भेद को अस्वीकार कर दिया। तब नव-विधान समाज विभिन्न धर्मा का निचोड लेकर विशेष रुप से ईसा मसीह को प्रमुखता देकर एक नया धर्म-सिद्धान्त गढने मे लग गया।[1] युवा-काल मे केशवचन्द्र सेन (1838-84) दवन्द्रनाथ के ही शिष्य और सहयोगी थे। किन्तु शिष्य के मन मे उठ रहे इन नये भावो के कम्पन को देवेन्द्रनाथ देख रहे थे। 1866 ई० मे दोनो अलग-अलग रास्ते पर चल पडे। केशवचन्द्रसेन ने खुलकर ईसामसीह का धर्म प्रचार भारत मे करना आरम्भ कर दिया। इससे ब्रहम समाज मे घोर आन्दोलन छिड गया। परिणाम स्वरुप केशवचन्द्र दूसरे सम्प्रदायो के महापुरुषो के प्रति भी श्रृद्धा व्यक्त करने लगे। विभिन्न सम्प्रदाय के लोगो को भी ब्रह्म समाज मे प्रवेश करने का अधिकर प्रदान किया गया। हिन्दुओ के देवी-देवताओ को भी महत्व प्रदान किया गया। केशवचन्द्र सेन ने 1865 ई० से नवविधान' का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। किन्तु उनके कार्य और विचारो मे अन्तर्विरोध विद्यमान रहा। बाल विवाह' के विरोधी होकर भी उन्होने अपनी कम उम्र की पुत्री का विवाह कूच बिहार क राजा क पुत्र से कर दिया। जिसके कारण दल के सदस्य केशवचन्द्रसेन के विरुद्ध हो गये।

इस प्रकार ब्रह्म समाज का उद्देश्य आशा के अनुरुप सफल सिद्ध नही हो सका। इसका प्रभाव उच्च शिक्षा प्राप्त लोगो तक ही सीमित रह गया। 1884 ई० मे केशवचन्द्र के निधन के समय ब्रह्म समाज के सदस्यो की सख्या 6,400 थी।

केशवचन्द्र सेन के समय से ही ब्रह्म समाज के द्वारा पश्चिम का अनुकरण किये जाने के विरोध मे हिन्दू समाज का ही एक व्यक्ति सिर उठाकर खडा हो गया। वे व्यक्ति थे स्वामी दयानद सरस्वती (1824-83)। उन्होने 10 अप्रैल 1875 ई० को "आर्य समाज की स्थापना की। यद्यपि अनेक

विषय मे आर्य-समाज और ब्रह्म समाज मे समानता दिखाई देती है।[1] दयानन्द रुढिवादिता और कुसंस्कार के विरोधी, जाति-भेद की प्रथा को समाप्त करने के लिये दृढ-प्रतिज्ञ, मूर्ति-पूजा विरोधी और एकेश्वरवादी थे। ब्रह्म समाज ने उपनिषद के ब्रह्म-तत्व का अवलम्बन किया था। दयानन्द ने उपनिषद की प्रामाणिकता को अस्वीकार कर वेद की संहिता का अवलम्बन ले प्राचीन-यज्ञ आदि नाना विधियो के विस्तार मे अपने को अर्पित कर दिया। ब्रह्म समाज की भाति आर्य-समाज भी बहुताश मे सनातन धर्म-विरोधी था। तथापि दयानन्द के संस्कृत साहित्य मे पाण्डित्य-विरोध की प्रबल आकाक्षा, अपने सिद्धान्त मे विश्वास, सामाजिक बोध और वीरतापूर्ण प्रचार अभियान के फलस्वरुप इस समाज का प्रभाव उत्तर-पश्चिम भारत के कुछ भागो मे तेजी से फैल गया।[2]

इन संस्थाओ के क्रियाकलापो से ईसाई-मिशनरियो का प्रचार कार्य विशेष रुप से बाधित हुआ। किन्तु विराट हिन्दू समाज इस विचार-धारा से भी पूरी तरह जागृत नही हो सका। फिर नया ज्ञान और कार्य-प्रणाली का सहारा लेने पर जिस प्रकार ब्रह्म-समाज एक संकीर्ण सम्प्रदाय मे परिणत हो गया था आर्य-समाज का वैसा ही भाग्य हुआ। दोनो समाजो के सदस्यो के मन मे और तटस्थ दर्शको के हृदय मे यह सन्देह बना ही रहा कि ये दोनो सम्प्रदाय हिन्दू है या नहीं । ब्रह्म समाज के द्वारा असवर्ण विवाह तथा सिविल मैरेज को स्वीकार कर लिए जाने एव आर्य-समाजियो के द्वारा जाति-भेद को समाप्त करने के फलस्वरुप यह अलगाव और भी अधिक स्पष्ट दिखाई पडने लगा था। इस प्रकार पश्चिमी देशवासियो के आगमन से उत्पन्न तत्कालीन परिस्थिति के साथ हिन्दुओ के विचार मे सामूहिक रुप से समझने योग्य समस्या और उसका समाधान पहले की भाति ही अविकासित एव अपूर्ण रह गया।[3]

समाज-सुधार के आधार स्तम्भो मे ईश्वर चन्द्र विद्यासागर का नाम भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होने धर्म की सहायता लिए बिना कानून के माध्यम से समाज-सुधार करना चाहा था। निश्चय ही

---

1 भारत मे अंग्रेजी राज (द्वितीय भाग) डॉ० सुन्दर लाल, पृष्ठ 248

2 भारत मे अंग्रेजी राज (द्वितीय भाग) डॉ० सुन्दर लाल पृष्ठ 248

3 भारतीय धर्म और संस्कृति डॉ० [illegible] पृष्ठ [illegible]

उन्होने इसके लिए स्मृति-शास्त्र की सहायता ली थी। किन्तु उनके इस प्रयास के साथ प्रत्यक्ष रुप से ईश्वर मे विश्वास मूर्ति पूजा आदि विषयो का सम्बन्ध नही था। **ईश्वर चन्द्र विद्यासागर** का हृदय अत्यन्त उदार था इसी कारण वे सबकी श्रद्धा के पात्र थे। तथापि उनके विधवा-विवाह आदि समाज सुधार के कार्यो ने हिन्दू समाज के एक छोटे हिस्से को ही परिवर्तित कर दिया था। क्योकि सीमित उद्देश्य की परिकल्पना से युक्त क्रियाकलापो का प्रभाव ओर प्रतिक्रिया कुछ ही दिनो मे समाप्त हो जाते हे अत विद्यासागर के इस प्रयोग का भी यही परिणाम हुआ। **कानून क्या कहता है ? इस ओर विशेष दृष्टिपात न कर हिन्दू समाज अपने चिर परिचित मार्ग पर ही चलता रहा।**[1]

4 7 श्री राम कृष्ण देव एव स्वामी विवेकानन्द

उन दिनो कई हिन्दू प्रचारक भी हिन्दू धर्म की रक्षा के लिये प्रयत्नशील हुए थे। इन सभी लोगो ने हिन्दू धर्म की तर्क पूर्ण व्याख्या कर हिन्दुओ के मन मे अपने धर्म के प्रति विश्वास उत्पन्न करने की चेष्टा की थी। किन्तु इन सभी लोगो का कार्य समाज मे प्रचार कार्य तक ही सीमित रहा उससे समाज मे वास्तविक रुप मे कोई परिवर्तन न हो सका। इनके द्वारा किये गए सुधार-कार्यो मे अध्यात्म का सहारा नही लिया गया था।[2]

इस प्रकार समाज मे अव्यवस्था की स्थिति मे हिन्दुओ ने धर्म का अवलम्बन किया। हिन्दू धर्म ने समाज मे नव जागरण का पथ-प्रशस्त किया।[3]

जिस वर्ष पश्चिमी भावो का वाहन करने वाली अग्रेजी भाषा को कानून के बल पर भारत मे प्रतिष्ठित किया गया था, उसी वर्ष 1836 ई० मे श्री रामकृष्ण परमहस भारत मे अवतरित हुए। कम उम्र मे ही वे दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर मे साधना करने लगे। सिद्धि प्राप्त कर उन्होने यह प्रमाणित

---

1 भारतीय धर्म और सस्कृति डॉ० रामजी उपाध्याय पृष्ठ 118

2 भारतीय धर्म और सस्कृति डॉ० रामजी उपाध्याय पृष्ठ 119

3 भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठ भूमि ए० आर० देसाई पृष्ठ 110

किया कि हिन्दू मात्र मूर्ति पूजक नही है। वह जड-पत्थर–मिट्टी से बनी हुई प्रतिमा के द्वारा परम अत यगधी - सत्ता की उपासना करते है। उन्होने लोगो को जागृत किया कि धर्म कहने की बात नही है बल्कि अनुभूति की वस्तु है।

श्री रामकृष्ण देव जी एक अत्यत निष्ठावान ब्राह्मण के पुत्र थे। उनके पिता ब्राह्मणो की एक जाति विशेष को छोडकर अन्य किसी जाति का दान नही ग्रहण करते थे। अपनी पारिवारिक स्थिति अत्यन्त विपन्न होने के कारण श्री रामकृष्ण बहुत छोटी अवस्था मे एक मन्दिर मे पुजारी होने के लिये बाध्य हुए। मन्दिर मे जगज्जननी की मूर्ति प्रतिष्ठित थी जिन्हे प्रकृति' या काली कहा जाता है। श्री रामकृष्ण देव ने इस मूर्ति के विषय मे कहा कि एक स्त्री मूर्ति एक पुरुष मूर्ति पर खडी है इसका अर्थ यह है कि माया' के आवरण को हटाये बिना हम ज्ञान लाभ नही कर सकते। ब्रह्म निर्ल्लिग है - वह अज्ञात ओर अज्ञेय है।[1]

प्रतिदिन मा काली की सेवा तथा पूजा अर्चना करने पर इस तरुण पुरोहित के हृदय मे कमश एसी तीव्र व्याकुलता तथा भक्ति का सागर उमडा कि वह नियमित रुप से मन्दिर मे पूजा आदि कार्य करने मे असमर्थ हो गये। इसलिये वे उसे छोडकर मन्दिर के अहाते के भीतर ही एक छोटे से जगल मे जाकर दिन-रात ध्यान धारणा करने लगे। साधना मे वे इतने लीन हो जाते थे कि उन्हे अपने शरीर की भी चिन्ता न रहती। उन्होने लगभग सभी सम्प्रदायो के धर्मगुरुओ से शिक्षा ली थी। इतना होन पर भी व केवल जगन्माता की ही उपासना किया करते थे। वे सभी मे जगन्माता को ही देखा करते थे।[2]

उनकी दृष्टि मे सभी धर्म सत्य है। वे कहते थे कि - धर्म जगत मे सभी धर्मो का स्थान है। श्री रामकृष्ण देव वर्तमान युग मे उपयुक्त धर्म की शिक्षा देने आये थे। जो कि विधायक है न कि

---

1 विवेकानन्द साहित्य सप्तम खण्ड पृष्ठ 31

2 विवेकानन्द साहित्य सप्तम खण्ड पृष्ठ 32

विध्वसक। उन्होने एक नये ढग से प्रकृति के समीप जाकर सत्य जानने की चेष्टा की थी। जिसके परिणाम स्वरुप उन्होने वैज्ञानिक धर्म को प्राप्त कर लिया था। वैज्ञानिक - धर्म वह धर्म होता जो किसी को कुछ भी (प्रमाणित हुए विना) मान लेने को नही कहता बल्कि जॉच-पडताल कर सत्यता का परीक्षण कर ही किसी बात को स्वीकार करने का आग्रह करता है।[1] श्री रामकृष्ण जो भी उपदेश दे गये वह सब हिन्दू धर्म का सार-स्वरुप है। उन्होने अपनी ओर से कोई नई बात नही कही। वे कोई नया वाद चलाने के आकाक्षी नही थे।[2] यौवन् काल मे विवाह होने के बाद भी एक गृहस्थ की भाति रहते हुए उन्होने सन्यासी जीवन बिताया।

स्वामी रामकृष्ण जी तत्कालीन भारत की मूल आवश्यकता को समझते थे। यही कारण है कि उन्होने कहा कि मनुष्य सभी व्यवस्थाओ से स्वतत्र है। वास्तव मे पूरे जीवन का मुख्य लक्ष्य ईश्वर को प्राप्त करना है। सभी धर्म ईश्वर प्राप्ति के विभिन्न मार्ग है। सभी धर्मो के लोगो के बीच सद्भावना की स्थापना की आवश्यकता है। सरलता और विवेक बुद्धि द्वारा विवेचना कर ही भक्ति मार्ग का अनुसरण करना चाहिये।[3] वर्तमान युग मे सामाजिक व्यवस्था मे आये परिवर्तनो को स्वीकारते हुए ही स्वामी रामकृष्ण जी ने कहा कि आज के युग मे प्राचीन युग की कठिन तपश्चर्या या यज्ञादि विभिन्न साधना - पद्धतियो के अनुरुप आचरण करना असम्भव है। अद्वेत-ज्ञान, धर्म-साधना की अतिम बात है। ससार की सभी वस्तुओं का चाहे वे जिस प्रकार के भी जीव हो उन्हे अन्तत ब्रह्ममय ही होना है। ससार का उपकार ईश्वर करते है। मनुष्य केवल शिवभाव से जीव की सेवा कर सकता है और इससे उसका अपना ही उपकार होता है।[4]

दक्षिणेश्वर के परमपुरुष **श्री रामकृष्ण उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चौथे भाग मे इन्हीं मूल्यो का प्रचार करते थे।** उन्होने अपने जीवन मे त्याग वैराग्य, सरलता, ईश्वर - प्रेम, सत् - असत्

---

1 विवेकानन्द साहित्य सप्तम खण्ड पृष्ठ 33

2 विवेकानन्द साहित्य सप्तम खण्ड पृष्ठ 37

3 युगनायक विवेकानन्द (प्रथम भाग) स्वामी विवेकानन्द पृष्ठ 14

4 विवेकानन्द साहित्य सप्तम खण्ड पृष्ठ [illegible]

विवेक एव शिव भाव से जीव की सेवा आदि की पराकाष्ठा दिखाकर मानव मन को ईश्वर के चरण कमल की ओर आकृष्ट किया।[1]

हिन्दू समाज के लिये ये अत्यत गौरवमय एव सौभाग्य के दिन थे। हिन्दू पुन अपने मूल स्वरुप को पहचानने लगे थे उनमे उन्नति करने की लालसा फिर से पलने - बढने लगी थी। ऐसे समय मे इन्ही महापुरुष के आकर्षण से खिचकर उनके ही भावी सदेशवाहक के रुप मे बगाल का युवावर्ग दक्षिणेश्वर मे आ उपस्थित हुआ।

भक्तो के साथ ईश्वर - चर्चा करने को व्याकुल श्री रामकृष्ण अटारी की छत से भावी भक्तो को पुकारा करते थे। जिसके फलस्वरुप शीघ्र ही सब दक्षिणेश्वर मे इकठ्ठे हुए। उस पुकार पर नवयुग के प्रतिनिधि - स्वरुप बाह्य भक्तगण पहले दल-बल के साथ दक्षिणेश्वर मे उपस्थित हुए किन्तु वे सब दक्षिणेश्वर के परम पुरुष का पूर्ण परिचय नही ले सके। उन लोगो की शिक्षा-दीक्षा साम्प्रदायिक विधि-निषेध और प्रयोजन आदि इसमे बाधक थे। उन सब ने श्री रामकृष्ण को ईश्वर भक्तो म से एक मानकर ही पहचाना था। फिर भी यह बात निश्चय ही स्वीकार करने योग्य है कि श्री रामकृष्ण के प्रभाव से अनेक बाह्य भक्तो के जीवन मे विशेष परिवर्तन घटित हुआ था। समाज के अन्तर्द्वन्द के कारण हो या दूसरा जो कोई भी कारण हो स्थानीय अनेक वाह्य भक्त केवल समाज-सुधार और प्रचार से सन्तुष्ट नही रह सके। उनमे से अनेक खासकर केशवचन्द्र सेन, विजय कृष्ण गोस्वामी आदि का मन अनुभूति-मूलक धर्म के प्रति आकृष्ट हुआ था। इसी कारण उन लोगो ने श्री राम कृष्ण के चरित से मुग्ध होकर दक्षिणेश्वर आना-जाना शुरु किया था।

इस प्रकार श्री रामकृष्ण को केन्द्र मे रखकर नव-जागृत सनातन धर्म नवीन पथी ब्रह्म पर एक गहरा प्रभाव डालने मे समर्थ हुआ था। किन्तु नवयुग के लिये इतना पर्याप्त नहीं था। समाज मे पूर्ण परिवर्तन लाने के लिये बगाल के विश्वविद्यालय मे पढने वाले नवयुवको की आवश्यकता थी

जिनके शरीर मे असीम बल मन मे अदम्य उत्साह भरा हुआ हो। जिन्होने अपने देश की परम्पराओ का त्यागन का सकल्प न किया हो तथा सत्य को स्वीकार करने के लिये जिन्होने अपने हृदय के सारे द्वार खुले रखे हो।[1]

इस श्रेणी के युवको मे सबसे आगे थे श्री नरेन्द्र नाथ दत्त (स्वामी विवेकानन्द)। इन युवको का उद्देश्य केवल आत्मरक्षा ही नही वल्कि आत्मज्ञान आत्मश्रृद्धा और आत्म-समाधि प्राप्त करना था तथा समाज के अन्य लोगो को इस दिशा मे लाभ पहुँचाना था।

इस क्षेत्र मे स्वामी विवेकानन्द जी ने वह कार्य कर दिखाया जिसे शकराचार्य के बाद अन्य किसी महापुरुष ने करने का साहस नही किया था। तत्कालीन परिस्थितियो मे यह सोचा भी नही जा सकता था कि प्राचीन भारतीय आर्यो की एक सन्तान अपनी तपस्या के बल पर इग्लैण्ड तथा अमेरिका के विद्वानो को यह कर दिखायेगी कि प्राचीन हिन्दू-धर्म अन्य धर्मो की अपेक्षा श्रेष्ठ है।[2]

स्वामी विवेकानन्द जी प्राचीन भारत के गोरव को पुनर्स्थापित करना चाहते थे। वे अपने देश की अव्यवस्था से अत्यन्त चिंतित थे। उन्होने कहा कि यह एक अस्तव्यस्तता का युग है। समाज की बिगडी हुई अवस्था का सुधार करने के लिये जो भी सामाजिक व धार्मिक आन्दोलन हुए वे अपने लक्ष्य को प्राप्त करने मे सफल सिद्ध नही हो पाये। इन आन्दोलनो की भी वही परम्परा थी, जो दिल्ली साम्राज्य के प्रभुत्व काल मे उत्तर-भारत के सम्प्रदायो की थी। इन दिनो विजयी जाति के साथ आध्यत्मिक असमानता की अपेक्षा सामाजिक असमानता बहुत अधिक थी। गोरे शासको का समर्थन प्राप्त करना ही इस शताब्दी के हिन्दू सम्प्रदायो ने अपना प्रमुख लक्ष्य बना रखा था। इन सम्प्रदायो की स्थिति भी कुकुरमुत्तो जैसी हो गयी थी। ये सम्प्रदाय जनमानस से अलग होते जो रहे थे।[3]

---

1 भारतीय धर्म तथा सस्कृति डॉ० रामजी उपाध्याय पृष्ठ 130

2 विवेकानन्द साहित्य प्रथम खण्ड पृष्ठ 241

स्वामी विवेकानन्द जी ने गुरु रामकृष्ण देव के द्वारा निर्धारित किये गये मार्ग पर चलते हुए समाज-सुधार के कार्य को आध्यात्मिक स्वरुप प्रदान किया। वे मानते थे कि राष्ट्र के पास धर्म और परम्पराओ की वह अमूल्य धरोहर है जिसके आधार पर देश की सभी सामाजिक और राजनैतिक समस्याओ का समाधान किया जा सकता है।[1]

शिकागो की विश्व-धर्म महासभा मे ससार के विभिन्न धर्म प्रतिनिधियो के सम्मुख उन्होने बताया कि 'भारतीय सनातन धर्म' ही श्रेष्ठ है। वैदिक-धर्म का सामना ससार का कोई भी धर्म नही कर सकता। इतना ही नही उन्होने कई महाद्वीपो के भिन्न-भिन्न स्थानो पर वेदिक ज्ञान का प्रचार करके वहॉ के बहुत से विद्वानो का ध्यान प्राचीन धर्म तथा दर्शन की ओर आकर्षित कर दिया, जिसका अब वहॉ से हटना असम्भव है।[2] आज तक यूरोप तथा अमेरिका के आधुनिक सभ्य राष्ट्र हमारे धर्म के असली स्वरुप से नितान्त अनभिज्ञ थे, परन्तु स्वामी विवेकानन्द ने अपनी आध्यात्मिक शिक्षाओ द्वारा उन सभी की ऑखे खोली थी। आज पाश्चात्य राष्ट्रो को यह मालूम हो गया कि हमारा प्राचीन धर्म जिसे वे अज्ञानतावश पाखण्डियो की रुढियो का धर्म अथवा केवल मूर्खो के लिये पोथा का ढेर ही समझा करते थे।[3] स्वामी विवेकानन्द जी के द्वारा किये गये धर्म-प्रचार से उन सभी के दृष्टिकोण मे परिवर्तन आ गया।

स्वामी जी ने विश्व को यह बताया कि - प्राचीन भारतवासियो ने प्रकृति के साथ युग-युगान्तर व्यापी सग्राम मे जो असख्य जय-पताकाए सग्रह की थी वे झझावात के झकोरे मे पडकर यद्यपि आज जीर्ण हो गयी है किन्तु फिर भी वे भारत के अतीत गौरव की जय घोषणा कर रही है।

स्वामी जी ने कहा कि - भारत सम्राट अशोक के समय से ही अपने धर्म प्रचारक बाहर भेजता आया है। उन दिनो जब बौद्ध धर्म नया था और उसके पास आस-पास के राष्ट्रो को सिखाने के

1 विवेकानन्द साहित्य दशम खण्ड पृष्ठ 125

2 विवेकानन्द साहित्य पचम खण्ड, पृष्ठ 242

लिये कोई बात थी कालान्तर मे स्वार्थ बढ जाने के कारण यह कार्य अवरुद्ध हो गया है। यह सिद्धान्त भुला दिया गया कि - राष्ट्र और व्यक्ति समान रुप से आपस मे लेन-देन के द्वारा ही कायम रहते हे ओर उन्नति करते है[1], ससार के प्रति उनका सदेश सदैव एक ही रहा है। वह आध्यात्मिक हे अन्तर्मुखी विचारो का क्षेत्र हे। भारत भविष्य का महान विजेता होगा। एक समय था जब भारत धर्म - प्रचार कार्य की एक महान शक्ति थी। इग्लैण्ड के ईसाई धर्म स्वीकार करने के सैकडो वर्ष पहले से ही भारत विश्व मे धर्म प्रचार करता रहा है।[2]

स्वामी विवेकानन्द जी समग्र रुप से भारतीय है उनके समस्त विचारो मे उनकी राष्ट्र के प्रति अटूट श्रद्धा और भारत की समस्त जनता का सगठन सम्मिलित है। उनके विचारो ने बगाल के राष्ट्रीय आन्दोलन मे बहुत योगदान किया है। वे अग्रेजो से युद्ध करने के अतिरिक्त इस बात पर जोर देते थे कि एक ऐसा जनमानस तैयार होना चाहिये जो परतन्त्रता को नही वरन् स्वतन्त्रता को स्वीकार करे और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास करे। इसके लिये राजनीति और समाज सुधार केवल आशिक परिवर्तन ला सकते है। समस्याओ का जड से अन्त करने के लिये प्राचीन भारतीय आध्यात्मिक प्रवृत्ति को अपनाया जाना ही उन्होने आवश्यक बताया जिससे कि देश मे एक जागृति पेदा हो। प्रत्येक राष्ट्र का अपना कर्त्तव्य होता हे और स्वभावत प्रत्येक राष्ट्रकी अपनी विशेषता हे अपना व्यक्तित्व है, प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रो के साथ सम्बन्ध रखने के लिए भी अपनी एक धारणा रखता हे। यही राष्ट्रीय जीवन का आधार है।[3]

स्वामी जी का विश्वास था कि भारतीय सस्कृति का ही विकास कर हम महान से महान कार्य कर सकते है। भारत स्वय विचारो के मामले मे धनी है। विश्व की समस्त सस्कृतियो ने भारतीय सस्कृति से बहुत कुछ लिया है। स्वामी विवेकानन्द जी की यही धारणा आधुनिक भारत की

---

1 विवेकानन्द साहित्य चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ 235

2 विवेकानन्द साहित्य चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ 235

सांस्कृतिक चेतना का मूलाधार है। स्वामी जी ने अपने सदेश से सोये हुए भारत की तन्द्रा भग कर नवीन भारत का निर्माण किया। अपमूल्यो का नाश हुआ और सदमूल्यो का सृजन हुआ।

स्वामी जी न अपने कर्मगय जीवन से राचित तामसिक मूल्यो को दूर किया एव जाति के सुप्त चेतन मूल्यो को जागृत किया। सामाजिक, राजनेतिक, आर्थिक इत्यादि सभी क्षेत्रो मे आज उन्ही के द्वारा स्थापित क्रातिकारी नवीन मूल्यो का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता हे। राष्ट्रीय आदोलन मे भी स्वामी जी ने नवमूल्यो की स्थापना कर इसे अभिप्रेषित करने का कार्य किया। स्वतत्रता आदोलन के नेताओ ने भी स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व से प्रत्यक्ष और परोक्ष रुप से प्रेरणा ग्रहण की थी।

एक सर्वथा नवीन मूल्य के रुप मे आर्थिक साम्य की कल्पना भी स्वामी जी ने बहुत पहले ही की थी जिस पर आज भारत का समाजतत्र-वाद टिका हुआ है तथा जिस मूल्य की नीव पर गणतात्रिक राष्ट्रगठन के कार्य मे देश के नेतागण जुटे हुए है। स्वामी जी ने समाजतत्र रुपी एक नवीन मूल्य का विचार प्रतिपादित किया था और खुद को समाजतत्रवादी के रुप मे घोषित भी किया था लेकिन उनके समाजवाद की कल्पना आज के निरीश्वर साम्यवाद से मूलत भिन्न थी। स्वामी जी ने दृढ कठ से कहा है कि एकमात्र वेदान्त ही समाजतत्रवाद की युक्तिसगत दार्शनिक भिति होने लायक हे। व कहते है कि मानव समाज की उन्नति चाहने वाले व्यक्तिगण कम से कम उनके परिचालकगण यह समझने का प्रयास कर रहे हैं कि उनके धन साम्य एव समान अधिकार पर आधारित मतवाद की एक आध्यात्मिक भिति रहना सगत हे और एकमात्र वेदात ही यह भित्ति होने योग्य है। उन्होने आगे भी कहा है कि सामाजिक राजनैतिक एव आध्यात्मिक सभी क्षेत्रो मे यथार्थ मगल स्थापित करने का केवल एक ही सूत्र विद्यमान हे और वह सूत्र है यह जान लेना कि - 'मे और मेरा भाई एक है। सभी देशो, सभी युगो मे, सभी जातियो के लिए यह महासत्य समान रुप से लागू होता है। उन्होंने वेदान्त के आत्मिक एकत्व पर आधारित साम्य को मानव जीवन के सभी क्षेत्रो मे प्रवेश करने के लिए कहा। इस प्रकार साम्य के इस भाव को स्वामी जी ने चिरनवीन मूल्य के रुप मे प्रतिपादित किया था।

उन्होने राष्ट्रगठन के रुप मे एक ऐसे आदर्श मूल्य की कल्पना की थी जिसमे ब्राह्मण युग का ज्ञान क्षत्रियो की सभ्यता वैश्यो की प्रसार की शक्ति तथा शूद्रो का साम्य आदर्श ये सब पूरी-पूरी मात्रा मे बने रहेगे पर इनके दोष न रहेगे। जब वे कहते थे कि - ब्राह्मण क्षत्रिय और वेश्य युगो की प्रधानता अब अस्ताचल की ओर चली गयी हे अब तो शूद्र युग का प्रादुर्भाव होगा। इसे कोई रोक नही सकेगा। निश्चित रुप से उनकी दृष्टि कितनी भविष्योन्मुखी थी इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता हे क्योकि आज इसी दलित चेतना दलितोत्थान की बात सामाजिक राजनैतिक क्षेत्र मे की जा रही है। दलित हित के सामाजिक उत्थान की बात गॉधी ने भी उठायी थी। इस प्रकार दलित चेतना जो सामाजिक धरातल पर एक मूल्य के रुप मे स्थापित हो गयी हे उसकी उद्‌भावना भी विवेकानन्द ने ही कर दी थी। तभी तो उन्होने ब्राह्मण आदि उच्च वर्णो से कहा था कि - तुम लोग अपने को शून्य मे लीन करके अदृश्य हो जाओ और अपने स्थान पर नवभारत का उदय होने दो। उसका उदय हल चलाने वाले किसानो की कुटिया से, मछुए मोचियो और मेहतरो की झोपडियो से हो। स्वामी जी ने अपनी शिक्षाओ और उपदेशो से समाज मे व्याप्त अनेको अपमूल्यो का निरसन भी किया था। तत्कालीन भारतीय समाज मे व्याप्त जाति–व्यवस्था एव वर्ण–व्यवस्था को अपमूल्य (Disvalue) के रुप मे चित्रित करते हुए स्वामी जी ने इसका बडे व्यापक स्तर पर विरोध किया। जातिवादी तथा वर्णवादी व्यवस्था के कारण समाज की आधारशिला डगमगाने लगी थी। स्वामी जी ने इसको सर्वथा नए रुप मे परिभाषित करने का प्रयास किया था। उन्होंने जाति व्यवस्था मे आयी बुराइयो को दूर करने का प्रयास किया। स्वामी जी ने वर्ण के सिद्धान्त मे जाति को मात्र जन्म के आधार पर न मानकर कर्म के आधार पर स्वीकार किया। वे मानते थे कि मनुष्य के लिए एक जाति से दूसरी जाति मे चले जाना सम्भव है। स्वामी जी के उपरोक्त विचार सामाजिक आधार पर एक क्राति का आहवान करते है।

भारतीय समाज मे अस्पृश्यता एव कुसस्कार एक अपमूल्य के रुप मे फैला था। उसका भी स्वामी जी ने अपने प्रवल तर्को से विरोध किया। स्वामी जी का कार्य था कुसकोच के स्थान पर सम्प्रासण की शक्ति का सचार करना। अस्पृश्यता को वे देश की आध्यात्मिक उन्नति मे सबसे बडी

[illegible] मानते थे। उन्होने कहा कि रुढिवादिता एक अपमूल्य है जो हमे नीचे गिराती है। हमे इससे अलग रहकर अप्रगतिशील विचारो को त्यागकर प्रगति के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। समाज मे फैसे अधविश्वास को मिटाना चाहिए। तर्क ओर बुद्धि की कसौटी पर ही किसी परम्परा को स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार तर्क एव बुद्धि को उन्होने अपमूल्यो के निवारण के साधन मूल्य के रुप मे स्वीकार किया था।

उन्होने धर्म की नयी परिभाषा दी तथा उसे नवीन सदर्भो मे व्याख्यायित किया। धर्म का उन्होने शाश्वत मूल्य तो स्वीकार किया लेकिन इसकी प्रणाली तार्किक एव बोद्धिक बनाने की बात की थी। उन्होने कहा था कि हम सब धर्मो मे निम्न सत्य से उच्च सत्य की ओर जाते हे। सम्पूर्ण सृष्टि के पीछे एक एकता हे पर मनो मे बडी विविधता है। वह (ब्रह्म) एक है ज्ञानी उसे विविध नामो से पुकारते हे।[1] उन्होने आत्म त्याग को सर्वोच्च कोटि का धर्म माना था। उनके शब्दो मे धर्म की उत्पत्ति आत्म त्याग से ही होती है। अपने लिए कुछ भी मत चाहो। सब दूसरो के लिए चाहो। इस प्रकार धर्म के क्षेत्र मे भी विवेकाननद जी ने त्याग सहिष्णुता उदारता आदि मानवीय गुणो को सर्वोच्च मूल्यो के रुप मे स्वीकार किया था।[2]

विवेकानन्द जी ने मानव धर्म को एक नवीन मूल्य के रुप मे विश्व के सामने रखा था। उन्होने सर्व धर्म सम्मेलन मे यह सिद्ध कर दिया था कि धार्मिकता, पवित्रता और सहिष्णुता विश्व के किसी एक मठ की बपौती नही है। उन्होने कहा था कि विश्व बधुत्व की स्थापना तभी हो सकती है जब मानव धर्म की स्थापना हो तथा मानव धर्म की स्थापना के लिए आवश्यक है कि - धार्मिक कुरीतियो का निराकरण किया जाय। इस प्रकार मानव धर्म ही उनका सर्वोच्च अभिप्रेत था तथा मानव धर्म ही वह मूल्य था जिसका प्रचार प्रसार उन्होने अपने जीवन का लक्ष्य बना रखा था।

---

1 विवेकानन्द साहित्य प्रथम खण्ड पृष्ठ 252

धार्मिक सहिष्णुता जिसका एक चरम मूल्य के रुप मे स्वामी जी के गुरु रामकृष्ण परमहस ने शायद सबसे पहले पहचाना था। इसी धार्मिक सहिष्णुता और मानव प्रेम का सदेश स्वामी जी आजन्म फैलाते रहे।

इस प्रकार हम देखते है कि सास्कृतिक नवजागरण काल मे स्वामी विवेकानन्द का प्रादुर्भाव एक युगान्तरकारी घटना था। उनके गुरु रामकृष्ण देव ने जिन मूल्यो और सिद्धान्तो का प्रणयन किया था उसे जन सामान्य मे व्याप्त करने का कार्य स्वामी विवेकानन्द जी ने किया था। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे भारतीय सामाजिक राजनैतिक क्षितिज पर विवेकानन्द का उदय कुछ नवीन मूल्यों के अभ्युदय के रुप मे हुआ था। उन्होने तत्कालीन समाज से व्याप्त अपमूल्यो यथा रुढिवादिता, वर्ण व्यवस्था जातिव्यवस्था धार्मिक असहिष्णुता आदि का निरसन किया तथा धार्मिक सहिष्णुता मानव धर्म त्याग प्रेम आदि सद्मूल्यो की स्थापना की जिन्होने आगे चलकर भारत की राष्ट्रीय जागृति मे अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

द्वितीय खण्ड

स्वातंत्र्य-पूर्व मूल्य-दर्शन

अध्याय 1

रवीन्द्र नाथ टैगोर (1861-1941)

1 1 सामान्य परिचय

रवीन्द्र क सम्बन्ध मे काउण्ट कैसरलिग की टिप्पणी कि 'उनसे अधिक सार्वभोमिक सर्वव्यापी व्यक्तित्व वाल इन्सान से मरी भेट नही हुई"[1] अति शयोक्तिपूर्ण नही है। रवीन्द्र के इस सार्वभौमिक सर्वव्यापी व्यक्तित्व क निर्माण मे बहुत से तत्वो का प्रभाव रहा। ये तत्व उन्हे प्राच्य और पाश्चात्य दोना ही सरस्कृतियो व परम्पराओ से प्राप्त हुए। प्रथमत उन्हे उपनिपदो से सर्वाधिक प्रेरणा मिली। अपने अधिकाश समकालीनो की अपेक्षा रवीन्द्र नाथ ने उपनिषदो से कही अधिक प्राप्त किया।[2] दूसरे इतना ही स्थायी प्रभाव ईश्वरवादी परम्परा का है"[3] किन्तु यह मात्र वैष्णव विचारधारा तक ही सीमित नही हे' व कबीर और तुकाराम की ओर उतने ही अधिक आकर्षित थे जितने बगाल के वैष्णव कवियो की ओर।'[4] तीसरे" बोद्ध धर्म का टैगोर के लिए जीवन की हर अवस्था से बडा महत्व रहा[5] किन्तु बोद्ध धर्म के प्रभाव का कारण उसका तत्वमीमासीय सिद्धान्त नही अपितु उसका मानवतावादी पक्ष रहा। टेगोर कहते है उसकी मैत्रीभावना, उसकी करूणा तथा दया और बुद्ध के विश्व-प्रेम ने, इन्सान-इन्सान के बीच से दीवारे हटाने मे सहायता की है,[6] चौथे 'पाश्चात्य प्रभाव

---

1 स रामानन्द चटर्जी गोल्डेन बुक आफ टैगोर गोल्डेन बुक कमेटी कलकत्ता 1931 पृ० 127

2 विश्वनाथ नरवणे आधुनिक भारतीय चिन्तन पृ० 133

3 वही पृ० 131

4 वही पृ 132

5 वही पृ० 132

यूरोपीय चिन्तन संस्कृति और सामान्य जीवनपद्धति का प्रभाव है वे विज्ञान को 'यूरोप का मानवता के लिए महानतम अवदान' कहते थे।[1] 'यदि संस्कृति और विज्ञान का महान आलोक यूरोप मे बुझ जाय तो पूर्व मे हमारा क्षितिज भी अन्धकार मे विलखता रह जाएगा।[2] इसके अतिरिक्त टैगोर ने वेद संस्कृत वाङ्मय बंगाल के लोक गायक बाउल तथा समकालीन देशीय व अन्तर्देशीय बौद्धिक क्रान्तियो से भी प्रभाव व प्रेरणा ग्रहण की। अत कहा जा सकता है कि गेटे के बाद अन्य कोई ऐसा कवि नही हुआ जिसने इतने स्रोतो को इतनी गहराई से आत्मसात् किया हो अथवा इतने सारे विभिन्न विचारो पर इतना कठोर दार्शनिक अनुशासन स्थापित किया हो।[3] टैगोर की ग्रहणशीलता अद्वितीय है। उनके दर्शन का केन्द्रीय लक्ष्य था प्रत्येक धार्मिक और दार्शनिक परम्परा के श्रेष्ठतम तत्वो का समन्वय परस्पर विरोधी दृष्टिकोणो की उग्रता को मृदु करके उनके बीच सृजनात्मक मध्यम मार्ग की स्थापना दूरस्थ छोरो के बीच मध्यस्थता। आधुनिक चिन्तन के क्षेत्र मे वे सर्वोच्च सामजस्यकर्ता, समन्वयकारी और शान्ति स्थापक है।'[4]

1 2 रवीन्द्र-दर्शन व चिन्तन का सामान्य सर्वेक्षण

रवीन्द्र अपने को दार्शनिक कहने मे सकोच का अनुभव करते है। यह सत्य है कि शास्त्रीय अर्थो मे वे दार्शनिक नही है परन्तु यदि दर्शन जीवन-जगत के प्रति एक दृष्टि है तो निस्सन्देह रवीन्द्र एक द्रष्टा है दार्शनिक है।"[5] रवीन्द्र के दर्शन मे मानव–मूल्यो की परीक्षा से पूर्व यह आवश्यक है कि उनके सामान्य दर्शन-चिन्तन को सक्षेप मे अवलोकित कर लिया जाय। यद्यपि उन्होने किसी परम्परागत ढॉचे के अनुसार अपनी दार्शनिक मान्यताओ को प्रस्तुत नही किया परन्तु सुविधा की दृष्टि से उसे तत्वमीमासीय, नीति-शास्त्रीय व सामाजिक-राजनीतिक आदि विविध शीर्षको मे विभक्त किया

---

1 वही पृ० 133

2 वही पृ० 133

3 वही पृ० 133

4 वही पृ० 135-1

जा सकता है। किन्तु यहा कोई भ्रान्ति नही होनी चाहिए कि रवीन्द्र के चिन्तन मे इस तरह का कोई विभाजन प्राप्त होता है। उनके चिन्तन मे इन सभी को समग्र रूप से ही ग्रहण किया गया है।

1 3 तत्वमीमासीय विचार

टेगोर के दर्शन मे ईश्वर, मनुष्य और प्रकृति तीन मूल तत्व है। तीनो एक अनिवार्य सम्बन्ध मे बंधे हुए है।

1 3(अ) ईश्वर

ईश्वर तर्क का विषय न होकर अनुभव का प्राथमिक तत्व है। ईश्वर के लिए परम्परागत शास्त्रीय दार्शनिक प्रमाणो का सकेत कही-कही उनके चिन्तन मे प्राप्त होता है परन्तु ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने लिए उन्होने सोन्दर्यमूलक अनुभूति व ईश्वर के व्यक्तिगत अनुभव को आधार बनाया है।

ईश्वर के स्वरूप की दृष्टि से उनका झुकाव सगुण ब्रह्म् या ईश्वर की ओर है। ईश्वर अपनी सम्पूर्ण सृष्टि से प्रेम रखता है। किन्तु ईश्वर के वेयक्तिक स्वरूप को स्वीकार करते हुए भी वे ईश्वर की असीमता की उपेक्षा नही करते। वे सत्ता के वैयक्तिक पक्ष को प्राथमिकता देते है किन्तु उसके निर्वेयक्तिक पक्ष का निषेध नही करते। वे मानते है कि इनमे विरोध नही है, दोनो एक साथ सम्भव है। रवीन्द्रप्रेम के आधार पर विरोधी प्रतीत होने वाले इन दो पक्षो का समन्वय करते है।[1]

1 3(ब) जीव

जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता है।[2] मनुष्य एक साथ ही ससीम-असीम दोनो है। उसका ससीम छोर अनिवार्यता के विश्व मे है एव असीम छोर उसकी आकाक्षाओ के विश्व मे। आत्मा सिद्धान्त रूप मे असीम है किन्तु अभिव्यक्ति के रूप मे ससीम है।[3]

---

1 द्रष्टव्य विश्वनाथ नरवणे आधुनिक भारतीय चिन्तन पृ० 142–43

2 वही पृ० 143

3, वही पृ० 144

आत्मा की स्वतन्त्रता स्वयं ईश्वर के लिए अनिवार्य है। ईश्वर कहता है- मेरे पास स्वतन्त्र सत्ता के रूप मे आओ। किसी भी बन्धन-ग्रस्त सत्ता की सम्मुख मुझ तक पहुंच नही हो सकती।[1]

टेगोर एक और अनेक की समस्या का समाधान भी सरलता से कर देते है। इसके लिए व बीज (एक) व वृक्ष (अनेक) की उपमा को प्रयोग करते है। किन्तु एकता मे अनेकता का यह विरोधाभास तर्क द्वारा नही अपितु वैयक्तिक अनुभूति विशेषत आनन्दानुभूति द्वारा ही समझा जा सकता है।

1 3(स) जगत

ससीम जगत असंदिग्ध रूप से सत्य है। ससीम जगत को अस्वीकार करना भीरुता है। जगत को मिथ्या कहना या प्रतीति (आभास) मानना गलत है।

1 4 ईश्वर, जीव व जगत मे सम्बन्ध

टेगोर के चिन्तन मे 'मात्रा का सिद्धान्त' अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसी सिद्धान्त के आधार पर ईश्वर जीव व जगत मे सम्बन्ध स्थापित करते हुए टेगोर तीनो की सत्ता स्वीकार करते है - परम व्यक्तित्व ओर परमचेतना के रूप मे ईश्वर की, परिवर्तन और अनेकरूपता के क्षेत्र के रूप मे प्रकृति या दृश्य जगत की ओर असीम व्यक्तित्व, स्व या आत्मा की।"[2]

ईश्वर और जगत अस्तिव की उच्च और निम्न मात्राओ के सूचक है। ईश्वर से प्रकृति न तो पूर्ण पृथक हे और न ही एकाकार है। "ईश्वर जगत के बिना निरी कल्पना है, ईश्वर के बिना जगत निरी विश्रृखलता।"[3]

---

1 वही पृ० 144

2 वही पृ० 152

3 वही पृ० 153

प्रकृति और आत्मा के मध्य अन्तर है पर विरोध नही है। प्रकृति के बढ़े हुए मैत्री के हाथ का तिरस्कार करके मानवता की प्रगति अवरूद्ध होती है। जब कोई मनुष्य प्रकृति-जगत से अपना सम्बन्ध भी पहचान पाता तो के ऐसा कारागार मे रहने लगता है जिसकी दीवारे उसकी शत्रु होती है।[1] प्रकृति और आत्मा एक दूसरे के बिना अपूर्ण है। प्रकृति अपनी सार्थकता के लिए आत्मा पर निर्भर है और आत्मा अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति पर।

ईश्वर के प्रकट रूपो मे मनुष्य अतुलनीय है। मानव आत्मा अनुपम है क्योकि उसमे ईश्वर अपने आपको विशेष प्रकार से प्रकट करता है।'[2]

1 5 नीतिमीमासा

टैगोर सुखवाद व उपयोगितावाद के अतिवादी रूपो को स्वीकार नही करते। इसी कारण वे शाक्तो तथा नीत्शे द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त 'शक्ति ही सद्‌गुण है' को अस्वीकार कर देते है।

वे आत्ममूलक सुखवाद तथा पूर्णत त्यागमूलक सन्यासवाद के विरोधी है। वे इन दोनो प्रवृत्तियो मे सामजस्य स्थापित करते है। वे कर्म एव चिन्तन के मध्य मध्यम मार्ग-साधना-मार्ग का प्रतिपादन करते है। टैगोर के दर्शन मे सामजस्य या समन्वय-सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होने दो अतियो का अस्वीकार करते हुए मध्यम मत (गोल्डेन पाथ) को अपनाया।

स्वतन्त्रता और सयम परस्पर पूरक है। इनमे विरोध नही है। स्वतत्रता से तात्पर्य आत्म नियन्त्रण से है। नैतिक नियमो का मुख्य लक्ष्य आत्म-नियत्रण के स्तर तक उठाना है।

धर्म के सम्बन्ध मे टैगोर की धारणा अत्यन्त उदात्त है। वे मानव-धर्म के पक्षधर है। सब प्राणियो मे ज्ञान द्वारा प्रेम द्वारा ओर सेवा द्वारा समभाव रखना और इस तरह सर्वव्यापक मे अपने

रूप को अनुभव करना ही मानव-धर्म का सर्वश्रेष्ठ तत्व है।"[1] वे सगठित या संस्थागत धर्म को नही स्वीकार कर पाते" क्योकि वह आत्म दर्शन मे बाधा डालता है।[2] कवि का धर्म खोजने के लिए है कट्टर धर्मात्मा या धर्मतत्वज्ञ का धर्म खोजने के लिए नही है।[3] उनकी मानव-धर्म की खोज प्रकृति से आरम्भ होते हुए सर्वेश्वरवाद तक पहुची। किन्तु उन्हे यहा भी सन्तोष नही हुआ क्योकि वे उस सर्वव्यापी शक्ति के साथ भावनात्मक स्तर पर और भी गहरे सम्पर्क के लिए लालायित थे।[4] प्रेम के आदान-प्रदान की इस लालसा के कारण वे ईश्वर को वेयक्तिक रूप देते है यही उनका 'जीवन देवता' है। किन्तु उन्हे यहा भी सन्तोष नही मिलता। उन्होने वेयक्तित ईश्वर के साथ सम्पर्क मे आनन्द लेना छोड दिया और जन-साधारण के माध्यम से उससे सम्पर्क स्थापित करना उन्हे ज्यादा अच्छा लगा। उनकी ऑखो मे वे लोग अधम जनसमूह नही बल्कि ईश्वर का अवतार थे।[5] यही रवीन्द्र का मानव-धर्म था। समग्रमानवता-विशेषत दीन-हीन मानव-की सेवा व कल्याण ही उनके मानव-धर्म का उद्देश्य है।

1 6 सामाजिक एव राजनीतिक चिन्तन

रवीन्द्र उन सभी प्रणालियो के समर्थक है जो मानव के लौकिक-कल्याण मे लगे हुए है किन्तु उनका उन सभी व्यवस्थाओ से विरोध भी है जो मानव की गरिमा का अपहरण कर लेते है। साम्यवाद के सम्बन्ध मे उनकी दृष्टि से ज्ञात होता है कि जहॉ एक ओर वे उसकी लोक कल्याण की भावना से प्रभावित थे वही मानव व्यक्तित्व को अपहृत करने की उसकी पद्धति के विरोधी थे।

---

1 रवीन्द्र नाथ टेगोर साधना (अनु० सत्य केतु विद्यालकार) राजपाल एण्डसस नई दिल्ली 1972 पृ० 24

2 हिरण्मय बनर्जी रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्रकाशन विभाग भारत सरकार नई दिल्ली –1982 पृ० 101

3 वही पृ० 105

4 वही पृ० 110

5 वही पृ० 1[illegible]

समग्र रूप म रवीन्द्र अन्तर्राष्ट्रीयतावादी थे। अपन देश क आदर्शों के प्रति प्रेम और श्रद्धा वास्तविक गुण हे पर दूसरे दशा के आदर्शों ओर परम्पराओ के प्रति अश्रद्धा मानवता क विरुद्ध अपराध है।[1] व विश्व-मानवता म विश्वास रखते है। वे सकीर्ण राष्ट्रवाद की विरागतियो त उत्पन्न साम्राज्यवाद उपनिवेशवाद क विरोधी है। इसीलिए वे पाश्चात्य-सभ्यता से प्रभावित होते हुए भी उसकी साम्राज्यवादी नीति क कारण उसम अपनी आस्था को स्थिर नही रख पाते। एक समय था जब मै सोचता था कि एक दिन यूरोप क अन्तर स एक वास्तविक-सभ्यता का जन्म होगा। आज जब मै ससार छोडने जा रहा हू वह आस्था नष्ट हो चुकी है।[2]

1 7 मानववाद

रवीन्द्र का मानववाद जिन मूल धारणाओ पर प्रतिष्ठित है वे है- मानव-धर्म की स्थापना सत्य तथा विश्व का मानववादी निरूपण व्यक्ति की विशिष्टता पर आग्रह।

टेगोर का धर्म मानवधर्म है। वे मनुष्य को सर्वोच्च सत्य मानते है ओर उसके आध्यात्मिक विकास मे जो भी बाधक है वह धर्म नही है। मानवता की सेवा मानव भावना का सर्वमुखी विकास ही धर्म का उद्देश्य है। सारे उत्कृष्ट मूल्य जो ज्ञान, क्रिया, चरित्र एव सृजनात्मक कृतियो म व्यक्त होते है वे धर्म के ही परिचायक है।[3] रवीन्द्र की किसी सस्थागत या सगठित धर्म मे आस्था नही थी। उन्होने हमे प्रेम और मानवता सौन्दर्य ओर हास्य का धर्म सिखाया।"[4] टेगोर का मानव-धर्म नेतिक तथा सामाजिक जीवन क अन्तर्विरोधो को प्रेम तथा निस्वार्थ कर्म के विकास द्वारा हल करने के लिए

---

1 रवीन्द्र नाथ ठाकुर विश्वमानवता की ओर (टूवार्डस यूनिवर्सल मैन) अनु० इलाचन्द्र जोशी) हिन्दी समिति सूचना विभाग लखनऊ 1964 पृ० 23–24

2 वही पृ० 26

3 स० लक्ष्मी सक्सेना स० भा० द० पृ० 127

4 डा० राधाकृष्णन , रवीन्द्रदर्शन (फिलासफी आफ टैगोर) (अनु० ज्ञानवती दरबार) रजन प्रकाशन नई दिल्ली 1663 पृ० 10 (परिचय मे)।

प्राप्त करता है। रवीन्द्र नाथ का धर्म पाप-पुण्य नफे-नुकसान स्वर्ग-नरक के प्रलोभन अथवा भय से मुक्त है।[1] उनके अनुसार स्वार्थपरता ही अधर्म है प्रेम ही धर्म है। जिस भाँति एक प्रेमी अपनी प्रेमिका के सुख-दुख को अपना बना लेता है उसके लिए अपने प्राण तक न्योछावर कर सकता है उसी भाँति जिस दिन निकृष्टतम सुदूरतम मानवमात्र के दुख का हम अपना बना ले और उसको दूर करने मे अपने प्राणो तक का उत्सर्ग करने को प्रस्तुत हो उसी दिन हम धार्मिक कहलाने के अधिकारी होंगे उनका धर्म मानववाद की सुन्दर व्याख्या है रवीन्द्र के धर्म मे मानवीय तत्त्व ही प्रधान है। जबकि जो धर्म हम आज चारो ओर देखते है वह उस मानव तत्त्व को ही समूल नष्ट कर चुका है। यही रवीन्द्र के धर्म और प्रचलित धर्म मे मुख्य अन्तर है।[2] डा० राधाकृष्णन कहते है रवीन्द्र का वह आध्यात्मिक धर्म जिसका आदर्श विशुद्ध हृदय और ऊँचा चरित्र है, जिसका सिद्धान्त ईश्वर के प्रति प्रेम और मानव की सेवा है, वह कभी भी पडित पुरोहितो की कटटरता पुराने रीति-रिवाजो कट्टरपथी सिद्धान्तो और अधविश्वासो असभ्यता और दम्भजाति पद और अधिकार बड़प्पन वर्ग-विशेष के स्वार्थ और जातीयता के आधार पर राष्ट्रो की श्रेष्ठता से समझौता नही कर सकता।[3]

रवीन्द्र धर्म की सामान्य प्रचलित अवधारणा को स्वीकार नही करते। वे सहज मानव धर्म मे आस्था रखते है। ईश्वर के प्रति निष्ठावान होते हुए भी वे मानव के प्रति अपनी निष्ठा को सर्वोपरि रखते है। उनका ईश्वर मंदिर मे नही है। वह तो किसानो व मजदूरो के साथ उनके कार्यो मे सहयोग करने के लिए उन्ही मे सम्मिलित है। इसलिए भजन पूजन साधना आराधना सभी को छोड़ कर इनके बीच मे श्रम करो यही सच्ची मुक्ति होगी —

---

1 रवीन्द्रनाथ टैगोर मनुष्य का धर्म (रिलिजन आफ मैन) (अनु० डा० रघुराज गुप्ता अपाला प्रकाशन सहकारी समिति लि० लखनऊ 1989

2 वही पृ० 10

3 डा० राधाकृष्णन रवीन्द्रदर्शन, पृ० 144–45

भजन पूजन साधन आराधना

सागरत्त शाक पड़े

* * * *

नयन मल देख देखि तुइ चेये-

देवता नाई धरे।

तिनि गेहेन जथाय माटि भेडे

करे छे चाषा चाष—

पाथर भेडे काट छे जे धाय पथ

खारछे वारो मारा।[1]

रवीन्द्र अन्नत ईश्वर से अपना परिचय पहचान साक्षात्कार किसी वन या एकात मे नही बल्कि जन-समूह के बीच करना चाहते है –

विश्व साथे जोगे जेथाय विहार

सेर जान जोग तो मार साथे आमारो।

नयको वने नय विजने

सवार जे थाय आपन तुमि हे प्रिय ''[2]

रवीन्द्र कहते है कि-परम्परागत धार्मिको का मानना था कि निर्जन मे, वन मे, एकान्त मे ईश्वर का दर्शन व परिचय प्राप्त होता है परन्तु अनुभव से हमे यह विश्वास हुआ कि वह हाट के बीच मे है—

' भेवे छिलेम विजन छायाय

नाई जेखाने आनागोना

---

1 गीताजलि गीत सख्या 119 (बगला) साहब कालेलकर युगमूर्ति रवीन्द्रनाथ कृष्णा ब्रदर्स अजमेर 1969 पृ० 213

2 वही पृ० 216

आको तोमार हाटेर माझे

चलछे जेथाय वेचाकेना। [1]

रवीन्द्र ने मुक्ति की प्राप्ति के लिए प्रचलित उपायो को निरर्थक बताया। उनकी मुक्ति वैराग्य साधना मे या इन्द्रिय द्वारो को बन्द करके योगासन जमाने मे नही 'वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय। इन्द्रियेर द्वार, रुद्ध करि योगासन, से नहे आमार। [2] बल्कि असख्य बन्धनो के बीच ' असख्य बन्धन-माझे महानन्दमय लभिबो मुक्तिर स्वाद।' [3] रवीन्द्र इस सुन्दर भुवन इस मानव के बीच रहना चाहते है–

'मरिते चाहि ना आमि सुन्दर भुवने
मानवेर माझे आमि बॉचि बारे जाइ' [4]

समस्त मनुष्यो के बीच एकात्मता अनुभव ही जीवन का लक्ष्य है। मनुष्य उसी को श्रेष्ठ जानता है जिसे सब कालो के सब मनुष्य स्वीकार कर सके। अर्थात् अपनी आत्मा मे सब मनुष्यो की आत्मा का परिचय देकर इसी परिचय की सम्पूर्णता मे ही मनुष्य का अभ्युदय है उसकी विकृति मे ही मनुष्य का पतन है। [5] अपने समान दूसरे को देखने की इच्छा को ही शुभ इच्छा कहते है सिद्धिलाभ शुभ नही है। गैरो के बीच अपने चैतन्य का प्रसारण ही शुभ है क्योकि परम मानवात्मा के बीच ही आत्मा सत्य है। [6] भूमा की उपलब्धि ही एकमात्रसाध्य है वही मानव के लिए सत्य है किन्तु ' भूमा आहार-विहार, आचार-विचार भोग-नैवेद्य और मत्र-तत्र मे नही है। भूमा विशुद्ध ज्ञान, विशुद्ध प्रेम विशुद्ध कर्म मे है।" [7]

---

1 वही पृ० 221

2 शिवनाथ रवीन्द्र साहित्य की समीक्षा हिन्दी समिति लखनऊ 1976 पृ० 47

3 वही पृ० 18

4 रवीन्द्र रचनावली प्रथम खण्ड पश्चिम बगाल सरकार बगाल 1368 पृ० 119

5 रवीन्द्र नाथ टैगोर मनुष्य का धर्म पृ० 34

6 वही पृ० 41

7 वही पृ० 57

वास्तव मे रविन्द्र का मानव-धर्म परम्परागत धर्म की मान्यताओ को अस्वीकार करता है। उनका मानवधर्म 'वसुधैव कुटुम्बकम' की अवधारणा पर टिका था। शान्ति निकेतन के लिए रवीन्द्र ने आदर्श वाक्य के रूप मे 'यत्र विश्वम भवति एक नीडम्' (जहा सम्पूर्ण ससार एक ही कोटर मे आ मिलता है) को चुना। उन्होने ग्रियर्सन को अपने पत्र मे लिखा था 'मेरी हार्दिक आशा है कि इस दुनिया से जाने के पहले मे सर्वत्र अपना घर बना सकूंगा।'[1] उन्होने इस जगत को पूर्ण सत्य मानते हुए प्रेम के द्वारा मानवएकता का प्रतिपादन किया। प्रेम से ही इस विश्व का जन्म हुआ है प्रेम से ही उसका जीवन हे और पेम की ओर उसका गमन है। इसी प्रेम से सामजस्य की उत्पत्ति होती है। प्रम और सामजस्य ही सहानुभूति को पेदा करते है। हमारी समस्त एकात्मना का मूल इन्ही मे है।

रवीन्द्र मुक्ति की अपनी नवीन धारणा द्वारा सर्वमुक्ति की बात करते है। रागरत मानव ससार मे जब तक दुख है, अभाव है अपमान है, तब तक कोई एक भी मनुष्य निष्कृति नही पा सकता। अन्धकार मे एक दीप के जरा सा छिद्र करने से रात्रि का क्षय नही होता, समस्त अधकार के अवसान से ही रात्रि का अवसान होता है।[2] किन्तु रवीन्द्र की मुक्ति ससार से पलायन नही है। वे तो इसी सुन्दर ससार मे जीना चाहते है दीन-हीन लोगो के साथ श्रम करना चाहते है उन्हे जगाना चाहते है।

रवीन्द्र का ईश्वर उनके मानव-धर्म को आघात नही पहुचाता क्योकि मानव स्वतन्त्र है और उसकी स्वतन्त्रता ईश्वर के लिए भी आवश्यक है। वे ईश्वर को अलौकिक सत्ता के रूप मे स्वीकार नही करते। वे ईश्वर की परिभाषा मनुष्य के रूप मे करते है। वह मन्दिर मे नही है वह किसानो मजदूरो के साथ काम करने वाला है। वह किसी तपस्या या साधना से नही मानव के साथ उसके कामो मे हाथ बटाने से प्राप्त होता है।

---

1 कृष्ण कृपलानी रवीन्द्रनाथ एक जीवनी (रवीन्द्रनाथ ए बायोग्राफी) (अनु० भारत भूषण अग्रवाल) शिवलाल अग्रवाल एड कम्पनी आगरा 1968 पृ० 250

2 रवीन्द्रनाथ टैगोर मनुष्य का धर्म पृ० 9

इस प्रकार रवीन्द्र-- का धर्म मानवता की सेवा व कल्याण का धर्म है। जिसमे ईश्वर को स्थान तो मिला है पर वह किसी दूसरे लोक का वासी न होकर मदिर से बाहर किसानो-मजदूरो के बीच काम कर रहा है। धर्म को मान्यता तो है परन्तु यह सस्थागत या साम्प्रदायिक नही है। धर्म व नीति के तत्व तो है किन्तु दूसरे रूप मे। मुक्ति की कामना के स्थान पर इस सुन्दर ससार मे जीने की कामना है। मुक्ति का तात्पर्य ससार से वैराग्य या सन्यास नही बल्कि ससार मे मानव-कल्याण के लिए सलग्नता है। समग्रत यह मानवता के कल्याण का धर्म है।

1.8 सत्य तथा विश्व का मानववादी निरूपण

कोई भी सत्य स्वय मे निर्जीव है। टेगोर ने आइस्टाइन के साथ बातचीत मे इसी बात पर बल दिया है। उनके अनुसार सभी सत्य-वेज्ञानिक सत्य भी-मानवीय सत्य है मानवीय चेतना से पृथक उसका सार्थक अस्तित्व नही है।[1] सत्य का सम्बन्ध स्वतन्त्रता व सयम से भी है। ये सत्य के दो पहलू है। सत्य को केवल वही समझता है जो सभी मे एकता की अनुभूति करता है। सत्य हमे 'वसुधैव कुटुम्बकम्'' की ओर ले जाता है। यह विश्व बन्धुत्व की ओर प्रेरित करता है। यह **''भ्रातरो मानवा सर्वे '** की अनुभूति करने की प्रेरणा देता है। सत्य की मानववादी व्याख्या के साथ ही व विश्व की भी मानववादी व्याख्या प्रस्तुत करते है। वे कहते है कि गायत्री मत्र का चिन्तन करते-करते भान होता है कि विश्व भुवन का अस्तित्व ओर मेरा अस्तित्व एकात्मक है। 'भुभूर्व स्व'-यह भूलोक अन्तरिक्ष मे उसी के साथ अखण्ड हू। इस विश्व ब्रह्माण्ड के आदि अन्त मे जो है वे मेरे मन मे चैतन्य की प्रेरणा करते है। चैतन्य ओर विश्व, बाहर और अन्तर सृष्टि की यह दो धाराये एक धारा मे मिल गई है।''[2] वे विश्व मे अपनी एकात्मकता का अनुभव करते हैं इसलिए विश्व को असत्य नही मान सकते क्योकि विश्व को असत्य मानने का अर्थ है स्वय को असत्य मानना। यह ससार केवल उसी के लिए असत् है जो इसे बौद्धिक दृष्टिकोण से ग्रहण करता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर के

---

1 शांति जोशी समसामयिक भारतीय दार्शनिक पृ० 16 (डा० डी० ए० द्विवेदी का लेख)।

2 रवीन्द्र नाथ टैगोर मनुष्य का धर्म पृ० 69

लिए तो इसकी वास्तविक सत्ता है क्योकि इसमे उन्हे आनन्द मिलता है। ससार को माया कहना या असत मानना उनका कार्य है जो अपनी ऑखे बन्द किये हुए है। यह जगत यथार्थ है और इससे पर कोई अन्य जगत नही है। अत मानवता का लक्ष्य इसी जगत म सर्वाधिक कल्याण करना है। मानव की तरह विश्व भी स्वत त्र है। वस्तुत विश्व भी ईश्वर और जीव की तरह अस्तित्ववान है। टैगोर के मात्रा का सिद्धान्त तीनो के अस्तित्व को मानता है केवल उनकी मात्रा मे अन्तर है। प्रकृति अपनी सार्थकता के लिए आत्मा पर निर्भर है बल्कि मानवात्मा का 'निवास स्थान' भी है।'[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि टैगोर जहाँ सत्य को मानवीय चेतना से सम्बद्ध होने के कारण ही उसे मूल्यवान मानते है वही वे विश्व की यथार्थ सत्ता स्वीकार करते है। यही एकमात्र विश्व है इसके परे काई दूसरा विश्व नही और इसी विश्व मे मानवता का कल्याण मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है।

---

१ नरवणे आधुनिक भारतीय चिन्तन पृ० 154

अध्याय 2

महात्मा गॉधी : दिव्य ज्योति का धरा पर अवतरण

(2 अक्टूबर 1869—30 जनवरी 1948)

रानातन धर्म दर्शन एव सस्कृति के साक्षात् विग्रह महात्मा गॉधी सनातन [illegible] शोधक एव पेरोकार थे। वे अक्सर कहा करते थे कि मै किसी नये मत का पचार नही कर रहा हूॅ। गहात्मा गॉधी धर्मप्राण व्यक्ति थे। उनके मूल्य दर्शन या जीवन-दृष्टि का सार-सर्वस्व उनकी धर्म की अवधारणा मे समाहित हे।

2 1 गॉधी जी की धर्म, विषयक अवधारणा और नेतिकता

ससार की किसी भी भाषा मे "धर्म" का वस्तुत कोई पर्याय नही हे। "विष का धर्म हे उसका विषत्व। अमृत का धर्म हे उसका अमृतत्व। इसी प्रकार मानव का धर्म हे मानवत्व। जब तक मानव का मानवत्व हे तभी तक गानव, मानव हे। तात्पर्यत धर्म" वह हे, जिसरा हग है - जिराके बिना हम हो ही नही राकते।[1] धर्म का तत्व गूढ है।[2] वस्तुत 'धर्म" शब्द का [illegible] इतने [illegible] एव तत्व-प्रदर्शक दृष्टिगा के लिए होता रहा हे कि उसे एक निश्चित [illegible] मे [illegible]। ससार म धर्मो की विविधता देखकर जीवन-मार्ग मे पॉव रखते ही, यात्री को दिशा-भ्रम होने लगता हे और अन्त मे वह इस दिशा-भ्रम से घबडाकर अपने कुलधर्म अथवा किसी अन्य सम्प्रदाय के आगे माथा टेक देता है।

गॉधीजी 'धर्म" शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ मे करते है। वे 'धर्म' को किसी सम्प्रदाय विशेष के दार्शनिक सिद्धान्तो ओर रीति-रिवाजो तक ही सीमित नही मानते। उनका विचार है कि धर्म मनुष्य की आत्म-शुद्धि करता है और उसे सकुचित साम्प्रदायिक भेदभाव से ऊपर उठाकर मनुष्य मात्र

---

1 सुगन रागनाथ – "नीति धर्म, दर्शन 1968 भूमिका पृष्ठ 26

2 धर्मस्य तत्व निहित गुहायां कठोपनिषद् 312

मे एकता स्थापित करता है। वह मनुष्य को विश्व के रचयिता ईश्वर की खोज करन और उसके साथ सम्बद्ध हो जाने के लिए प्रेरित करता है। इस व्यापक अर्थ मे 'धर्म' शब्द हिन्दू ईसाई आदि किसी विशेष सम्प्रदाय का बोध नही कराता अपितु यह विश्व की नैतिक व्याख्या मे मनुष्य के विश्वास का द्योतक है। यह धर्म, हिन्दुत्व, इस्लाम ईसाई धर्म आदि सभी धर्मों से ऊपर और उनका आधार है यही व्यापक धर्म इन सभी धर्मों मे एकता स्थापित करता है।[1] गाधी जी कहते है कि धर्म' से मेरा अभिप्राय हिन्दू-धर्म से नही है जिसे कि मै बेशक और सब धर्मों से अधिक पसन्द करता हूँ मेरा मतलब उस मूल धर्म से है, जो हिन्दू-धर्म को लॉघ गया है, जो मनुष्य के स्वभाव तक का परिवर्तन कर देता है जो भीतरी शक्ति के साथ हमारा अटूट सम्बन्ध जोडता है, जो हमे निरन्तर अधिक शुद्ध एव पवित्र करता रहता है। वह मानव स्वभाव का शाश्वत तत्व है जो अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए कोई भी कीमत चुकाने को तैयार रहता है और आत्मा को उस समय तक बेचैन रखता है जब तक कि उसको अपने स्वरुप का पता नही लग जाता है, सर्जनहारा का ज्ञान नही हो जाता है।[2] इस प्रकार गॉधीजी के 'धर्म'' का अभिप्राय उस धर्म से है, जो सब धर्मों की बुनियाद है और जो हमे अपने सर्जनहारा का साक्षात्कार कराता है।[3]

धर्म गॉधीजी के हर कार्य मे समाया हुआ था। उनका कहना था कि ''**मनुष्य धर्म के बिना नहीं जी सकता। कुछ लोग अपनी बुद्धि के घमण्ड से कह देते है कि उन्हे धर्म से कोई वास्ता नहीं लेकिन यह तो उसी तरह है - जैसे कि कोई मनुष्य यह कह दे कि वह सॉस तो लेता है, परन्तु नाक से नहीं।**'' इस प्रकार चाहे बुद्धि से चाहे अन्ध-विश्वास से या चाहे सहज बोध से, मनुष्य ईश्वर के साथ अपना कुछ न कुछ सम्बन्ध मानता है।[4] सामान्य अर्थ मे ''धर्म'' मनुष्य की वह व्यापक

---

1 बोस निर्मल कुमार – 'सेलेक्शन फ्रॉम गॉधी' पृष्ठ 254

2 यग इण्डिया'' – 12 अप्रैल 1920 पृष्ठ 2

3 जोजेफ जे० डोक – ''एम० के० गॉंधी'', 1909, पृष्ठ 7

4 'यग इण्डिया 23 जनवरी 1930 पृष्ठ 25

अभिवृत्ति है जो उसके सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करती है ओर जो किसी देवी या अति प्राकृतिक सत्ता मे उसके विश्वास के फलस्वरुप उत्पन्न होती है।[1] परन्तु आज धर्म को जटिल ओर गहन बना दिया गया है। अत हमे "ऐसे किसी रासायनिक धर्म विचारक की जरुरत है, जो साधारण आदमी के सामने निकालकर रख दे कि इतना तो शुद्ध धर्म है और इतनी इसमे मिलावट है।[2] गॉधीजी ऐसे ही धर्म विचारक थे। उनके अनुसार धर्म को समझने के लिए ऊँची शिक्षा प्राप्त करने या बड़े-बड़े धर्मग्रन्थो का अध्ययन करना अनिवार्य नही है। वे कहते है कि 'धर्म वस्तुत बुद्धिग्राह्य नही हृदयग्राह्य है। वह ऐसी वस्तु नही जो अपने से अलग हो बल्कि ऐसी वस्तु है, जिसे हमे अपने अन्दर से ही विकसित करना है, यह सदा हमारे अन्तर मे ही है, कुछ लोगो को उसका भान है ओर दूसरे कुछ को उसका जरा भी भान नही है। धर्म एक व्यक्तिगत सग्रह है, उसे मनुष्य स्वय ही रख सकता है ओर स्वय ही खोता है। समुदाय मे जिसकी रक्षा की जा सके, वह धर्म नही मत है।[3] गॉधीजी धर्म को साधन मानते है जो परम सत् अर्थात् सर्वोच्च मूल्य तक पहुँचने का माध्यम है।

धर्म-साधना (सद्मूल्य साधन) मे गॉधीजी प्रार्थना-उपासना को महत्वपूर्ण स्थान देते है। "प्रार्थना वियोगी का विलाप है" वह "आत्मा का आहार है।" प्रार्थना का अर्थ है- प्रभु के चरणो मे सर्वस्वार्पण। गॉधीजी के अनुसार पूजा-स्थल किसी भी धर्म के हो, वे पवित्र है। मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघर ईश्वर के इन भिन्न-भिन्न निवास स्थानो मे मै कोई अन्तर नहीं करता हूँ। मनुष्य की श्रद्धा ने उनका निर्माण किया है और उसने उन्हे जो माना है, वही वे है।"[4] गॉधीजी ने धर्म की आत्मा के रुप मे, मन को एकाग्रचित्त और पवित्र रखने के लिए प्रार्थना को स्वीकार किया है तथा यह प्रक्रिया गहरी श्रद्धा, हृदय की गहराइयो के बीच से उठती है। उन्होने कहा है कि "मै मानता हूँ कि प्रार्थना

---

1 वर्मा, वेद प्रकाश – 'धर्म दर्शन की मूल समस्याये' 1991, पृष्ठ 299

2 सुमन, रामनाथ – "गॉधीवाद की रुप रेखा", छठॉ सस्करण 1955 पृष्ठ 34

3 सुमन रामनाथ – "गॉधीवाद की रुप रेखा , छठॉ सस्करण 1955 पृष्ठ 34

4 'हरिजनबन्धु', 18 मार्च 1933

धर्म का प्राण और सार है और इसीलिए प्रार्थना मनुष्य के जीवन का धर्म होनी चाहिए। प्रार्थना जैसे धर्म का सबसे मार्मिक अग है वैसे ही मानव जीवन का भी है। प्रार्थना या तो याचना रुप होती है या व्यापक अर्थ मे वह ईश्वर से भीतरी लो लगाना है।"[1] प्रार्थना हमे यह स्मरण कराती है कि हम प्रभु के सहारे के बिना लाचार है और प्रार्थना बिना कोई प्रयत्न सफल नही होता। प्रार्थना आत्मा की पुकार है। **वह आत्मशुद्धि का, आत्मनिरीक्षण का आह्वान है।**[2] जिनके हृदय मे ईश्वर समाया हुआ है उनके लिए काम ही पूजा बन जाता है। जिनके लिए जीवन भोग का दूसरा नाम है, उनके लिए पूजा हेतु निश्चित समय की हर परिधि छोटी पड जाती है। **"किसी के लिए एक मिनट काफी हो सकता है और किसी के लिए चौबीस घटे भी थोडे हो सकते है। जिनके हृदय मे ईश्वर हर जगह बसा हुआ है, उनके लिए श्रम ही प्रार्थना है।**[3]

2 2 धर्म और नैतिकता (**Religion and Morality , the value of means**)

नैतिक सयम और सदाचरण के बल पर मानव समाज की अभीष्ट सिद्धि सम्भव हो सकता है। आदिकाल मे जब मानव सभ्यता की ज्योति से प्रकाशित होता नही दिखता। हम नीति के सम्बन्ध मे विचार करते हुये इतना भर देखना है कि किया गया काम शुभ है और शुद्ध इरादे से किया गया है। उसके परिणाम पर हमारा कोई नियन्त्रण नही है। **फलदाता तो एकमात्र परमेश्वर है।**[4]

नीति-धर्म के साधक को किसी भी कार्य को भय, पक्षपात, दबाव या व्यग्रता के द्वारा नही करना चाहिए। कार्य स्वप्रसूत और अपने आप किया जाय। जो कार्य, कर्त्ता कर रहा है उसमे उसके निजी स्वार्थ की गध तक नही होनी चाहिए। वह कार्य सदैव परहित साधना की दृष्टि से किया जाना चाहिए। सम्पूर्ण विश्व मे आत्मतत्व व्याप्त है, ओत-प्रोत है और उससे साक्षात्कार करने के उद्देश्य से

---

1 यग इण्डिया" 23 जनवरी, 1930

2 'हरिजन" 8 जून 1935

3 'यग इण्डिया , 10 दिसबर 1926

4 सुमन, रामनाथ - "नीति-धर्म-दर्शन", पृष्ठ 132-133

सभी प्राणियो के प्रति आत्मैक्य की भावना रखकर उसके अनुसार कार्य करना नीति-धर्म का पालन करना है।[1]

2 3 नैतिक मूल्यो पर आश्रित धर्म (Religion based on values of morality)

दार्शनिको ने धर्म को नैतिकता का अभिन्न अग बताया है। समाज-शास्त्री दुर्खीम का विचार है कि नैतिकता की उत्पत्ति पहले हुई और धर्म इसके बाद मे, क्योकि नैतिक नियमो मे पवित्रता की भावना जुडने के बाद ही पूजा या आराधना की धारणा प्रबल हो सकी।[2] अत धर्म नैतिक मूल्यो पर आश्रित है। ब्रेथवेट का भी यही मत है कि धर्म वस्तुत नैतिकता से भिन्न तथा स्वतन्त्र न होकर उसी का एक अपरिहार्य भाग मात्र है। नैतिक मूल्यो, आदर्शो अथवा नियमो के बिना हम धर्म की कल्पना ही नही कर सकते। गॉधी जी भी धर्म को नैतिक आधार पर आश्रित मानते है। ये नैतिक आधार है - सत्य अहिसा अस्तेय, अपरिग्रह, इन्द्रियनिग्रह आदि नैतिक नियमो का जीवन पर्यन्त पालन करना और उनके अनुसार आचरण करना। अपने जीवन को हिसा, द्वेष, घृणा ईर्ष्या, लोभ, क्रोध, काम आदि अनेक दूषणो से दूर रखकर उसे शुद्ध बनाना। इसे ही गॉधीजी नीति-धर्म भी कहते है। उनका कहना है कि "धर्म बुद्धिगम्य नहीं हृदयगम्य है। इसलिए धर्म मूर्ख लोगो के लिए भी है।"[3] धर्म केवल शास्त्रज्ञ विद्वानो ही की थाती नही यह तो अनपढ के लिए भी है। उसका सम्बन्ध तर्क वितर्क से नही है वरन् अटल श्रद्धा और शुद्ध हृदय से है। विकारहीन हृदय सात्विक धर्म का [illegible] है। जिन नैतिक नियमो से हृदय शुद्ध हो धर्म के अग है। गॉधीजी का निश्चित मत है कि ईश्वर का साक्षात्कार शुद्ध सदाचारी जीवन के द्वारा ही किया जा सकता है, उनके शब्दो मे ईश्वर का कानून शुद्ध सदाचारी जीवन मे मूर्तिमान् होता है।"[4] हमारे कर्मो का सम्बन्ध हमारे विचारो से होता है। मन

---

1 द्रष्टव्य धृति क्षमा दमोऽस्तेयम् शौचमिन्द्रिय निग्रह।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकम् धर्म लक्षणम।।

2 दुर्खीम इमाइल – 'एलीमेन्टरी फार्मस आफ रिलीजन'

3 महादेव की डायरी भाग 2 पृष्ठ 233

4 'सत्य ही ईश्वर है' पृष्ठ 105

यदि विकारहीन है तो विचार भी शुद्ध होगे और वाणी भी शुद्ध होगी तथा कर्म भी शुद्ध ही रहेगे। इसका फल भी शुद्ध ही मिलेगा। एक वस्तु, दूसरे से जुडी हुई है। अतएव सदाचरणशील व्यक्ति के लिए यह परमावश्यक है कि वह अपने विचारो मे मलिनता का कभी प्रवेश न होने दे।

गॉधीजी ने धार्मिक पुरुष को भी सचेत करते हुये कहा है कि **"आचरण रहित विचार कितने ही अच्छे क्यो न हो, तो भी उन्हे खोटे-मोती की तरह समझना चाहिए।"**[1] विचार और आचरण मे सामजस्य नितान्त आवश्यक है। मनुष्य की कथनी और करनी मे ऐक्य होना चाहिए। मनुष्य अपने अतिम लक्ष्य चरम-मूल्य को नीति की राह पर चलकर ही प्राप्त करता है। तात्पर्य नीति भविष्य की निर्मात्री है। अत नीति मे धर्म का समावेश स्वयमेव हो जाता है। यदि यह समावेश नही है तो धर्म निष्प्राण हो जाएगा। 'बिना नीति के धर्म लगडा है। यदि धर्म बना रहना चाहे यदि उसे शुद्ध तत्व ज्ञान का, आत्मा के दिव्य मन्दिर का रक्षक माने, तो वह नीति के बिना अशक्त है।"[2]

यद्यपि गॉधीजी ईश्वर-भक्त थे तथापि ईश्वर के नाम पर किसी अमूर्त और निराकार सत्ता के प्रति उनका कोई आकर्षण नही था। वे तो बार-बार यही कहते थे कि ईश्वर हमारे अन्त करण मे है, वह हमेशा इसको प्रभावित करता रहता है।" ईश्वर को जीवन मे स्वीकार करने को ही धर्म कहते है फिर सच्चा धर्म वही है जो पवित्रता प्रदान करता है। 'ऐसा धर्म नैतिकता से आन्तरिक रुप से सम्बद्ध है, जिस प्रकार बीज से पानी। धर्म के लिए नैतिकता अनिवार्य है।"[3] प्रत्येक स्वार्थमय इच्छा अनैतिकता है। ऐसी कोई भी चीज धर्म नही हो सकती जो नैतिकता से विस्मृत हो। धर्म ने गॉधीजी को नैतिकता के निकट ला दिया था। उनका कहना था कि नैतिकता द्वारा हमारे हृदय के विकार और कलुष दूर होते है जिससे हमे अपने अन्त करण मे या दूसरे व्यक्ति के हृदय मे उस परमपिता परमात्मा की अनुभूति करने मे कोई बाधा नही होती। "जितना ही हम शुद्ध होने का प्रयास करते है,

---

1 म० डा० भाग 2 पृष्ठ 15

हम उतना ही ईश्वर के समीप आते है।"[1] जगत की नैतिकता, ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी अथवा चैतन्यवादी तथा जडवादी सभी को मान्य है क्योकि इसके बिना लोक-व्यवहार चल नही सकता। जब गॉधी जी कहते है कि **"मेरे लिए ईश्वर सत्य तथा प्रेम है, ईश्वर नीतिशास्त्र है, नैतिकता है, ईश्वर अभयत्व है।"**[2] तो वे ईश्वर को नैतिकता की मूर्ति के रुप मे ही लेते है।

वस्तुत नैतिकता को वरण करना साधक का कार्य है। इसके लिए मनुष्य को त्याग भी करना पडता है। इसलिए गॉधीजी ने अपरिग्रह की बात स्वीकार की। परिग्रह करने से मनोवृत्ति दूषित होती हे और मनुष्य का नैतिक ह्रास होता है। "परमेश्वर मे विश्वास रखने वाला व्यक्ति यह मानता है कि जिस वस्तु की जब सच्ची आवश्यकता होती है तब वह अवश्य प्राप्त हो जाएगी, इसलिए वह किसी चीज का सग्रह करने के फेर मे नहीं पडता।"[3] नैतिक उत्थान मे हम अस्तेय के विचार को भी स्वीकार करते है। साधारणतया अस्तेय का दूसरा अर्थ दूसरे के स्वामित्व वाली वस्तु को स्वीकार न करना है। दूसरो की वस्तु पर अपने स्वामित्व की आकॉक्षा करना पतन की एक निशानी है। "हम जगत की समस्त वस्तुओ पर परमेश्वर का स्वामित्व समझे और प्राणि मात्र को उनके कर्त्ता-हर्त्तापन मे रहने वाले एक विशाल कुटुम्ब रुप समझे।"[4] जीवन का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं, जो गॉधीजी के निकट नैतिक सयमित न रहा हो। **उनके अनुसार "मानव जीवन का चरम लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार तथा आत्मानुभूति बिना पवित्र ह्रदय के असंभव है। जिस आदमी का ह्रदय पवित्र नहीं है, उसे ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती।"**[5]

---

1 'यग इण्डिया 11 अक्टूबर 1928

2 हिन्दू–धर्म , पृष्ठ 61

3 मशरुवाला, किशोरी लाल घ० – 'गॉधी विचार दोहन' पृष्ठ 20

4 मशरुवाला किशोरी लाल घ० – 'गॉधी विचार दोहन,' पृष्ठ 20

5 बोस निर्मल कुमार – सेलेक्शन फ्राम गॉंधी", पृष्ठ 18

2 4 धर्म पर आश्रित नैतिक मूल्य (Moral values are based on religion)

नैतिक मूल्य धर्म पर आश्रित है या नही इस प्रश्न को लेकर दर्शन जगत् मे गभीर विवाद है। अधिकाश ईश्वरवादी दार्शनिको का विचार है कि नैतिकता का एकमात्र मूल आधार धर्म है। इनके अनुसार "धर्म के बिना नैतिकता उसी प्रकार निराधार है जिस प्रकार पतवार के बिना नदी मे चलती हुई नोका। केवल धर्म ही नैतिकता को उचित दिशा प्रदान करके उसे पथभ्रष्ट होने से बचा सकता है। **यदि नैतिकता को धर्म का सुदृढ आधार प्राप्त न हो तो वह निश्चय ही व्यक्तिगत स्वार्थ के दलदल मे फॅस कर नष्ट हो जाएगी।"**[1] अत नैतिकता मानवीय वस्तु न होकर वास्तव मे अति प्राकृतिक या दैवी वस्तु है। स्मिथ ने भी यही कहा है कि "ईसाई धर्म तथा यहूदी धर्म मे इस बात को स्वीकार करने मे मतेक्य है कि धर्म के बिना नैतिकता अतत अनैतिक है। धर्म पर आधारित न रहने वाली नैतिकता के पास आत्मालोचना का कोई सिद्धान्त नही होता, क्योकि इसके मूल मे कोई विश्वातीत अर्थात् ईश्वरीय सन्दर्भ नहीं होता, जिसके द्वारा यह शासित हो सके और जो इसके विषय मे निर्णय दे सके। यह एक सच्चाई है कि नैतिकता की विषय वस्तु को निर्धारित करने के अतिरिक्त धर्म इसका अन्तिम निर्णायक भी है। जब यह धर्म पर आधारित नहीं होती तो इसके नष्ट होने का भय निरन्तर बना रहता है।"[2] काम्टे ने धर्म की व्याख्या मे स्पष्ट किया है कि धर्म वास्तव मे नैतिकता का आधार है अर्थात् बिना धर्म की उत्पत्ति हुये आचार सम्बन्धी नियमो का निर्माण होना असम्भव है। आरम्भ मे मनुष्य ने प्राकृतिक शक्तियो के क्रोध से बचने के लिए अलौकिक शक्तियो की पूजा करनी शुरु की। इस प्रकार धार्मिक विचारो का विकास पहले तथा नैतिकता का बाद मे हुआ। **स्पेन्सर का भी यही मत है। उनके अनुसार "आरम्भ मे धर्म के अन्तर्गत प्रेतात्माओ की आराधना की जाती थी, देवताओ की नहीं।"**[3] प्रेतात्माओ का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार इन दार्शनिको के मतानुसार यदि नैतिकता धर्म पर आधारित नहीं है तो वह वास्तव मे निराधार तथा मनुष्य के लिए निरर्थक और महत्वहीन है।

---

1 वर्मा, बी० पी० – "धर्म–दर्शन की मूल समस्याएँ", 1991 पृष्ठ 307

2 जे० ई० स्मिथ – "रीजन एण्ड गार्ड – एन्काउटर्स आफ फिलासफी विथ रिलीजन" पृष्ठ 199–202

3 Spensor Principals of Socıology, vol. III, p-152

पुनश्च जब ईश्वर अथवा किसी अन्य दैवी सत्ता को निश्चित रुप से प्रमाणित नही किया जा सकता, तो उस पर नैतिकता के आधारित होने का प्रश्न ही नही उठता। **''अधविश्वास या परपरा के कारण केवल नैतिकता के नामपर यन्त्रवत् कुछ कर देना ही वास्तविक नैतिकता नहीं है। नैतिकता मे तो सचेतन और कृत्निश्चय सकल्प चाहिए।''[1] गॉधीजी के अनुसार ''कोई भी काम, जो ऐच्छिक नहीं है, नैतिक नहीं कहा जा सकता।**

2 5 ईश्वर साक्षात्कार (ईश्वर के विराट् रुप का दर्शन)

गॉधीजी के अनुसार "ईश्वर ऊपर नही, नीचे नही, हृदयस्थ है। वास्तव मे वह हर जगह है। शास्त्र मे जो लिखा है कि कुछ चीजे खाली हो सकती है तो वह हवा से खाली होने की बात हो सकती है। हवा से खाली करो तो भी कुछ तो रह ही जाता है, भौतिकशास्त्र वालो ने तो यह देख लिया है कि ईश्वर सब जगह है। हमारी सब धार्मिक क्रियाओ का वह ईश्वर साक्षी है।"[2] गॉधीजी जगत् सम्बन्धी विचार व्यक्त करते हुये कहते है कि "जगत् हम ही है। हम उसके अन्दर, वह हमारे अन्दर है। ईश्वर भी हमारे अन्दर है।"[3] इसी प्रसग मे वे आगे कहते है कि "जैसा पिण्ड मे वैसा ब्रह्माण्ड मे है। ब्रह्माण्ड को जानने जाये तो भूल करेगे परन्तु पिण्ड तो हमारे हाथ मे है।"[4] गॉधीजी का विचार है कि पारमार्थिक सत्य सर्वत्र व्याप्त है, वह जड चेतन सबमे व्याप्त है और सब भगवान् मय है अर्थात् मूलत सब अद्वैत है। परमसत्य आत्मतत्व सबमे व्याप्त है, तब फिर दूसरा तो कोई है ही नही। इसलिए परस्पर एक दूसरे के कल्याण कार्यो मे निमग्न रहना ही सत्य कर्त्तव्य है। गॉधीजी कहते है कि "ईश्वर की पहचान सेवा से ही होगी, यह मानकर मैने सेवा-धर्म स्वीकार किया है।"[5]

---

1 दत्ता धीरेन्द्रमोहन – "महात्मा गॉधी का दर्शन' 1985 पृष्ठ 57

2 सिह बलवन्त – 'बापू की छाया मे", 1957, पृष्ठ 298

3 बापू के आशीर्वाद", पृष्ठ 237

4 'बापू के पत्र–प्रेमा बेन के नाम' पृष्ठ 16

5 आत्म कथा' पृष्ठ 137

आत्मानुभूति का अर्थ है ईश्वर से साक्षात्कार करना, निरपेक्ष सत्य का अनुभव प्राप्त करना। इसलिए मनुष्य की प्रत्येक सेवा इस आध्यात्मिक प्रयास का एक अग है। गॉधीजी यह भी कहते है कि "जो अपने मानव-बन्धुओ की सेवा करता है, उसके हृदय मे निवास करने की भगवान स्वय इच्छा करते हैं।"[1]

इसलिए मानवजाति की सीधी सेवा इस प्रयत्न का अनिवार्य भाग है, क्योकि "ईश्वर को पाने का एकमात्र उपाय है, उसी की बनाई हुई सृष्टि मे परमात्मा का दर्शन करना और उसके साथ तादात्म्य सिद्ध कर लेना।"[2] इसीलिए "मानवता की सेवा द्वारा ही ईश्वर के साक्षात्कार का प्रयत्न मै कर रहा हूँ। क्योकि मै जानता हूँ कि ईश्वर न तो स्वर्ग मे है और न पाताल मे किन्तु हर एक के हृदय मे है।"[3]

ईश्वर साक्षात्कार के लिए अटल श्रद्धा आवश्यक है। गॉधीजी के अनुसार "जो व्यक्ति अपने अन्दर ईश्वर की उपस्थिति के सत्य की जॉच करना चाहता है, उसे पहले जीवित श्रद्धा का विकास करना चाहिए। श्रद्धा के द्वारा ही वह ऐसा कर सकता है और स्वय श्रद्धा किसी बाह्य प्रमाण से सिद्ध नही की जा सकती, इसलिए भौतिक नियम मे सत्य और प्रेम के नियम की सर्वोपरिता मे विश्वास किया जाय।"[4] और इसलिए 'ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग विचार वाणी और कर्म से सत्य का अनुसरण करना है और यदि हृदय से रामनाम लिया जाय तो यह आत्म-साक्षात्कार तक ले जाता है। आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है सत्य का साक्षात्कार यानी ईश्वर का साक्षात्कार।"[5] ईश्वर असहायो का सहायक और पथ निर्देशक होता है। गॉधीजी सच्चे वैष्णव थे और सोते जागते प्रतिक्षण उन्हे

---

1 'सत्य ही ईश्वर है" पृष्ठ 46

2 हरिजन सेवक , 29 अगस्त 1936 पृष्ठ 218

3 "नव जीवन', हिन्दू नव जीवन, 12 अप्रैल 1928, पृष्ठ 207

4 जैन यशपाल – धर्म की ज्योति', ईश्वर की व्याख्या, मोहनदास कर्मचन्द गॉधी 1982, पृष्ठ 6

5 श्री वी० सूर्यनारायण राजू को लिखे निजी पत्र से

ईश्वर का ध्यान रहता था। उनका कहना है कि "छाती पर हाथ रखकर मै कह सकता हूँ कि एक मिनट के लिए भी मै भगवान को भूलता नही।"[1]

2 5(अ) दरिद्रनारायण मे ईश्वर दर्शन

दरिद्रनारायण" शब्द विवेकानन्द का दिया हुआ है। अद्वैतवादी विचार को "दरिद्रनारायण की सेवा के साथ जोडने की प्रक्रिया मूलरुप मे विवेकानन्द ने ही की है। 'दरिद्रनारायण" शब्द से समस्त आस्तिको और नास्तिको के बीच का भेद खत्म हो जाता है और दोनो एक मच पर आ जाते है। जो अपने सामने की प्रत्यक्ष सेवा को छोडकर हवाई बाते नही करना चाहता नास्तिक कहलाता है। ऐसे नास्तिको मे भी सज्जन हो गये है। सच्चा आस्तिक वह है, जो मानव हृदय पर विश्वास रखता है और मानता है कि मानव-हृदय मे एक ज्योति है और उसी के आधार पर हम सब प्रकार का अन्धकार दूर कर सकते है।"[2]

धनी और निर्धन का भेदभाव सदैव से समाज के विकास मे बाधक रहा है। गॉधीजी ने इस भेदभाव को मिटाने का भरसक प्रयास किया और निर्धन व्यक्ति को "दरिद्रनारायण" की सज्ञा प्रदान करते हुये कहा कि "मनुष्य जाति ईश्वर को, जो वैसे नाम हीन है और मनुष्य की बुद्धि की पहुँच के परे है, जिन अनन्त नामो से पहचानती है, उनमे एक नाम दरिद्रनारायण है। उसका अर्थ है, गरीबो का, या उनके हृदय मे प्रकट होने वाला ईश्वर।"[3] गॉधीजी से विचार वैषम्य के कारण जब लोगो ने हिमालय या काशी चले जाने को कहा तो उन्होने यह जवाब दिया कि "मेरी तपस्या का हिमालय वही है, जहॉ अभी दरिद्रता पडी है। मुझे उसे मिटाना है, शोषण दूर करना है, दु ख निवारण करना है। देश मे एक भी आदमी जब तक जीवन की आवश्यकताओ से वचित होगा, तब तक मुझे शान्ति

---

1 यग इण्डिया" भाग 2 पृष्ठ 65

2 शाह कान्तिभाई – गॉधी – जैसा देखा समझा–विनोबा ने' 1983 पृष्ठ 105

3 "मेरे सपनो का भारत पृष्ठ 56

नही मिलेगी और मै पॉव सिकोडकर नही बैठूँगा।"[1] उन्होने चालीस वर्ष तक स्वराज्य के लिए सतत् कार्य किया। जब स्वराज्य आया और देश के बडे-बडे शहरो मे रोशनियॉ हुई उत्सव मनाये गये। उस समय भी वे नोआखाली मे पदयात्रा कर रहे थे और दु खियो के ऑसू पोछ रहे थे।

गॉधीजी सर्वात्मवाद के समर्थक थे। उनका मानना था कि जब आत्मा सर्वत्र व्याप्त है तो वह दरिद्र मे भी है, और इसलिए दरिद्रनारायण की सेवा करना, ईश्वर की सेवा करना है। वह कहते है कि हमारे लाखो मूक देशवासियो के हृदय मे जो ईश्वर निवास करता है, उसके सिवा मै किसी दूसरे ईश्वर को नही जानता। मै सत्यरुप ईश्वर या ईश्वर रुप सत्य की पूजा इन मूक देशवासियो की सेवा के द्वारा ही करता हूँ।"[2] अत दरिद्रनारायण के वेश मे रहने वाले निर्धनो की सेवा के द्वारा ही चरम सत्य से साक्षात्कार किया जा सकता है। इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुये गॉधीजी जब गोलमेज-परिषद् मे भाग लेने लन्दन गये तो वहॉ अत्यन्त गरीब लोगो की ही बस्ती मे ठहरे थे। इस तरह वे सामान्य जनता के साथ एकरुप हो गये थे।

उनका कहना था कि "मै भगवान की इससे अच्छी पूजा की कल्पना नहीं कर सकता कि उसके नाम पर मै गरीबो के लिए गरीबो की ही तरह परिश्रम करुँ।"[3] वे भिक्षावृत्ति के विरुद्ध है और बिना परिश्रम के किसी पदार्थ के उपभोग को निन्दनीय मानते है। जो मजदूरी नहीं करता, उसे खाने का भी क्या अधिकार है।"[4] भिक्षुओ के लिए उनका यह सुझाव था कि वे कठिन परिश्रम करे और अपने पैसे की कमाई का उपभोग करे 'ईश्वर ने मनुष्य को पसीने की कमाई खाने के लिए ही बनाया है।"[5] इसलिए "रोटी के लिए प्रत्येक मनुष्य को मजदूरी करनी चाहिए। शरीर से मेहनत

---

1 शाह कान्तिभाई – 'गॉधी – जैसा देखा समझा–विनोबा ने 1983 पृष्ठ 102

2 "हरिजन" 11 मार्च 1939

3 "मेरे सपनो का भारत" पृष्ठ 122

4 'यरवदा मन्दिर' पृष्ठ 79

5 'खादी' पृष्ठ 3

करनी चाहिए। यह ईश्वरीय नियम है।"[1] इस प्रकार हम देखते है कि गॉधीजी ने दरिद्रनारायण की सेवा को अपना आदर्श बनाया और उसमे ही ईश्वर का दर्शन किया।

2 5(ब) समाज के निर्बल अग मे ईश्वर का दर्शन

समाज मे असख्य रोगग्रस्त, पगु, कोढी अधे तथा बधिर मनुष्य होते है। वे समाज के निर्बल तथा असहाय अग है। वृद्ध-वृद्धा भी समाज के निर्बल अग है। ये सब अपने शरीर से अशक्त और शरीर-श्रम करके जीविकोपार्जन करने मे असमर्थ होते हे। समाज के इन निर्बल एव असहाय अगो की सुरक्षा देखभाल करना भी समाज का कर्त्तव्य है। वेद मे भी कहा गया है कि "ऐसे असहाय भूख-प्यास से सतप्त मनुष्य की सहायता करना परम कर्त्तव्य है और जो ऐसा नहीं करता उसे सुख प्राप्त नही होता।"[2] पगु व्यक्ति, अधे और लगडे–लूले मनुष्यो मे भी तो वही नारायण व्याप्त है। उस नर-नारायण को हमारी सेवा की अत्यन्त आवश्यकता है। चूँकि समस्त जगत् मे राम व्याप्त है। अत आध्यात्मिक एकत्व पूर्ण चरम सत्य से साक्षात्कार का शुभ अवसर नर-नारायण की सेवा के माध्यम से क्यो न प्राप्त किया जाय। अनेक बाधाओ के उपस्थित होने पर भी सेवा पथ से विचलित न होते हुये समाज के निर्बल अगो की सेवा मे निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है। महात्मा गॉधी भी रोगग्रस्त लोगो की सेवा करने को ही धर्म मानते हुये कहते है कि "बीमारो की सेवा करने जैसा उत्तम मार्ग और क्या हो सकता है। उसमे धर्म का बहुत बडी हद तक समावेश हो जाता है।"[3] उनका दृढ विश्वास है कि मानव-बन्धुओ की सेवा द्वारा ही आत्म-साक्षात्कार की उपलब्धि सम्भव है। उन्होने स्पष्ट रुप से कहा है कि "जो अपने मानव-बन्धुओ की सेवा करता है, उसके हृदय मे निवास करने की भगवान

---

1 यरवदा मन्दिर पृष्ठ 70

2 य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्समफितायोजग्मुषे।

स्थिर मन कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितार न बिन्दते।।

– ऋग्वेद 10 117 2

3 'गॉधी साहित्य', पृष्ठ 90

स्वय इच्छा करते है।"[1] मानव-बन्धुओ की सेवा भी तो अपनी ही सेवा है। आत्मा तो अमर है। वह सर्वत्र व्याप्त है। हम सब आध्यात्मिक रुप मे मूलत एक ही है। जिसे हम दूसरा समझते है, सत्य-रुपेण वह हम ही है। वही आत्मा विभिन्न रुपो मे अपना प्रकटन प्रकाशन करती है। अतएव सबकी सेवा करना भगवान की सेवा है। उनका विचार है कि "आत्मा अमर होती है और सेवा द्वारा अपनी मुक्ति के लिए नये नये चोले धारण करती है।"[2] इन्ही भावनाओ से प्रेरित होकर गॉधीजी ने कोढी सेवा, आदिवासियो की सेवा अपगो की सेवा, स्वय की और अपने अनुयायियो के द्वारा समाज के निर्बल अगो की सेवा कार्य कराया। वे कहते है कि 'मै चारो ओर निर्धनता और दरिद्रता देखता हूॅ। हिन्दुस्तान के नर कड्कालो को जब तक अन्न–वस्त्र न मिले तब तक उनके लिए धर्म नाम की कोई चीज ही दुनियॉ मे नहीं। वे आज पशु की तरह जीवन बिता रहे है और उसमे हमारा हाथ है। इसलिए चरखा हमारे प्रायश्चित का साधन है। अपग की सेवा एक धर्म है भगवान हमे अपग के रुप मे हमेशा दर्शन देते है, पर हम तिलक-छापा करते हुये भी उनकी और ईश्वर की अवहेलना करते है।"[3]

सम्पूर्ण विश्व के स्त्री-पुरुष भगवान के ही स्वरुप हैं। उनमे अपाहिज और रोगी भी भगवान स्वरुप है। उनको समदर्शितापूर्वक अपने समान समझना और उनके प्रति सहानुभूति एव सेवा-भावनामय व्यवहार करना आत्मैक्य दृष्टि है। गॉधीजी का मत है कि **"मेरे लिए मोक्ष का द्वार यही है कि अपने देश की, और देश के द्वारा मानव-जाति की सेवा के लिए अविश्रांत परिश्रम करता रहूॅ।"**[4] आत्मैक्य के लिए सम्पूर्ण मानव-जाति की सेवा करना ही वे परम-पद की प्राप्ति मानते है। इसका स्पष्टीकरण करते हुये वे कहते है कि "परमार्थ की दृष्टि से की गयी सारी वृत्ति निवृत्ति है और मोक्ष का कारण है। दूसरो की सेवा ही परमार्थ है।"[5]

---

1 सत्य ही ईश्वर है पृष्ठ 46

2 प्रार्थना–प्रवचन, भाग 1 पृष्ठ 332

3 नवजीवन हिन्दी नवजीवन 10 अगस्त 1924 पृष्ठ 418

4 सत्य ही ईश्वर है पृष्ठ 5

5 महादेव भाई की डायरी भाग 1 पृष्ठ 234

2 5(स) किसानो मे ईश्वर का दर्शन

प्राचीन काल से ही भारतीय गॉवो का आदर्श जीवन चला आ रहा है। ऋग्वेद[1] मे ग्रामवासियो के स्वरुप एव निरोग रहने के लिए कामना की गयी है। हमारे धार्मिक-ग्रन्थो कथाओ, इतिहासो मे ग्राम पचायतो तथा जनपदो के उल्लेख पाये जाते है। गॉधीजी ने भी गॉव की ओर अपनी दृष्टि डाली और अपने कार्यकर्त्ताओ को ग्रामो की सेवा करने के लिए बराबर प्रोत्साहित किया। वे कहते है कि 'भारत अपने चन्द शहरो मे नही, बल्कि सात लाख गॉवो मे बसा हुआ है, लेकिन हम शहरवासियो का ख्याल है कि भारत शहरो मे ही है और गॉवो का निर्माण शहरो की जरुरते पूरी करने के लिए हुआ है। हमने कभी यह सोचने की तकलीफ ही नही की कि उन गरीबो को पेट भरने के लिए जितना अन्न और शरीर ढकने के लिए जितना कपडा चाहिए उतना मिलता है या नही और धूप तथा वर्षा से बचने के लिए उनके सिर पर छप्पर है या नही।''[2] वस्तुत ग्रामीकरण के द्वारा गॉधीजी देश की अर्थ व्यवस्था को सुव्यवस्थित रुप देना चाहते थे। ग्राम का प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति तथा वय के अनुसार शरीर-श्रम करता है। वहॉ हॉथ-पॉव से काम करना एक परम कर्त्तव्य एव धार्मिक कृत्य समझा जाता है। गॉवो मे कृषक और खेतिहर मजदूरो का बाहुल्य होता है। इससे पूर्व जमीदार होते थे जो नगरो मे ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे और गॉवो की कडी मेहनत की कमाई पर जीवित थे। गॉधीजी की दृष्टि मे ''किसानो का फिर वे भूमिहीन मजदूर हो या मेहनत करने वाले जमीन-मालिक हो - स्थान पहला है। उनके परिश्रम से ही पृथ्वी फल–प्रसू और समृद्ध हुई है और इसलिए सच कहा जाय तो जमीन उनकी ही है या होनी चाहिए, जमीन से दूर रहने वाले लोगो की नहीं है।''[3]

---

1 विश्व पुष्ट ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् '। ऋग्वेद I 114 I

2 हरिजन, 4 अप्रैल 1936

3 दि बाम्बे क्रानिकल 28 अक्टूबर 1944

2 5(द) प्राणिमात्र मे ईश्वर का दर्शन

गॉधीजी के अनुसार प्राणि जगत् मे मानव समाज के अतिरिक्त अनेक जीव-जन्तु भी है जो मनुष्यो की भॉति ही सवेदनशील है।[1] कीट-पतग पशु-पक्षी सभी नैसर्गिक रुप मे सामूहिक जीवन मे अभिरुचि रखते है। मनुष्य का इनके साथ तथा इनका मनुष्य के साथ लौकिक रुप मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतीय दार्शनिको के अनुसार आत्मा सर्वव्यापी है, वह सम्पूर्ण विश्व के सभी पदार्थो मे व्याप्त है। इस विश्वास के अनुसार मनुष्य जीव-जन्तु तथा वृक्ष एव अन्य पदार्थ मूलरुपेण आध्यात्मिक एकता पूर्ण है। छान्दोग्योपनिषद् मे ब्रह्म को आनन्द रुप कहा गया है। 'अखण्ड ब्रह्माण्ड मे आनन्द है, ब्रह्म आनन्द रुप ही है, अतएव उसी की सेवा रुप जिज्ञासा करनी चाहिए।"[2] वृहदारण्यकोपनिषद् मे भी इसी प्रकार का कथन मिलता है कि समस्त भूत—मात्र मे जो आत्मतत्व व्याप्त है, हम उसी की प्रतीति के लिए ही तो अन्य पदार्थो के प्रति आकृष्ट होते है और वे हमे प्रिय लगते है।"[3] प्रेम-दर्शन मे सर्वात्मा की बडी सुन्दर व्याख्या की गई है। "आत्म-रुप से प्रत्येक प्राणी मे आत्मतत्व अर्थात् भगवान विद्यमान है अत सर्वात्मा के प्रति प्रेम करना, वस्तुत भगवान की भक्ति ही है।"[4] इस प्रकार समस्त प्राणिमात्र, भूतमात्र जड-चेतन स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, पशु-पक्षी, ज्ञानी-अज्ञानी, सब कोई प्रेममय है। सबके जीवन का आदर्श आत्म-दर्शन है। आत्मीय एकता को, समस्त विश्व के साथ प्रेमपूर्वक सद्व्यवहार करके ही प्राप्त किया जा सकता है। इसी आत्मीय एकता की ओर इशारा करते हुये गीता मे कहा गया है कि जो सभी भूतमात्र की आत्मा मे अपनी आत्मा को तथा अपने मे सबकी

---

1 दृष्टव्य सेवा धर्मो परम गहनो योगिनामप्यगम्य । भगवद्गीता

2 यो वै भूमा तत्सूख नालये सुखमस्ति।

भूमैव सुख भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति।। छान्दोग्योपनिषद, 7 23

3 आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रिय भवति। बृहदारण्यकोपनिषद, 2 44 5

मोक्ष कारण सामग्रव्या भक्तिरेव गरीयसी।

स्व स्वरुपानुसन्धान भक्तिरित्यभिधीयते।। प्रेम दर्शन, पृष्ठ 41

आत्मा को एकत्वपूर्ण रुप मे देखता है और सम्पूर्ण आत्मा को सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्मा मे देखता है वह समदर्शी साधक सर्वोच्च होता है।"[1]

गॉधीजी भी प्राणिमात्र के प्रति आत्मीयता युक्त सद्व्यवहार करने और देखने की सलाह देते है। उनका विश्वास है कि 'सबका प्राणतत्व या जीवन एक है।"[2] अत जीवमात्र के साथ आत्मीयता, आत्मप्रतीति होनी चाहिए और यदि यह प्राप्त नही है तो मनुष्य के द्वारा की जाने वाली सभी पूजा पाठ एव साधना व्यर्थ है। वे कहते है कि जब तक जीव मात्र के साथ एकता महसूस न हो तब तक प्रार्थना, उपवास जप-तप, सब थोथी बाते है।"[3] उनको यह भावना मान्य नही है कि हम अलग है ओर अन्य प्राणी हमसे निम्न है। सत्य तो यह है कि हम सब मूलरुपेण आध्यात्मिक एकत्वपूर्ण है क्योकि आत्मा सर्वव्यापी है, सब भूत मात्र उसमे और वह सबमे ओत-प्रोत है, फिर दूसरा तो कोई शेष रह ही नही जाता। अत सजातीय और विजातीय की भावनाएँ हमारे मन की तरगे है। वास्तव मे हम सब एक परिवार ही है।"[4]

जीव-मात्र के प्रति प्रेम प्रतीति का अर्थ होता है, आत्मप्रतीति। प्रेम सकाम नहीं होता वह कामना रहित, विभेद रहित और सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर होता है। प्रेमी सहिष्णु होता है। वह आराध्य के हेतु अपना सर्वस्व न्योछावर कर देता है। गॉधीजी के इन विचारो मे हमे गीता की प्रतिध्वनि मिलती है जहॉ कहा गया है कि - जो योगी अपनी साम्य बुद्धि तथा सादृश्य से सम्पूर्ण भूतो मे सम देखता है अर्थात् अन्य प्राणियो को अपने ही समान समझता है और सुख दु ख को भी समान देखता है, वह

---

1 सर्वभूतस्थमात्मान सर्वभूतानि चात्मनि।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन ।। भगवद्गीता, 6 29

2 हिन्दू–धर्म पृष्ठ 213

3 महादेव भाई की डायरी भाग 1 पृष्ठ 340

4 आत्म–कथा पृष्ठ 239

योगी परम श्रेष्ठ होता है।'[1] गीता की इस युक्ति से साम्य रखते हुये गॉधीजी कहते है कि 'ऐसे सर्वव्यापी सत्यनारायण का साक्षात्कार करने के लिए मनुष्य के मन मे छोटे से छोटे प्राणी के प्रति अपने ही जैसा प्रेम होना चाहिए।''[2] वस्तुत कीडे-मकोडो पशु-पक्षी आदि प्राणियो मे यूथचारिता की मूलप्रवृत्ति सभी के भीतर परस्पर प्रेम और भ्रातृत्व की भावना को पुष्ट करती है। प्रकृति मे एक दूसरे के प्रति प्रेम है ओर प्रेम के बल पर ही प्रकृति टिकी हुई है। यदि मनुष्य को अपना विकास करना है, तो उसे प्रेम के इरा अमृतोपम और सार्वजनीन सिद्धान्त मे विश्वास रखना ही होगा और उसी के आधार पर समाज का विकास करना होगा।''[3] इन जीव-जन्तुओ के अतिरिक्त वृक्ष एव फल, द्रुम लताऍ भी सवेदनशील, परिवर्तनशील एव परिवर्द्धनशील होती है। इनकी उत्पत्ति वृद्धि विकास एव विनाश भनुष्य जैसा ही होता है। ये भी अपने सुख-दु ख की अनुभूति को पत्तियो के हरे-भरे होने और उनके मुरझाने तथा सूखने के माध्यम से प्रदर्शित करते है। इनके पास वाणी नही है और ये अन्य प्राणियो की भॉति स्थान परिवर्तन तथा आत्मरक्षार्थ कोई कार्य करने मे समर्थ नही है। प्राकृतिक सुषमाओ के प्रति गॉधीजी अत्यन्त सवेदनशील है। वे ''सियाराममय सब जग जानी'' मे विश्वास करते हुये सम्पूर्ण प्रकृति को ईश्वर के दिव्य गुणो की अभिव्यक्ति मानते है। इसीलिए वे प्रकृति-चेतन और अचेतन का परम्परागत भेद भी नही स्वीकार करते है।''[4] इस प्रकार गॉधीजी आध्यात्मिक एकता की सिद्धि के लिए समस्त विश्व से प्रेम के साथ सद्व्यवहार करने को कहते है।

2 6 स्वदेशी-धर्म

स्वदेशी केवल भावना ही नही अपितु एक वास्तविकता है, जिसको जीवन के सभी क्षेत्रो मे निष्पादित किया जा सकता है। ''गॉधीजी के लिए स्वदेशी का नियम जीवन के सभी क्षेत्रो के लिए,

---

1 आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति यो र्जुन।

सुख वा यदि या दु ख स योगी परगोमत ।। भगवदगीता, 6 32

2 ''सत्य ही ईश्वर है पृष्ठ 5

3 दत्त धीरेन्द्र मोहन – 'महात्मा गॉधी का दर्शन' 1985 पृष्ठ 44

4 दत्त धीरेन्द्र मोहन – 'महात्मा गॉधी का दर्शन' 1985, पृष्ठ 37

धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक व्यवहार मे प्रयुक्त होने हेतु है। साहित्यिक दृष्टि से 'स्वदेशी का अर्थ है - व्यक्ति का अपना और उस देश से सम्बन्धित समस्त भौतिक, आध्यात्मिक, नैतिक राजनैतिक सास्कृतिक आदर्श आदि।"[1] यह स्वदेशी-भावना गॉधीजी के एकादश व्रतो मे से एक है। अपने देश और अपने पडोस मे निर्मित वस्तु का प्रयोग करना स्वदेशी के अन्तर्गत आता है। गॉधीजी के अनुसार-'स्वदेशी का पुजारी अपने निकट के पडोसियो की सेवा मे अपने को समर्पण करना पहला धर्म समझेगा।"[2] गॉधीजी की दृष्टि मे "स्वदेशी-धर्म, विश्व भाव का मूल है अपने शुद्ध हृदय मे स्वदेशी धर्म का पालन चरम कोटि की विश्व सेवा है।"[3] उनके अनुसार स्वदेशी "धार्मिक अनुशासन है जिसका पालन व्यक्ति को उससे होने वाले शारीरिक कष्ट की बिल्कुल उपेक्षा करके करना चाहिए।"[4] वे इसे जीवन का पवित्र नियम बताते है, जो मनुष्य की मूलभूत प्रकृति मे सन्निहित है।"[5] स्वदेशी का उद्देश्य है कि मनुष्य को सब जीवो के साथ आध्यात्मिक एकता की अनुभूति हो सके। शरीर उस एकता की अनुभूति मे बाधा डालता है अत यह आत्मा का स्थायी या स्वाभाविक निवास स्थान नही है इसलिए आध्यात्मिक और अन्तिम अर्थ मे स्वदेशी आत्मा की सासारिक बन्धन से मुक्ति का सूचक है।"[6]

गॉधीजी ने स्वदेशी के सिद्धान्त को राजनैतिक अस्त्र भी बनाया, जिसको लेकर लोगो मे बडा भ्रम उत्पन्न हुआ। उनके इस सिद्धान्त मे उग्र राष्ट्रवाद का दर्शन किया गया, जो अन्तर्राष्ट्रवाद का विनाशक है। अगस्त 1921 ई० मे जब उनके आह्वान पर सारे देश मे विदेशी कपडो की होली जलाई गई, तो अग्रेज और अन्य योरोपीय दग रह गये। यहाँ तक कि उनकी अहिसा मे भी सन्देह

---

1 शर्मा विशन स्वरुप – 'गॉधी ऐज ए पालिटिकल थिकर पृष्ठ 143

2 खादी पृष्ठ 57

3 खादी, पृष्ठ 59

4 स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ़ महात्मा गॉधी पृष्ठ 380

5 स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ़ गहात्मा गॉधी पृष्ठ 325

6 यरवदा मन्दिर पृष्ठ 89

किया गया। दीनबन्धु एन्ड्रूज रवीन्द्र नाथ टैगोर तथा उनके अमर जीवनीकार रोमा रोला ने भी खेद प्रकट किया। सी० एफ० एन्ड्रूज ने इस कार्य की भर्त्सना करते हुए उन्हे एक पत्र लिखा कि 'इस प्रकार की अमूल्य वस्तुओ को गरीबो को देने के बजाय जला दिया गया। यह कहने के लिए मै विवश हूँ कि मानव परिश्रम की उपलब्धियो को विनष्ट करना पापपूर्ण है।"[1] रोमा रोला ने कहा कि 'विवेकपूर्ण और सुसन्तुलित गॉधीजी विदेशी कपडो की होली जलाते समय भावना मे बह गये।"[2] रवीन्द्रनाथ टैगोर को ऐसा लगा मानो गॉधीजी राष्ट्रको समस्त राष्ट्रो से अलग एक कमरे मे बन्द कर देना चाहते है, और घृणा को आधार बनाकर स्वराज्य प्राप्त करना चाहते है किन्तु इस प्रकार की शकाये निर्मूल थी। "गॉधीजी का स्वदेशी आन्दोलन, उस युग की मॉग थी और कम से कम गरीब राष्ट्रो के लिए आज भी उपादेय है। इस आन्दोलन का उद्देश्य न तो उग्रराष्ट्र था और न घृणा। इसका उद्देश्य राष्ट्रीय जागरण था। विदेशी माल के कारण पगु और निर्धन राष्ट्र को उसकी निर्धनता का कारण बताना था और उसे विदेशी अत्याचार से सावधान करना था।"[3]

गॉधीजी ने आक्षेपो का उत्तर देते हुए कहा कि न तो मुझे किसी जाति के प्रति घृणा है और न मै ने सभी विदेशी मालो के बहिष्कार की ही मॉग किया।

2 7 धर्म और स्वराज्य

गॉधीजी का सामाजिक लक्ष्य ईश्वरीय राज्य था, जिसे उन्होने शुद्ध नैतिक आधार पर आधारित जनता का राज्य और पृथ्वी पर धर्म का राज्य माना है। वे कहते है कि "स्वराज्य" एक पवित्र शब्द है। "वह एक वैदिक शब्द है, जिसका अर्थ आत्म-शासन और आत्म-सयम है। अग्रेजी शब्द "इन्डिपेन्डेन्स" अक्सर सब प्रकार की मर्यादाओ से मुक्त निरकुश आजादी का या स्वच्छन्दता

1 रोमा रोला कृत महात्मा गॉधी, पृष्ठ 71–73

2 रोमा रोला कृत महात्मा गॉधी

3 त्रिपाठी छोटे लाल – "गॉधीवाद का मूल्याकन" यूनिवर्सिटी आफ इलाहाबाद स्टडीज, वाल्यूम 3, 1971 पृष्ठ 156

का अर्थ देता है। वह अर्थ "स्वराज्य" शब्द मे नही है।"[1] अथर्ववेद मे आत्म-सयम की ओर इशारा करते हुये कहा गया है कि - 'ब्रह्मचर्य रुप तप के बल से ही राजा, राष्ट्र की रक्षा कर सकता है।"[2] गॉधीजी व्यक्ति के चरित्र को हर क्षेत्र मे महान् उपयोगी मानते है। वे अपने "रामराज्य"का विवेचन करते हुए कहते है कि 'राजनैतिक स्वाधीनता से मेरा मतलब यह नही कि ब्रिटिश पार्लियामेन्ट या रुस के सोवियत शासन या इटली के फॉसिस्ट राज्य या जर्मनी की नाजी हुकूमत की नकल की जाये। उनकी प्रणालियॉ उनकी प्रकृति के अनुकूल है। हमे अपनी प्रकृति के अनुकूल प्रणाली अपनानी चाहिए। वह क्या हो सकती है, यह बताना मेरे बूते की बात नही। मैने उसे रामराज्य बताया है, अर्थात् उसमे शुद्ध नैतिक सत्ता के आधार पर आम जनता की सर्वोपरि सत्ता होगी।"[3] फिर "मेरी कल्पना का स्वराज्य इस ससार मे और आपके अन्तर मे ईश्वरीय राज्य" की अनुभूति से कम नहीं है। मे इस स्वप्न की प्राप्ति के लिए काम करना और मरना चाहूॅगा, चाहे इसे कभी प्राप्त न कर सकॅू। उसका अर्थ है - अनन्त धैर्य और असीम परिश्रम।"[4]

2 8 गॉधीजी का रामराज्य

गॉधीजी के रामराज्य के सप्रत्यय मे हमे मार्क्स के राज्य विहीन और वर्गविहीन समाज की स्थापना का दृढ स्वर सुनाई पडता है किन्तु मार्क्स इसकी प्राप्ति के लिए हथियार भी उठाने की बात करते है और खूनी क्रान्ति को विहित मानते है। किन्तु गॉधीजी इसे स्नेह, करुणा, अहिसा और भाई चारे से प्राप्त करना चाहते है। किन्तु विधि की विडम्बना और इतिहास का यह क्रूर व्यग कि इन दोनो महापुरुषो के सकल्प अधूरे रह गए। मार्क्स के अनुयायी लेनिन के नेतृत्व मे उनके द्वारा निर्दिष्ट साधन अर्थात् खूनी क्रान्ति द्वारा रुस मे 1917 मे सत्ता मे आ गए और कई राष्ट्रो को अपनी ऑधी मे लपेटा भी। किन्तु 70 साल बाद उनके किले ढह गए। उनका राजमुकुट भूलुण्डित हो गया-

---

1 यग इण्डिया, 19 मार्च 1931

2 "ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्र वि रक्षति' । अथर्ववेद 11 7 17

3 सर्वोदय पृष्ठ 84–85

4 हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड 1 अप्रैल 1940

सोवियत रुस मे रक्तहीन क्रान्ति द्वारा और रुमानिया, अल्वानिया, हग्री, यूगोस्लाविया चेकोस्लावाकिया आदि देशो मे खूनी क्रान्ति द्वारा। राजमुकुट ही नही धूलधूसरित हुआ स्वय वे देश भी टुकडे टुकडे हो गए। सन्तो ने ठीक ही कहा है कि अन्याय से अर्जित द्रव्य और सत्ता थोडे ही दिन तक टिकती है उसके बाद समूल नष्ट हो जाती है।''[1]

महात्मा के रुप मे विख्यात सन्त गॉधीजी के रामराज्य के सकल्प का तो और भी दुर्भाग्य रहा। उनके ही अपने देश मे जहॉ कभी रामराज्य था और जो लोगो के हृदय मे बसा है स्वतन्त्रता के 45 वर्ष बाद भी रामराज्य की स्थापना की दिशा मे कदम तक न उठा और उनके जीवन काल मे ही देश के दो टुकडे (भारत और पाकिस्तान) हो गए और इससे अधिक दु खद और दुर्भाग्यपूर्ण बात और क्या हो सकती है कि उनके अपने चहेते तथा उन्ही के द्वारा मनोनीत राजनैतिक उत्तराधिकारी प० नेहरु ने सत्ता सभालते ही 'रामराज्य'' के आदर्श मूल्य को यह कहते हुए त्याज्य घोषित कर दिया कि ''तथाकथित रामराज्य का प्राचीन आदर्श न तो बहुत अच्छा था और न मै चाहूँगा कि उसकी पुन वापसी हो।''[2]

गॉधीजी के ''रामराज्य'' का सप्रत्यय बहुत ही व्यापक है, जो ग्रामराज्य से प्रारम्भ होता है और निखिल विश्व को अपनी परिधि मे समेट लेता है। इस कारण यहॉ गॉवो, प्रान्तो अथवा राष्ट्रो के पारस्परिक स्वार्थों की टकराहट अथवा अन्धाधुन्ध प्रतिस्पर्धा का प्रश्न नही उठता है। उनका मन्तव्य तो एक ऐसे शासन से है, जहॉ गॉव से लेकर विश्व तक एक दूसरे के पूरक है, एक दूसरे के पूर्ण विकास मे सहयोगी है और सबके विकास के लिए परस्पर प्रयत्नशील है। उनकी कल्पना के राज्य मे

---

1 अन्यायेनार्जित द्रव्य वर्षाणि तिष्ठति।

प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूल च विनश्यति।।

2 'आई नाइदर थिक दैट दी सो काल्ड रामराज वाज वेरी गुड थिग इन दी पास्ट नार डू आई वाण्ट इट बैक'

– नार्दर्न इण्डिया पत्रिका, 2 अक्टूबर 1992 पृष्ठ 4

गीता का यह उद्बोधन स्पष्ट रुप से सुनाई पडता है कि परस्पर सहयोग करते हुए सभी परमाश्रय को प्राप्त करे।"[1]

गॉधीजी के अनुसार परमसाध्य की सिद्धि अर्थात् आत्मानुभूति के लिए आत्मशुद्धि की आवश्यकता है और आत्मशुद्धि के लिए नैतिक अनुशासन की। उन्होने उन नैतिक नियमो का विवेचन किया है जिनका पालन व्यक्ति को व्रत की भॉति करना चाहिए। उनका विचार है कि व्रतो का नैतिक अनुशासन आत्मानुभूति के लिए आवश्यक है "व्रत का अर्थ है जो काम करना उचित है उसे चाहे जो हो, करना।"[2] परन्तु व्रत लेने का यह अर्थ नही कि हम व्रत लेते ही उसका सम्पूर्ण पालन करने लग जॉय। "व्रत लेने का अर्थ है उसका सम्पूर्ण पालन करने के लिए मन, वचन और कर्म से प्रामाणिक तथा दृढ प्रयत्न करना।"[3] तथा व्रतो के विषय मे सदेह होने पर व्रती को स्वय अपने विरुद्ध अधिकाधिक सयम के पक्ष मे उसका अर्थ करना चाहिए।"[4] जीवन का चरम मूल्य आत्मानुभूति तथा आत्मैक्य की उपलब्धि है और वह कभी भी अपवित्र एव अस्वच्छ साधन द्वारा उपलब्ध नही हो सकती। अतएव साधना क्षेत्र मे विकारहीन हृदय अथवा आत्मसयम शुद्धि की अत्यन्त आवश्यकता होती है।

2 9 व्यक्तिगत आचरण की पवित्रता (अर्थात् आत्म-शुद्धि)

गॉधीजी मुमुक्षु के लिए आत्मशुद्धि मनशुद्धि अथवा हृदयशुद्धि पर सर्वाधिक बल देते है। वे कहते है कि "जो हृदय के शुद्ध नही है उन्हे ईश्वर दर्शन कभी नहीं हो सकता। इसलिए आत्मशुद्धि

---

1 परस्पर भावयन्त श्रेय परमवाप्स्यथ।

– भगवद्गीता 11 3 11

2 आत्मशुद्धि, पृष्ठ 62–63

3 आत्मशुद्धि पृष्ठ 19–61 और 64 गॉधीजी–हिज लाइफ एन्डवर्क, पृष्ठ 366

4 बापूज लैटर्स टू मीरॉ, पृष्ठ 43

का अर्थ जीवन के सभी पहलुओ मे शुद्ध होना चाहिए।"[1] हृदय यदि अशुद्धि का शिकार रहेगा तो आस-पास का वातावरण भी अशुद्ध हो जाएगा और मनुष्य जीवन के पतन की ओर अग्रसित होगा। हृदय की अपवित्रता के कारण जीवन अपने सद्भाव स्नेह सहानुभूति, सत्य और अहिसा के शाश्वत मूल्यो से पृथक हो जाता है और मनुष्य जीवन-पर्यन्त विकार ग्रस्त ही बना रहता है। "आत्म-शुद्धि के विना जीवमात्र के साथ ऐक्य की साधना हो ही नही सकती। आत्मशुद्धि के बिना अहिसा धर्म का पालन सर्वथा असम्भव है। अशुद्धात्मा परमात्मा का दर्शन करने मे असमर्थ है।"[2]

हृदय की पवित्रता का अर्थ राग-द्वेष की भावना से मुक्ति प्राप्त करना है। स्वार्थ और तृष्णा से यदि मानव मन को मुक्ति नही मिली तो स्वभावत ऐसा मनुष्य हृदय की पवित्रता की कल्पना नही कर सकता। परिणामत वह क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति मे ही एकाग्र रहेगा। यही जीवन की हार का वास्तविक स्वरुप है। परिग्रह स्वाद और इन्द्रिय लिप्सा के ही कारण मनुष्य गिरता है और विश्व की अन्य मान्य मान्यताओ के साथ उसका सघर्ष हो जाता है।

हृदय की पवित्रता का पूर्ण आधार यही हो सकता है कि मनुष्य अपने आचरण के प्रति सदैव सजग रहे तथा प्रत्येक कार्य मे अपने साधनो की पवित्रता को महत्व प्रदान करे। "गॉधीजी ने अनुचित व्यवहार को हमेशा गलत बताया क्योकि उससे एक तो कभी सच्ची कार्य-सिद्धि हो ही नही सकती और दूसरे कार्य-सिद्धि जैसी कोई चीज दीखे भी तो वह उस ध्येय की सिद्धि नही हो सकती, क्योकि साधन के कारण वह ध्येय ही बदल जाता है।"[3] साधनो की पवित्रता विषयक अनुभूति केवल मात्र उस समय ही हृदय मे व्याप्त होती है जिस समय हृदय सात्विक वृत्तियो से पूर्ण हो। "आत्मशुद्धि का अर्थ है सत्य की अनुभूति होना तथा बुराइयो (Disvalues) से अपने को पृथक रखना। यदि यह स्थिति प्राप्त हो जाये तो स्वाभाविक रुप से सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धो मे परिवर्तन हो जाएगा।"[4]

---

1 आत्म कथा (अग्रेजी) पृष्ठ 615

2 गॉंधी – आत्म कथा (अग्रेजी) पृष्ठ 371

3 राजेन्द्र प्रसाद – गॉधीजी की देन, पृष्ठ 90

4 महादेव प्रसाद – "सोशल फिलासफी आफ महात्मा गॉंधी पृष्ठ 155

2 10 शुद्ध आचरण (साधन-मूल्य)

मनुष्य की आरम्भिक और आध्यात्मिक उन्नति ही गॉधीजी का लक्ष्य है। श्रेष्ठ मानव होने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य मे बुराई की न्यूनतम मात्रा हो इसीलिए वे नैतिकता को सर्वोपरि स्थान देते है। उनका कहना हे कि शुद्ध चित्त को किसी का दु ख नही लगता उसमे किसी का दोष नही ठहरता, वह किसी का बुरा नही देखता। यह भव्य स्थिति हे।"[1] हृदय शुद्ध होता है मन के विचारो पर विजय पाने पर। मन विकार रहित हो जाने पर चित्त निर्मल एव निष्कलक हो जाता है और वह स्थिति ब्रह्मभूत स्थिति होती है। गॉधीजी के शब्दो मे बलवान हो या निर्बल, गरीब हो या पूॅजीपति, लेकिन मन साफ है तो उसके पास सभी कुछ है।"[2] शान्त चित्त, रजस भाव से रहित, निष्पाप और ब्रह्मभूत योगी को उत्तम सुख प्राप्त हो जाता है। जहॉ विकार और लिप्सा होगी वहॉ इच्छाओ की पूर्ति सम्भावित नही होती। अत अभाव अवश्य बना रहेगा, परन्तु शुद्ध हृदय मे निश्छलता, निर्मलता एव निर्भीकता की स्थिति होती है। अतएव चित्त शुद्धि परमावश्यक है।[3]

भगवद्गीता मे 'फलाशा का त्यागकर निस्सग बुद्धि से किये गये कर्म को बन्धन रहित तथा दु खरहित कहा गया है।"[4] श्रीमद्भागवत् मे भी ऐसा ही उपदेश है कि "काया वाचा, मनसा तथा इन्द्रिय बुद्धि या आत्मा की प्रवृत्ति अथवा स्वभाव के अनुसार जो कुछ हम किया करते है, वह सब

---

1 बापू के पत्र मणि बहन के नाम पृष्ठ 38

2 अन्तिम झॉकियॉ, पृष्ठ 178

3 व्य कायेन मनसा बुदया केवलैरिन्द्रियैरपि।

योगिन कर्म कुर्वन्ति सङ्ग त्यक्त्वात्मशुद्धये।।

— भगवद्गीता 5 11

4 कर्मज बुद्धियुक्ता हि फल त्यक्त्वा मनीषिण ।

जन्म बन्ध विनिर्मुक्ता पद गच्छन्त्यनामयम्।।

— भगवद्गीता, 2.51

परात्पर नारायण को समर्पण कर दिया जाये।"[1] गॉधीजी का भी विचार है कि 'कोई भी काम हो, जो ईश्वर के नाम पर और उसे अर्पित करके किया जाता है, छोटा नही होता।"[2] यहॉ निष्काम कर्म की ओर ही सकेत किया गया है। उन्होने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है कि "अनासक्ति का अर्थ बेशक यह है कि अपने और अपनो के प्रति अनासक्त रहे।"[3] अनासक्ति को जडता या निष्क्रियता नही समझना चाहिए क्योकि "अनासक्ति का मतलब जडता नही, निर्दयता भी नही, क्योकि सेवा तो करनी ही होगी इसलिए दया की भावना मन्द पडने के बजाय तीव्र होगी कार्य दक्षता भी बढेगी और एकाग्रता भी बढेगी ओर व सब अनासक्ति के चिह्न है।"[4]

2 10(अ) अहिसा

सत्य साध्य है तो अहिसा उसकी प्राप्ति का साधन, "अहिसा सबसे बडा धर्म है"[5] ऐसा गॉधीजी मानते थे। उनके पूर्व दार्शनिको तथा धार्मिको ने व्यक्तिगत स्तर पर अहिसा का पालन किया था। इसको वे व्यक्ति का ही गुण मानते थे। यह व्यक्ति के लिए ही आवश्यक समझी जाती थी। समाज, राष्ट्र और विश्व मे अहिसा का सस्थागत पालन नही होता था। किन्तु "गॉधीजी की अहिसा परम्परागत अहिसा से भिन्न है। इसमे व्यावहारिकता समाहित है। उन्होने अपने जीवन की प्रयोगशाला मे उसका निरन्तर परीक्षण किया। उसको व्यवहारोपयोगी बनाकर उन्होने अहिसा के पुरातन अर्थों की सीमाओ का विस्तार किया। उन्होने अहिसा के वैयक्तिक तत्व मे सामाजिकता का प्रवेश कराया तथा

---

1 कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्धयात्मना वानुसृत स्वभावात्।

करोति यद्यत्सकल परस्मै नारायणायेति समर्पयेन्तत्।।

— श्रीमदभागवत

2 "सत्य ही ईश्वर है पृष्ठ 25

3 महादेव भाई की डायरी, भाग 1, पृष्ठ 25

4 महादेव भाई की डायरी भाग 2, पृष्ठ 181

5 अहिसा परोधर्म [illegible]

उसको निष्क्रिय एव सैद्धान्तिक पक्ष को अत्यन्त सक्रिय बना दिया।"[1] वे स्वय अपने को एक व्यावहारिक आदर्शवादी[2] कहते थे। इसीलिए उनकी अहिसा की कल्पना काफी लचीली थी। वे अहिसा के अतिवाद से अनावश्यक रुप से ग्रसित नही थे। यही कारण है कि वे मृत्यु के मुख मे पडे असह्य पीडा से कराहते हुये गाय के बछडे को मार देने का आदेश देते है। इस कार्य को भी उन्होने दया से प्रेरित होकर किया था भले ही इसने अत्यन्त विवादस्पद रुप धारण कर लिया हो और सन्तो ने इसकी तीव्र निन्दा की हो। क्योकि वे उस अनबोलते प्राणी को पीडा मुक्त कर देना चाहते है। लोक व्यवहार की दृष्टि से भी विषधर, शेर आदि हिसक जीव-जन्तुओ को जो मनुष्य को हानि पहुँचाते है, को मार डालना समाज के लिए हितकर होता है। गॉधीजी ने इसी प्रसग मे कहा है कि "जो पशु को खा जाते है मै उनकी वश वृद्धि मे सहायक होना अनुचित समझता हूँ।"[3] "उनके अहिसा का सिद्धान्त मात्र ऋषियो ओर सन्तो के लिए नही अपितु साधारण लोगो के लिए भी था। उनके लिए हिसा समाज का प्राकृतिक नियम नही है। एक समाज की प्रकृति का मापदण्ड अहिसा के अभ्यास मे ही निहित है।"[4] इस तरह मानवीय करुणा और मानवीय तर्क से ओत-प्रोत गॉधीजी की अहिसा अधिक व्यावहारिक दिखाई पडती है।

भावात्मक रुप से वे अहिसा को 'सक्रिय प्रेम और व्यापक करुणा कहते है।"[5] इसी को रोमा रोला ने "अनन्त धैर्य और असीम प्रेम की सज्ञा दी है।"[6] इस दृष्टि से अहिसा के साथ क्रोध, घृणा, प्रतिहिसा आदि की भावनाओ का मेल नही बैठता। प्राचीन भारतीय साहित्य मे भी इसी ओर इशारा

---

1 शर्मा वीरेन्द्र – भारत के पुनर्निमाण ग गॉधीजी का योगदान 1984 पृष्ठ 61

2 यग इण्डिया 18 अगस्त 1920

3 सर्वोदय पृष्ठ 78

4 यूनिथान टी० के० एन० – 'गॉधी एण्ड फ्री इण्डिया' पृष्ठ 45

5 स्पीचेज एण्ड राइटिग्स आफ महात्मा गॉधी (चतुर्थ सस्करण मद्रास) पृष्ठ 346

6 रोमा रोला कृत– 'महात्मा गॉधी" पृष्ठ 4

किया गया है। वेद मे कामना की गयी है कि "हम सब आपस मे मित्र भाव से रहे"[1] तथा प्राणियो की उपेक्षा नही करनी चाहिए।"[2] महाभारत मे भी अहिसा धर्म का विवेचन करते हुये कहा गया है कि मन वचन और कर्म से सभी प्राणियो के साथ मैत्री रखना, उन पर दया करना, उनको सब प्रकार से सुख देना यही सज्जनो का सनातन धर्म है।"[3] अत सब प्रकार से सब काल सभी प्राणियो के साथ बैर-भाव का परित्याग कर प्रेम- (प्रीति) के साथ व्यवहार करना तथा किसी भी सचेतन प्राणी को मनसा वाचा, कर्मणा एव शरीर को किसी भी प्रकार का कष्ट न देना अहिसा कहलाता है। "अहिसा का अर्थ है प्रेम का समुद्र, बैर-भाव का सर्वथा त्याग, अहिसा मे दीनता, भीरुता नही, डर कर भागना भी न हो। अहिसा मे दृढता, वीरता निश्चलता होनी चाहिए।"[4] अहिसा की इस परिभाषा मे हिसा के विपरीत होने की भावना के तत्व ही निहित नही है। यह तो धनात्मक पक्ष है जिसमे केवल बैर-भाव को ही समाप्त नही किया जाता अपितु हृदय मे प्रेम को धारण किया जाता है। क्योकि अहिसा और घृणा दोनो हमारे हृदय मे साथ-साथ नही रह सकते।"[5] उनके अनुसार "सत्य सर्वोच्च नियम है, किन्तु अहिसा सर्वोच्च कर्त्तव्य है।"

2 10(ब) ब्रह्मचर्य

भारतीय धर्म साधना मे ब्रह्मचर्य व्रत का सर्वोच्च महत्व है। अथर्ववेद मे उल्लिखित है कि "ब्रह्मचर्य की ही साधना से देवो ने मृत्यु को मारा था। ब्रह्मचर्य की साधना से देवो के लिए इन्द्र

---

1 मित्रस्य चक्षुषा समीक्षा महे। यजुर्वेद 36 18

2 मा जीवेभ्य प्रमद । अथर्ववेद 8 1 7

3 अद्रोह सर्व भूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।

अनुग्रहश्च दान च सता धर्म सनातन ।। शलोक सख्या महाभारत वन पर्व

4 हिन्दी नवजीवन 24 सितम्बर 1928

5 हरिजन 17 अगस्त 1934, यग इण्डिया, 2 अप्रैल 1931

स्वर्ग से आये।"[1] पातजलयोग के अनुसार - "ब्रह्मचर्य के फलस्वरुप सामर्थ्य एव शक्तिमत्ता का लाभ होता है।"[2] गरुण पुराण मे भी कहा गया है कि 'मन, वाणी कर्म और शरीर से होने वाले सब प्रकार के मैथुनो का सभी अवस्थाओ मे सदा सर्वदा त्याग करके सब प्रकार से वीर्य रक्षा करना, ब्रह्मचर्य" कहलाता है।"[3] साधक के लिए वीर्य रक्षा अत्यन्त आवश्यक कर्त्तव्य है। वीर्य रक्षा से शरीर हृष्ट-पुष्ट एव निरोग होता है शरीर के सामर्थ्यवान एव शक्तिशाली हो जाने पर हर प्रकार क कष्ट सहन की अतुल क्षमता का प्रादुर्भाव होता है।

सामान्य भाषा मे ब्रह्मचर्य का अर्थ है काम-वासना का सयम। किन्तु गॉधीजी इस सद्‌गुण को बडे व्यापक अर्थ मे लेते है। उनके अनुसार यह " ब्रह्म की ओर ले जाने वाला सही मार्ग"[4] है। इसलिए ' ब्रह्मचर्य का अभिप्राय है मन, वचन और कर्म से समस्त इन्द्रियो का पूर्ण सयम। अशुद्ध विचार या क्रोध ब्रह्मचर्य की अवहेलना है।"[5] इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अर्थ है समस्त क्षेत्रो मे आत्म सयम। जब तक अपने विचारो पर इतना नियन्त्रण न हो जाय की अपनी इच्छा के बिना एक भी विचार न आने पावे, तब तक वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं। उनका कथन है कि "ब्रह्मचर्य अर्थात् सत्य की खोज मे धर्म तत्सम्बन्धी विचार–आचार है।"[6] साधक को अनुशासन मे रहने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह शील–सतीत्व जैसे मूल्यो की रक्षा करे क्योकि इसको वश मे किये बिना मन तथा अन्य इन्द्रियॉ वश मे नही हो सकती है।

---

1 ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।

इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्य स्वऽरत।। – अथर्ववेद 11 7 19

2 ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठाया वीर्यलाभ । – पातजलयोगसूत्र 2 38

3 कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।

सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्य प्रचक्षते।। – गरुणपुराण, पूर्व आचार 238 6

4 हरिजन 22 जून 1947 पृष्ठ 200

5 यरवदा मन्दिर पृष्ठ 23 आत्मकथा (अग्रेजी) भाग 1, पृष्ठ 485–89 हरिजन 23 जुलाई 1938 पृष्ठ 192

6 यरवदा मन्दिर, पृष्ठ 28

वैवाहिक स्थिति के बारे मे गॉधीजी का मन्तव्य है कि 'मर्यादित रुप मे यौन-क्रिया सुन्दर और श्रेष्ठ वस्तु है। उसमे लज्जा की कोई बात नही है।"[1] हिन्दू स्मृतियो के इस मत का भी समर्थन करते हे कि उन विवाहित लोगो को जो इस मूलभूत नियम के अनुसार आचरण करते है उन्हे ब्रह्मचारी मानना चाहिए।'[2]

गॉधीजी जानते थे कि 'पूर्ण ब्रह्मचर्य एक आदर्श स्थिति है और अपूर्ण मनुष्य इस व्रत को पूरी तरह सिद्ध नही कर सकता। किन्तु तब भी हमे चाहिए कि हम उसी प्रकार सही आदर्श को अपने सामने रखे और उस तक पहुँचने की शक्ति भर चेष्टा करे जिस प्रकार जब बच्चो को बारह-खडी लिखना सिखाया जाता हे तो उन्हे अक्षर का अच्छे से अच्छा नमूना दिखाया जाता है और वे यथाशक्ति हूबहू नकल करने की चेष्टा करते है।"[3] लेकिन गॉधीजी एक व्यावहारिक आदर्शवादी है जो आत्म सयम तथा प्रवृत्तियो को उर्ध्वगामी बनाने के दुष्कर प्रयत्न और मात्र बलपूर्वक इन्द्रियो को दबाने के बीच सीमा रेखा खीचते है।

---

1 हरिजन, 28 मार्च 1936 पृष्ठ 56 तथा 25 अप्रैल 1936, पृष्ठ 84

2 हरिजन 14 मार्च 1936 पृष्ठ 36

3 ब्रह्मचर्य पर महात्मा गॉधी के विचार, पृष्ठ 28

अध्याय 3

पं0 जवाहर लाल नेहरू (1889-1964)

महात्मा गॉधी के वारिस [1] नेहरू एक ऐसे व्यक्ति थे जो अपने कार्यो से भी महान और अपने वातावरण से भी सत्य थे। [2] भारतीय परम्परा मे जो कुछ भी उदात्त और गतिशील हे वह सब इस वास्तविक विलक्षण व्यक्ति के जीवन और कार्य मे प्रतिबिम्बित है, जिसमे गॉधी का सत्य के लिए आग्रह ओर टैगोर की सौन्दर्य के लिए सवेदनशीलता एक साथ मोजूद थी ऐसा व्यक्ति जिसमे अनन्त श्री ओर सुरूचि थी सीमाहीन साहस और दृढता थी ऐसा व्यक्ति जिसने शान्ति स्वाधीनता ओर मानवीय सुख के लिए अपना सारा जीवन अर्पित कर दिया था।"[3] "नेहरू अनिवार्यत विज्ञान ओर तकनीक के व्यक्ति हे जो उसकी प्रगति व उपलब्धियो मे आस्था रखते हे। [4] विज्ञान के कुछ नकारात्मक प्रभावो के बादजूद भी उनकी आस्था विज्ञान मे हे क्योकि इससे मनुष्य मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास होता हे ओर यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही हमे आशान्वित करता है। वे मानते हे कि " हमे अपने विचारो ओर कामो मे विश्व के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों मे, धर्म तथा सत्य की खोज मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही काम लेना चाहिए। [5] वैज्ञानिक दृष्टिकोण व बुद्धिवादी पद्धति के माध्यम से उन्होने मानवीय मूल्यो को सर्वोच्चता प्रदान की।

नेहरू पर अनेक भारतीय व विदेशी चिन्तको सस्कृतियो आन्दोलनो व विचारधाराओ का प्रभाव पडा। व्यक्तियो मे उन्हे मोतीलाल नेहरू, एनीबेसेन्ट, रवीन्द्रनाथ टैगोर बर्क, मिल मार्क्स

---

१ राम नारायण उपाध्याय गाधी दर्शन पृ० 154

2 जी० के० मुकर्जी नेहरू व ह्यूमनिस्ट त्रिमूर्ति पब्लिकेशन प्रा० लि० नई दिल्ली 1972 पृ० 2 (उदधृत रफीक जकारिया)

३ नरवणे आधुनिक भारतीय चिन्तन पृ० 13

४ जी० के० मुकर्जी नेहरू द ह्यूमनिस्ट, (उदधृत राजेन्द्र प्रसाद)

लनिन काण्ट स्पेन्सर आदि ने प्रभावित किया। वेद उपनिपद महाभारत रामायण क साथ वे गीता स प्रभावित थ। धार्मिक न हाते हुए भी वे बुद्ध व ईसा से प्रभावित है। उन पर सर्वाधिक प्रभाव गाधी का पडा। 'गाधी और नहरू के मध्य गुरू शिष्य राम्बन्ध मे विपरीत तत्वो का परस्पर आकर्पण दिखाई पडता है।'[1] 'यह सही हे कि अग्रेजी साहित्य का अग्रेजी इतिहास का अग्रेजी वेज्ञानिको ओर समाज-शास्त्रियो का मै बहुत ऋणी हूँ। अमरीका की फ्रास की रूस की क्रान्तियो से तथा चीनी विचारो ओर सस्कृति से मुझे जो प्रेरणा मिली है मै उसका भी बडा उपकार मानता हूँ। लेकिन सबसे ज्यादा मे भारत का, भारतीय विचार और सस्कृति का उस बहुमुखी सस्कृति की आश्चर्यजनक निरन्तरता का ऋणी हूँ जो पॉच हजार वर्पो से हमारी यशस्वी ओर गर्वीली परम्परा तथा विरासत रही है।'[2]

3 1 सामान्य चिन्तन व दर्शन

3 1 (अ) ईश्वर

कुछ चिन्तक मानते है कि नेहरू अनीश्वरवादी है[3] किन्तु एक दूसरा पक्ष उन्हे अज्ञेयवादी मानता है।[4] डिरकवरी आफ इण्डिया ' मे नेहरू लिखते हे कि" रहस्यमय क्या है, यह मुझे नहीं मालूम। मे उसे ईश्वर नही कहता, क्योकि ईश्वर का अर्थ बहुत कुछ इस तरह लगाया जाता है जिसमे मुझे विश्वास नही ।"[5] इस कथन से स्पष्ट है कि ईश्वर के सम्बन्ध मे प्रचलित धारणाओ से नेहरू जी सहमत नही है। इसीलिए वे रहस्यमय सत्ता को ईश्वर न कह कर इस सम्बन्ध मे

---

1 नरवणे आ० भारतीय चिन्तन पृ 91

2 जवाहर लाल नेहरू वाङ्मय खण्ड II सस्ता साहित्य मडल प्र० नई दिल्ली 1984 पृ० 600

3 द्रष्टव्य, डा० एन० के० देवराज ह्यूमनिज्म इन इडियन थॉट 'इन्डस पब्लिसिंग क०, नई दिल्ली 1988 पृ० 123

4 द्रष्टव्य प्रो० आर० आर० पाण्डेय, साइन्टिफिक टैम्पर एण्ड अद्वैत वेदान्त सुरेशा गेष प्रकाशन वाराणसी 1991 पृ०

अपनी अज्ञानता व्यक्त करते है। नेहरू रहस्यवादी या पूर्णत आध्यात्मवादी नही है फिर भी वे भौतिक जगत से पर की सूक्ष्म वस्तुआ म विश्वास के लिए नैतिक आध्यात्मिक व आदर्शवाद का सहारा लेते है। यही उनकी आस्तिकता प्रकट होती है। हम ईश्वर मे विश्वास करे या न करे लेकिन किसी न किसी चीज मे विश्वास न करना नामुमकिन है। उसे सृजनात्मक जिन्दगी देने वाली ताकत कह सकत है हम उस चाहे कोई भी नाम दे लेकिन एक ऐसी चीज है जिसकी सत्ता है जिसमे असलियत है उसी तरह, जेसे जिन्दगी मोत के मुकाबले मे एक असलियत है हालॉकि उसका प्रत्यक्ष पता नही लगता।"[1]

इस विवेचन के आधार पर स्पष्ट है कि नेहरू को अनीश्वरवादी या नास्तिक कहने के बजाय अज्ञेयवादी आस्तिक कहना श्रेयस्कर है।

3 1(ब) आत्मा

आत्मा-जेसी चीज है भी या नही मे नही जानता और अगर ये सवाल महत्व के है तो भी इनकी मुझे कुछ भी चिन्ता नही।"[2] वास्तव मे बुद्ध की तरह नेहरू भी ऐसी बातो मे नही पडना चाहते थे जिनका मानव क लौकिक कल्याण से सीधा सम्बन्ध न हो। धर्म सम्बन्धी उनकी अवधारणा के परिप्रेक्ष्य मे यह बात और स्पष्ट हो जाएगी।

3 1(स) प्रकृति

नेहरू जी का मूल ध्येय मानव कल्याण था। इसलिए वे अप्रत्यक्ष सत्ताओ के प्रति आकर्षित न होकर प्रकृति के प्रति आकर्षित थे। प्रकृति की विविधता और भरा-पूरापन मुझमे उत्साह पैदा करते है और उनसे मुझे आत्मिक शान्ति भी मिलती है और मै ख्याल करता हूँ कि पुराने हिन्दुस्तान के

लोगो या यूनानियो म मे पुल मिल सकता था सिवाय इसके कि वे देवताओ की कल्पना जो उनके साथ जुडी हुई है वह मेरे माफिक न होती।"[1]

3 2 इहलोक-परलोक-पुनर्जन्म

असल म मेरी दिलचस्पी इस दुनिया मे और इस जिन्दगी म है किसी दूसरी दुनिया या आने वाली जिन्दगी मे नही।[2] मुझे परलोक या मृत्यु के बाद क्या होता है इसके बारे मे कोई दिलचस्पी नही है इस जीवन की समस्याये ही मेरे दिमाग को व्यस्त करने के लिए काफी मालूम होती है। मै चाहता हूँ कि जीवन को समझा जाय उसका त्याग नही बल्कि अगीकार किया जाय इसके अनुसार चला जाय और इसको उन्नत बनाया जाय।'[3] वे इस बात का विरोध करते थे कि सामाजिक बुराइयो का परलोक पाप-पुण्य से जोडा जाय। लोक-कल्याण मे सलग्न व्यक्ति का दृष्टिकोण वेज्ञानिक होना चाहिए। उसे परलोक या मृत्यु-पश्चात् जीवन की जगह वर्तमान जगत मे रूचि लेनी चाहिए। 'सामाजिक बुराइयो को, जो ज्यादातर निश्चय ही दूर की जा सकती है, पुराने पाप का नतीजा बताया जाता है या (हिन्दुस्तान मे) इन्हे पूर्वजन्मो के कर्मो पर गढ दिया जाता है। इस तरह आदमी अक्ल और वेज्ञानिक ढग से विचार करने से दूर रहा, वह अविवेक अधविश्वास, बेजा हठ और सामाजिक व्यवहार की शरण लेता है।"[4]

3 3 धर्म

'धर्म के मामले मे मेरे खयालात बहुत धुँधले थे। मुझे यह स्त्रियो से सम्बन्ध रखने वाला विषय मालूम होता था।'[5] नेहरू जी ने अपनी 'आटो-बायोग्राफी" मे 'धर्म क्या है" अध्याय[6] मे धर्म

---

1 वही पृ० ३५

2, वही पृ० ३३

३ जवाहर लाल नेहरू मेरी कहानी पृ० 528

4 जवाहर लाल नेहरू हिन्दुस्तान की कहानी पृ० 37

सम्वधी धारणा का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। वे मानते हे कि धर्म शब्द का ठीक और निश्चित अर्थ न होने के कारण सारी गडबडी उत्पन्न होती है। इसके लिए सीमित अर्थ वाल शब्द का प्रयोग होना चाहिए। वे मानत हे कि आमतोर पर धर्म ईश्वर या परमतत्व की असामाजिक या व्यक्तिगत खोज का विषय बन जाता हे और धर्मभीरू व्यक्ति समाज की भलाई की अपेक्षा अपनी मुक्ति की ज्यादा फिक्र करने लगता है।'[1] धर्म के आधिभोतिकवादी पक्ष के प्रति उन्हे कभी आकर्षण नही रहा क्योकि इसकी अस्पष्ट काल्पनिकता को पसन्द नहीं करते थे। यद्यपि धर्म के प्रति उनकी धारणा यह भी है कि उसने मानव-इतिहास मे कई सराहनीय कार्य किये हे परन्तु इसके हठवाद व अंधविश्वास के कारण मानवता की क्षति भी हुई है।

नेहरू जी का मानना था कि ''धर्म ओर धार्मिक दृष्टिकोण 'विचारो की स्पष्टता और उद्देश्य की स्थिरता का कितना भारी दुश्मन है हमेशा दूसरी दुनिया की बाते सोचते-सोचते मानव-स्वभाव-सामाजिक रूप और सामाजिक न्याय का उसे कुछ पता ही नहीं रहता।[2] 'वे आगे फिर कहते ह कि धर्म बात तो शान्ति की करता हे लेकिन उन प्रणालियो और व्यवस्थाओ का समर्थन करता हे जो बिना हिंसा के जिन्दा नही रह सकती।'[3]

नेहरू धर्म के विधि-विधान पूर्ण स्वरूप, रूढिवाद, अस्पष्ट काल्पनिकता, साम्प्रदायिकता का विरोध करते थे। वे साम्प्रदायिक या सकुचित अर्थ मे धार्मिक व्यक्ति नही है फिर भी सत्य तथा करूणा आदि आध्यात्मिक मूल्यो मे उनकी प्रबल आस्था थी। नेहरू कहते है कि यदि धर्म का अर्थ पूर्ण निष्ठा के साथ सत्य की खोज करना तथा उसके लिए सर्वस्य बलिदान करने के लिए तैयार रहना हे'' तो इस महान सेना का एक तुच्छ सैनिक बनने को मै तैयार हूँ।''[4]

---

1 वही पृ० 528

2 वही पृ० 705

3.4 साध्य मूल्य ओर साधन मूल्य–

गॉधीजी की तरह नेहरू भी साधन की पवित्रता पर बल देते है यद्यपि वे गॉधीजी की तरह इस पर इतने दृढ़ नही है। वे कहते है कि मै अनुभव करता हूँ कि अन्तिम जोर तो लाजिमी ओर जरूरी तोर पर हमारे सामने जो ध्येय या मकसद हो उसी पर देना चाहिए। लेकिन साधनो की उपेक्षा नही की जा सकती क्योकि नैतिक पक्ष के अलावा उससे बिल्कुल अलग उनका एक व्यावहारिक पक्ष भी है। हीन ओर अनैतिक साधन अक्सर हमारे लक्ष्य को ही विफल कर देते है जबरदस्त नई-नई समस्याये खडी कर देते है अत निश्चित रूप से साधन ऐसे होने चाहिए जिनसे घृणा या झगडे यथासम्भव कम हो जाए या सीमित हो जाय ।"[1]

3.5 अहिसा

अहिसा किसी अन्यायपूर्ण शासन या सामाजिक व्यवस्था को बदलने मे सामर्थ्यवान है या नही अपितु मेरा यह ख्याल है कि वह हमे बहुत दूर तक ले जा सकती है लेकिन इस बात मे मुझे शक है कि वह हमे अन्तिम ध्येय तक ले जा सकती है, जिन लोगो के हाथ मे ताकत और खास अधिकार होते है वे उन्हे उस वक्त तक नहीं छोडते जब तक ऐसा करने के लिए मजबूर नही कर दिया जाता है निस्सन्देह कुछ पर बल प्रयोग करना ही पडेगा।"[2] इस प्रकार नेहरू जी अहिसा को गाधीजी की तरह पूर्ण दृढता से स्वीकार नही कर पाते। किन्तु वे हिसा का प्रयोग अन्तिम विकल्प के रूप मे ही करना चाहते है और वह भी घृणा व क्रूरता की भावना से नहीं बल्कि रूकावट दूर करने की शुद्ध इच्छा से। सन्देह और शकाओ के बावजूद वे अहिसा मे निहित नैतिक तत्व के कारण उसकी ओर सदैव आकर्षित रहे। अहिंसा साधन की पवित्रता की धारणा के भी अनुकूल है और नेहरू जी साधन की पवित्रता मे आस्था रखते हैं।

3 6 राष्ट्रवाद या अन्तर्राष्ट्रवाद–

नेहरू जी राष्ट्वादी होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीयतावादी है। राष्ट्रीयता का आदर्श एक गहरा और ्मजबूत आदर्श है लेकिन और भी आदर्श जैसे अन्तर्राष्ट्रीयता और श्रमजीवी वर्ग के आदर्श हमे इन जुदा-जुदा आदर्शो के बीच एक समझोता कायम करना होगा।"[1] उनका मानना था कि राष्ट्रभक्ति पर्याप्त नही है, हमे इससे उच्च विस्तृत और शानदार चीज चाहिए। इसके लिए वे पचशील सिद्धान्त का प्रतिष्ठित करते है।

3 7 लोकतात्रिक समाजवाद

नेहरू लोकतात्रिक सामाजवादी थे। वे राज्य व व्यक्ति दोनो के सहयोग से मानव कल्याण व प्रगति मे विश्वास रखत थे। जनतत्र व नागरिक अधिकारो के लिए प्रतिबद्ध नेहरू सदैव उपनिवेशवाद क विरूद्ध लडते रहे। वे मानव की राजनीतिक और आर्थिक-स्वतन्त्रता के समर्थक थे।

3 8 अन्य चिन्तन

ओद्यागीकरण मे नेहरू की अपार आस्था है। यद्यपि इससे बहुत सी बुराइयॉ उत्पन्न होती हे परन्तु इसने भौतिक प्रगति की ऐसी बुनियाद डाली है जो बहुजन समाज के लिए सास्कृतिक ओर आध्यात्मिक प्रगति को अत्यन्त सुगम कर देती है।"[2]

आधुनिक सभ्यता के सम्बन्ध मे नेहरू जी कहते है, "वर्तमान सभ्यता बुराइयो से भरी हुई है लेकिन उसमे अच्छाइयॉ भी भरी पडी है और उसमे वह ताकत भी है जिससे वह अपनी बुराइयो को दूर कर सके।"[3]

परम्परा के प्रति उनका दृष्टिकोण एक व्यावहारिक व्यक्ति का है जो सारी जगहों के शुभ तत्वों को ग्रहण करने को सदैव तत्पर है।"[1] 'वे उस परम्परा को स्वीकार करते थे-जो आधुनिक समाज के लिए उपयोगी है। परम्परा के प्रति उनकी निष्ठा समाज को सुदृढ करने के लिए थी।

नेहरू जी स्वयं को मानववादी परम्परा से जोडते है। मानववाद की उदार परम्परा का मुझ पर इतना ज्यादा प्रभाव पडा है कि मै उससे बिलकुल बच कर निकल नही सकता।"[2] वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे वे मानववाद और वैज्ञानिक स्वभाव के सामजस्य से उत्पन्न "वैज्ञानिक मानववाद" मे आस्था रखते हुए दिखाई पडते है हमको अपने युग के सबसे ऊँचे आदर्शो के मुताबिक काम करना चाहिए उन आदर्शो का वर्गीकरण दो शीर्षको मे हो सकता है-मानववाद और वैज्ञानिक स्वभाव। इन दोनो के बीच मे जाहिरा तौर पर काफी झगडा रहा है, लेकिन आजकल मानववाद और वैज्ञानिक स्वभाव दोनो मे समन्वय बढ रहा है और एक ढग का वैज्ञानिक मानववाद पैदा हो रहा है।"

नेहरू को कुछ चिन्तको ने "धर्म निरपेक्ष मानववादी, कहा है[3] जबकि प्रो० रेवती रमण पाण्डेय उन्हे समग्र मानववादी इनटेंगरल-ह्यूमेनिस्ट कहते है। नेहरू को धर्म निरपेक्ष मानववादी कहना इसलिए उचित नही प्रतीत होता कि सर्वप्रथम, धर्म की तरह धर्मनिरपेक्ष शब्द का प्रयोग एक निश्चित अर्थ मे न होकर विविध अर्थो मे हो रहा है। द्वितीय नेहरू के सन्दर्भ मे कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिक या सकुचित अर्थ मे वे धार्मिक व्यक्ति नही थे परन्तु आध्यात्मिक मूल्यो मे उनकी प्रबल, आस्था थी।[4] इसलिए उन्हे, धर्म निरपेक्ष मानववादी" कहने की बजाय, समग्र मानववादी कहना वरेण्य होगा। वैसे मै उन्हे "वैज्ञानिक मानववादी" कहना उचित समझता हूँ क्योकि नेहरू के चिन्तन

---

1 नगीना दास सघवी धर्मयुग साप्ताहिक (नेहरू स्मृति अक) बम्बई 13-19 नवबर 1988 पृ० 35

म वज्ञानिक दृष्टि को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। इसी वेज्ञानिक दृष्टि को आधार बनाकर वे नानव कल्याण की ओर अग्रसर होत हे।

समग्रत कहा जा सकता हे कि नेहरू आजीवन विचार व कर्म दोनो से मानव कल्याण मे लगे रहे। नेहरू के स्वय के शब्दो मे चाहे जो भी गलतियॉ हमने की हो लेकिन हम ओछेपन बुजदिली और अन्दरूनी शर्म से जरूर दूर रहे है'' आगे वे लेनिन को उद्धृत करते हुए कहते है, 'मेने अपनी सारी ताकत अपनी सारी जिन्दगी दुनिया के सबसे बडे आदर्श मानवजाति की आजादी क लिए निछावर कर दी।[1]

तृतीय खण्ड

आध्यात्मिक मूल्य दर्शन

अध्याय 1

डॉ0 राधाकृष्णन् युग (1936-1952)

भारतीय दार्शनिक काग्रेस की स्थापना 1922 ई० मे हुई थी जिसके प्रभावस्वरूप दर्शन-शास्त्र पढने-पढाने वाले विद्वान सगठित हुए तथा सामूहिक चिन्तन या सहचिन्तन की प्रवृत्तियो का प्रादुर्भाव हुआ। इस कालावधि की मुख्य प्रवृत्ति प्रत्ययवाद (Idealism) है। 1936-1952 तक का भारतीय समयावेश दार्शनिक विकास का **'तुलनात्मक युग'** (Comperative era) कहा जा सकता है। इस युग के महत्वपूर्ण प्रतिनिधि एव प्रणेता दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन् थे जिनके प्रभावस्वरूप इस युग को इनके सम्मान मे 'राधाकृष्णन् युग' कहा जाता है। इस युग के अन्य महत्वपूर्ण दार्शनिक है—डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, डॉ० रामचन्द्र दतात्रेय रानाडे, डॉ० हीरालाल हलधर, डॉ० ब्रजेन्द्रनाथ शील, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य शिशिर कुमार मैत्र, अनुकूलचन्द्र, मुखर्जी, धीरेन्द्र मोहन दत्त एम० हिरियन्ना, आनन्द के० कुमारस्वामी एम० सूर्यनारायण शास्त्री, एन० जी० दामले, टी० आर० बाडिया, हरिदास भट्टाचार्य भीषन लाल आत्रेय टी० एम० महादेव, उमेश मिश्र यदुनाथ सिन्हा आदि है। इस युग मे भारतीय दर्शन के इतिहास-ग्रथ लिखे गये जिनमे सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, डॉ० राधाकृष्णन, एम० हिरियन्ना उमेश मिश्र और यदुनाथ सिन्हा के नाम उल्लेखनीय है। पुन इसी समय भारतीय ज्ञानमीमासा भारतीय नीतिशास्त्र, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, भारतीय समाज विज्ञान इत्यादि दर्शन के विभिन्न शाखाओ से सम्बन्धित प्रामाणिक ग्रथ तथा लेख लिखे गये। इन कृतियो मे राधाकृष्णन् की 'Idealistic view of life', कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य की 'Subject as Freedom', अनुकूलचन्द्र मुखर्जी की 'Nature of Self", धीरेन्द्रमोहन दत्त की 'Six ways of knowing', एम० हिरियन्ना की "The mission of

emotion इत्यादि महत्वपूर्ण है। डॉ० राधाकृष्णन युग का विकासात्कप अद्वैत वेदान्त के आत्मानुभव मे माना जाता है। इस आत्मानुभव का साक्षात्कार करनवालो म दक्षिण भारत के सत रमण महर्षि (जन्म 30 दिसम्बर 1879-1950) अग्रगण्य है।

डा० राधाकृष्णन्

राधाकृष्णन् जेस प्रतिभावान विचारक के विचार इतने अधिक समृद्ध ओर विस्तृत हे कि अनेको दृष्टियो से अध्ययन के योग्य हे। वे सफल तुलनात्मक दार्शनिक भारतीय दर्शन के ज्ञाता तथा धार्मिक–दार्शनिक एव राजनेतिक तीनो रूपो के साथ पूर्ण न्याय करते है।

समकालीन दार्शनिको की समन्वयवादी परम्परा के अन्तर्गत डॉ० राधाकृष्णन्, ने पाश्चात्य ओर प्राच्य दानो धर्मो ओर दार्शनिक विचारधाराओ को अपने चिन्तन का विषय स्वीकार किया। उनका दर्शन सरचनात्मक समन्वय नहीं, बल्कि रहस्यवादी व अनुभूति का सर्जनात्मक सम्मिश्रण है।

उन्होने दानो दृष्टिकाणो की असहिष्णुता को समाप्त कर उसे एकीकृत करने का प्रयास किया परन्तु हम डॉ० राधाकृष्णन को आध्यात्मिक दार्शनिक ही कहेगे। धार्मिक अनुभूति पर ही उनका पूरा दर्शन आधारित हे। वे एक सबल रचनात्मक विचारक हे और उनके विचार केवल परपरा पर ही आधारित नही हे वरन् पाश्चात्य मध्ययुगीन और आधुनिक समकालीन दार्शनिक विचारधाराओ का परिष्कृत और समग्र बौद्धिक प्रणाली प्रदान करने का प्रयत्न है। उनकी यही रहस्यवादी प्रवृत्ति उन्हे धार्मिक अध्यात्मवाद की ओर उन्मुख करती है। वैदिक परपराओ को अपनाते हुए उन्होने धार्मिक अनुभूति को प्राथमिकता दी। उनकी मान्यता है कि मानवीय जीवन का और अन्तत विश्व का तात्विक स्वरूप सर्जनात्मक अनुभूतियो मे और विशेष रूप से धार्मिक अनुभूति (समग्र अनुभूति) मे जिस स्पष्टता के साथ व्यजित होता है वैसा अन्यत्र कही भी नही होता है। अत उन्होने समग्र अनुभूति का वर्णन अपनी पुस्तको मे विशद रूप से किया।

नवीनीकरण सभव हे। अध्यात्म से प्रेरित धर्म एक ऐसा धर्म होगा जो जीवन को उसकी सोदेश्यता पदान करेगा, जो हमसे किसी प्रकार के पलायन तथा द्वयर्थकता की अपेक्षा नही करेगा[1] जो जीवन के यथार्थ एव आदर्श का रामन्वित करेगा जो जीवन की गहराइयो से हमारा साक्षात्कार करेगा ओर हमे सपूर्ण सन्तुष्ट करेगा आलोचनात्मक बुद्धि तथा सक्रिय इच्छाओ दोनो को सम्पूर्ण रूप से सतुष्ट करेगा ओर इसी प्रकार के धर्म की आज विश्व को आवश्यकता है।[2]

1 1 आध्यात्मिक पुनर्जागरण

पूर्ण भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन के अध्येता, भारतीय धार्मिक अध्यात्मवाद (Religious Idealism) के समर्थक डॉ० राधाकृष्णन् के दर्शन मे पाश्चात्य विचारो का ईटा-गारा लगा है, किन्तु इसकी आकृति और कायाकल्प पूर्णत नवीन और मौलिक है। **लाटेसडाइड** के अनुसार,—किसी भी एशियाई से अधिक सफलतापूर्वक इन्होने पूर्व और पश्चिम के विचार समन्वयन मे योगदान दिया है। एक ओर यदि इनका दर्शन वेदान्त और उपनिषद् से प्रमाणित हे तो इसका धरातल प्लेटो, प्लॉटिनस, काण्ट, ब्रैडले एव बर्गसॉ के विचारो से ओत-प्रोत है। कुछ कतिपय दार्शनिको की भॉति इनका दर्शन कोरे चिन्तन का परिणाम नहीं वरन् उसका प्रत्येक पहलू व्यावहारिक जीवन' से आतप्रोत हे राम्बद्ध है।'

बर्नार्ड फिलिप्स के अनुसार इनके अध्यात्मवाद मे जीवन शैली का एक अस्तित्ववादी पूर्णभिमुखीकरण है। राधाकृष्णन का उद्देश्य एक विश्व दर्शन स्थापित करने का था जिसकी पूर्ति हेतु इन्होने पौर्वात्य व पाश्चात्य दोनो सस्कृतियों के मूल मे प्रविष्ट होकर इनकी आत्माओ का साक्षात्कार करते हुए इनके व्यापक और विश्व व्यापी सदेश को अनावृत्त करके दोनो को एक ही सम्यक् धरातल पर प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।

---

1 पॉल आर्थर शिल्प 'द फिलॉसफी ऑफ राधाकृष्णन्' के अन्तर्गत डॉ० राधाकृष्णन् का लेख 'फ्रैगमैटस ऑफ

डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार दर्शन के इतिहास मे प्राय दो दृष्टिकोण प्राप्त होते है–

(1) या तो दर्शन क किसी विशेष अनुभव का अध्ययन किया किया जाता है या फिर–

(2) सम्पूर्ण जगत् का अध्ययन किया जाता है।' परन्तु, भारतीय दर्शन मे दर्शन का सम्बन्ध मानवीय प्रकृति रो है। अस्तु यहाँ पर दर्शन मूलरूपेण व्यावहारिक या 'आध्यात्मिक' है। इन्होने सर्वप्रथम पाया कि हिन्दू धर्म की प्राय दो प्रकार से आलोचना की जा सकती है–

(1) यह धर्म बौद्धिकरूपेण सुसगत नही है।

(2) यहाँ नैतिकता का स्वरूप सुसगत व सुदृढ नही है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिन्दू धर्म के सैद्धान्तिक आधारो एव व्यावहारिक परिणामो दोनो की आलोचना की जा सकती है। इसीलिए राधाकृष्णन् का प्रथम प्रयास यह था कि किस प्रकार हिन्दू धर्म का वर्तमान परिवेश से सामजस्य स्थापित किया जाय ?

किसी भी धर्म की अभिव्यक्ति उसके नैतिक विश्वास मे होती है। हिन्दू धर्म मे अनेकानेक ऐसी बाते है जिसकी आलोचना अपेक्षित है। यथा–कठोरता, प्रकृति के प्रति अज्ञानता, अधविश्वास आदि। लेकिन फिर भी हिन्दू धर्म भारतीय समाज के लिए उपयुक्त है। हिन्दू धर्म के अनुयायी ईश्वर-साक्षात्कार की कामना करते है और इस प्रयास का ही प्रतिफल है कि कुछ लोग पूर्णता की स्थिति प्राप्त कर लेते है। इरा स्थिति मे शरीर एव आत्मा का द्वैत लगभग समाप्त हो जाता है। हिन्दू सस्कृति सासारिक जीवन से परे पारलौकिक लक्ष्य की ओर प्रेरित करती है। इसका लक्ष्य आध्यात्मिक चेतना को जागृत करना है और जो लोग ऐसी जागृति की अनुभूति कर लेते है वे जाति, धर्म सम्पत्ति एव शक्ति की मनोहारिणी तृष्णाओं का अतिक्रमण कर देते है।

डॉ० राधाकृष्णन् का कथन है कि विज्ञान और तकनीकी विकास ने जहाँ मानवीय बुद्धि की

के कारण पुरातन नीति मे एव अध्यात्म मे उनका सहज विश्वास ही नष्ट हो गया है। मानवीय अन्तर्शून्यता की दृष्टि स इस युग की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए वे कहते हे कि यह आध्यात्मिक खाखलपन नेतिक-विमूढता तथा सामाजिक अराजकता का युग है। पुन एक स्थान पर उनका कथन हे कि यह आर्थिक' तथा बौद्धिक नृशसता' का युग है (Age of ecomonic and intellectual barbarium)। मानव अपने पौरुष मे आस्था रखने लगा है जिसके फलस्वरूप वह अपने पुनरुत्थान के स्रोत से विमुक्त और अन्दर से निष्प्राण हो चुका हे।

अत इनके अनुसार इस शून्यता से मुक्ति तथा जीवन को पुनर्जीवित करने के लिए तथा इसके मार्ग का सक्रिय व सशक्त बनाने के लिए अध्यात्म की ओर प्रेरित करना होगा। आध्यात्मिक आकाक्षाओ से युक्त मानव ही जीवन को वास्तविक दिशा प्रदान कर सकेगा। जब आध्यात्मिक जीवन भीतर से मानव को प्रेरित और आलोकित करेगा, तभी इस धरा पर नवीनीकरण सम्भव होगा जो जीवन को उसकी वास्तविक उद्देश्यता प्रदान करेगा। जिससे किसी भी प्रकार का पलायन नही होगा। यह जीवन के आदर्श और यथार्थ गद्य और काव्य को समन्वित करेगा जो भविष्य की गहराईयो को पाटने (निवृत्त करने) का आह्वान करेगा। हमे पूर्णतया सतुष्टि प्रदान करेगा। यह आलोचनात्मक चेतन्य बुद्धि और सक्रिय इच्छाओ दोनो को ही सम्पूर्णत सतुष्ट करेगा। इस धरा पर इसीप्रकार के धर्म की आवश्यकता है।

प्राचीन समय मे हमारी सस्कृति धर्मनिरपेक्ष थी और हमारा उद्देश्य सुव्यवस्थित व्यवस्था की स्थापना करना था। पारमार्थिक सत्यो से साक्षात्कारोपरान्त ऋषि मनुष्य के व्यावहारिक जीवन की चिन्ता करते थे। हिन्दू धर्म के अनुसार सभी जीव एक ही दैवी तत्व के अश थे। अत उन सभी का समान महत्त्व था , किन्तु इस उद्देश्य प्राप्ति के लिए वहाँ कोई प्रभावकारी कदम नही उठाया गया। इसके लिए मुख्यत सामाजिक सुषुप्ति तथा वैयक्तिक स्वार्थपरता उत्तरदायी थे। अधिकतर हानि धार्मिक प्रथा तथा रीतियो के कारण होती है जिसमे आध्यात्मिक, ऐन्द्रिक, धार्मिक रूढियॉ परस्पर मिल जाती है।

केवल इसलिए हिन्दू है कि व्यवस्थानुसार हम हिन्दू परिवार मे पेदा हुए हे। धर्म के नाम पर प्राय यह मान लिया जाता हे कि हमारी वर्तमान व्यवस्था ईश्वर सृजित व निर्धारित है किन्तु व्यावहारिक अर्थ म धर्म साहस शोर्य उत्साह व प्रयास उत्पन्न करता हे।

डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार केवल हिन्दू समाज के लिए ही नही अपितु सम्पूर्ण जगत् के लिए आध्यात्मिक पुनर्जागरण आवश्यक है , आत्मा का मार्ग यानी आध्यात्मिक मार्ग ही एक मात्र आशा हे। हमारी मानसिक अव्यवस्था ही सासारिक अव्यवस्था की जड है। हम यह मान लेते है कि मनुष्य की प्रकृति केवल बौद्धिक ओर नैतिक है तथा समाज की नयी सरचना केवल वैज्ञानिक और धर्मनिरपेक्ष मानववाद के सिद्धान्त पर की जा सकती है। इसके स्वभाव मे मनुष्य स्वय को धार्मिक कन्द्र से अलग कर लेता हे। अपनी बोद्धिक शक्तियो और क्षमताओ की खोज करता है और इन्ही के आधार पर नवीन समाज का सृजन करता है।

आधुनिक विज्ञान यह मान लेता है कि जीवन एक आकस्मिक घटना के परिणामस्वरूप जड पदार्थ से उत्पन्न हुआ है। यह पूर्णतया यात्रिक नियमो द्वारा व्याख्येय है। मानव का मन केवल सायोगिक व्युत्पत्ति है। तत्वशास्त्र के अनुसार सम्पूर्ण मानव-मूल्य सापेक्ष है।

सामाजिकता के मूल मे मानवीय स्वार्थपूर्ति की भावना है। भौतिक जीवन की समृद्धि ही इन समूहो का एकमात्र लक्ष्य है। इसीलिए मनुष्य सिर्फ उपकरण मात्र रह जाता है। वर्तमान सामाजिक बुराईयो का उत्तरदायित्व धर्म पर थोप दिया जाता है। धर्म का उपहास किया जाता है। जैसा कि साण्टायना ने कहा-''**धर्म केवल एक प्रकार की कविता है।**'' क्रोचे ने कहा-''**यह केवल मिथक है**'' (This is only mythology) दुर्खीय ने कहा-''**धर्म केवल एक समाजशास्त्रीय पहलू या पक्ष है।**'' मार्क्स ने अभिव्यक्त किया-''**धर्म केवल अफीम है।**'' इस प्रकार आध्यात्मिक जीवन को एक भ्रम की सज्ञा दी गयी है। अधिक से अधिक धर्म को केवल नैतिक नियमों के रूप मे माना जा सकता है। काण्ट ने धर्म का स्वरूप निश्चित करते समय इसे कर्त्तव्य तक सीमित कर दिया था, किन्तु इस अवधारणा मे प्रार्थना तथा ईश्वर प्राप्ति के प्रयास का किञ्चित स्थान नही है।

लकिन डॉ० राधाकृष्णान महोदय का मत हे कि मानव जीवन की सोम्य आकाक्षाएँ प्रकृति के लिए अपवाद स्वरूप नही हे। धर्म एव मानवतावाद मे अन्तत कोई विरोध नही हे। मानवीय जीवन के जिस चित्र को मानवतावाद अधूरा प्रस्तुत करता है 'धर्म' उसी चित्र को पूर्णता प्रदान करता हे। जनकल्याण के जिस आदर्श से मानवतावाद अनुप्राणित हे वह तभी सार्थक हो सकता हे जब हम मानव मे विद्यमान आध्यात्मिक आकाक्षाओ को स्वीकार करे और उनकी अभिव्यक्ति के लिए निष्ठा से प्रयत्नशील हो।

जीवन के दिव्य तत्वो का निष्क्रमण कर देने से आत्मा की रूग्णता उत्पन्न होती है। ऐसे व्यक्तियो की आत्मा भी स्वस्थ नही रह सकती मानसिक शान्ति तब तक सभव नही है, जब तक पूर्णत्व की प्राप्ति न हो। प्रकृति पर विजय प्राप्त करने से सुरक्षा नही हो सकती। किसी भी प्रकार की सुरक्षा के लिए आध्यात्मिक विजय आवश्यक है। सम्पूर्ण मानव समाज अनिश्चितता के समय मे आ गया हे। आधुनिक समाज नैतिक निरूद्देश्यता और बौद्धिक अवस्था को पारगमित करना चाहता है किन्तु वेयक्तिक एकाकीपन हमे इसी अतिवादी स्थिति की ओर जाने के लिए बाध्य कर रही है। परिणामस्वरूप धार्मिक प्राचीन रूढियो एव मतान्धता का अभ्युदय हो रहा है। इसमे किसी समस्या का समाधान नही हो सकता।

"वास्तविक शक्ति एव वास्तविक प्रगति के लिए आत्मा के धर्म की आवश्यकता है। आमाश्रित धर्म जीवन के भौतिक उद्देश्य को निरूपित करते हुए भय अशाति एव नैराश्य की घटाओ का उच्छेदन कर सकता है। ऐसे धर्म से ही यथार्थ एव आदर्श का मजुलमय पाणिग्रहण सभव है।

योगी अरविन्द ने इस चेतना को वास्तविक शब्द से विभूषित किया है। हम चाहे अथवा न चाहे तो भी हमे उसकी अभिव्यक्ति की दिशा मे आगे बढ़ना ही है। स्वामी रामतीर्थ ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा था-"नियम हमें सगीन की नोक पर धार्मिक बनाता है।"[1]

निष्कर्षत कहा जा सकता है कि डॉ० राधाकृष्णन् का उपर्युक्त विचार उनके द्वारा पूर्व एव पश्चिम के विभिन्न दर्शनो की समीक्षात्मक अध्ययन प्रकृति एव स्वतोद्भूत ज्ञानगगा की त्रिवेणी से नि सृत है जिसमे मानव मूल्यो की उपेक्षा नही की गयी हे। भविष्य के प्रति आशा मुखरित किया गया है। मानवीय जीवन तथा विश्व के तात्विक स्वरूप को उद्भासित करने मे एव प्यार सद्भाव की मन्दाकिनी प्रवाहित करने मे धर्म की उपेक्षा सर्वथा अनुचित है। विश्व की मूल आकाक्षा के साथ नया आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अन्य किसी दृष्टि से सभव नही है। ऐसा डॉ० राधाकृष्णन् का दृढ विश्वास हे जिससे असहमति नही हो सकती।

1 2 नैतिक मूल्य

डॉ० राधाकृष्णन के मतानुसार नैतिकता आध्यात्मिक अनुभूति की पूर्वपीठिका के रूप मे स्वीकृत है। यह एक साधन मूल्य है जो सर्वोच्च साध्य "आध्यात्मिक अनुभूति" की प्राप्ति मे सहायक है। नैतिकता का अकुर ही आत्मपूर्णता के पुष्प के रूप मे विकसित होता है।[1] डॉ० राधाकृष्णन् आध्यात्मिक जीवन को साध्य तथा नैतिक जीवन को उसका साधन मानते है। आत्मानुभूति के लिए ऐन्द्रिक आवेगो एव भौतिक कामनाओ का नियत्रण आवश्यक है तथा साथ ही अहम्' की भावना से भी मुक्त होना अपरिहार्य है। नैतिक नियमो का पालन व्यक्ति मे आध्यात्मिक चेतना के उदय के लिए आवश्यक है।[2] डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार 'आत्मपूर्णता' की स्थिति मे भी नैतिकता की मृत्यु नही होती बल्कि नैतिक व्यक्तिवाद का समापन हो जाता है। इसप्रकार शकर के निरपेक्ष ब्रह्मवाद एव डॉ० राधाकृष्णन के दर्शन मे नैतिक मूल्यो का निषेध नहीं हुआ है।[3] डॉ० राधाकृष्णन का स्पष्ट मत है कि ब्रह्मात्मैक्य का तत्वमीमासक सिद्धान्त नैतिक मूल्यो का निषेध नहीं करता।

डॉ० राधाकृष्णन ने सर्वकर्मसन्यास की प्रवृत्ति का समर्थन नही किया है। भगवद्गीता पर भाष्य लिखते हुए वे कहते है कि मनुष्य को अपूर्णताओ से भरा विश्व प्रदान नही किया गया है। ससार मे

1 डॉ० राधाकृष्णन हिस्ट्री आफ इडियन फिलासफी वाल्यूम II, पृ० 634

2 डॉ० राधाकृष्णन दि ब्रह्म सूत्र, पृ० 154

रहन हुए कर्म आवश्यक है लेकिन कम निष्काम भाव से होना चाहिए। कामनारहित मस्तिष्क ओर जगत् के प्रति सकारात्मक दृष्टि व्यवहारिक जीवन के लिए अत्यत आवश्यक है किन्तु आत्मदमन क कठोर आदर्श और अतिशय व्यापक ब्रह्मचर्य डॉ० राधाकृष्णन द्वारा सस्तुत नही है।[1] आध्यात्मिक परिवतन के लिए स्थूल ऐन्द्रिक जगत से विकर्षण अत्यत आवश्यक है। इससे सत्य और ईमान शुचिता एव सयम दया एव क्षमाशीलता आदि गुणो का उद्भव होता है। वास्तव मे इन गुणो की जडे अहिसा या Non Violence और सत्य या truth नामक धर्मो मे है। अन्य धर्म-यथा धैर्य, न्याय, प्रेम, करुणा आत्म-सयम इनसे भिन्न न होकर व्यक्तित्व के अन्य पहलूभर है। आन्तरिक जागृति, सत्य ओर करुणामय जीवन तथा अहिसा आध्यात्मिक जीवन के प्रमुख सिद्धान्त है।[2] अहिसा एक अतिशय व्यापक सिद्धान्त है जिसका भावात्मक अर्थ प्राणि-मात्र के लिए प्रेम ओर सहानुभूति है। सत्य ओर अहिसा आन्तरिकरुण से अच्छाई से सम्बद्ध है। डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार सत्य की समझ क्षुद्र अह स उपर उठने एव शरीर तथा मन्दबुद्धि सबन्ध की सकीर्ण चहारदीवारी से निकलने की प्रेरणा देती है।[3] किन्तु इसके बावजूद डॉ० राधाकृष्णन सत्य और अहिसा को उतना महत्व नही देते जितना गाँधीजी ने दिया है। महर्षि पतजलि द्वारा प्रतिपादित पॉच प्रमुख बुराइयो यथा अज्ञान, अहकार, विषयाशक्ति घृणा ओर आत्म-प्रेम या अह-प्रेम डॉ० राधाकृष्णन को भी स्वीकार है। वे इन्हे मौलिक अज्ञान की विविध अभिव्यक्तियॉ कहते है।

1 3 वर्ण आश्रम धर्म की पुनर्व्याख्या

डॉ० राधाकृष्णन हिन्दू जीवन-दृष्टि एव आचार सहिता के हिमायती है। नैतिक सवेदनारहित या साक्षात् अतर्ज्ञान शून्य लोगो को डॉ० राधाकृष्णन रेडीमेड नैतिक-व्यवस्था का अनुसरण करने की सलाह देते है। ऐसे लोगो की हिन्दू नैतिक संविदा का पालन करने को कहते है। नैतिक हिन्दू-चेतना

---

1 डॉ० राधाकृष्णन ईस्ट एण्ड वेस्ट-सम-रिफलेक्शान्स पृ० 123

2 डॉ० राधाकृष्णन दि ब्रह्म-सूत्र पृ० 139 [illegible]

समाज को चार वर्गों और वैयक्तिक जीवन को चार आश्रमो मे वर्गीकृत करती है। इनका पालन करते हुए मनुष्य मानव-जीवन की नियति-भौतिक देह का आत्मवत परिवर्तन-धर्म की आन्तरिक शक्ति की उद्भावना और उससे आनन्द की उपलब्धि कर सकता है।[1] इनमे वर्ण-धर्म स्वरूपत सामाजिक है जबकि आश्रम-धर्म-वैयक्तिक। इस प्रकार हिन्दू जीवन-दृष्टि गुण और कर्म के आधार पर समाज को चार वर्गों के वर्गीकृत करती है- **ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र**। ब्राह्मण का धर्म है ज्ञान की खोज एव उपलब्धि उसे औरो तक पहुँचाना और जगत मे उसका प्राधान्य स्थापित करना। ब्राह्मण यथार्थ-ज्ञान का धारक है और उसका धर्म है कि शेष समाज को दिशा-बोध कराये।[2] क्षत्रिय का धर्म है समाज की सुरक्षा करना और इस निमित्त उसे न केवल शक्ति, प्रदत्त है वरन् शक्ति-प्रयोग का अधिकार भी है। शक्ति का प्रयोग नैतिक विधि से नैतिक उद्देश्य के लिए होना चाहिए। तीसरे वर्ग—वैश्य का धर्म वाणिज्य-व्यापार है। चतुर्थ वर्ग-शूद्र का कार्य समाज की सेवा है किन्तु शूद्र को निम्न दृष्टि से नही देखना चाहिए क्योकि यदि ज्ञानी अनुसधान के सुख के लिए कार्य करता है, कलाकार अपने कला-प्रमसे उत्प्रेरित होता है तो चतुर्थ वर्ग का कार्यकर्ता अपने श्रम की महत्ता से उत्प्ररणा पाता है। मानव-प्रकृति, क्षमता और रुचियो के आधार पर यह विभाजन हुआ कि व्यक्ति स्वय अपने कर्म का निर्धारण करे और इसप्रकार सामाजिक बृद्धि और लोक-कल्याण का विकास हो।

वर्णव्यवस्था पर डॉ० राधाकृष्णन के विचार एक रूप नही है। उनकी रचनाओ मे वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी तीन मत द्रष्टव्य है– हिन्दू व्यू आफ लाइफ (1926) मे इसकी प्रसशा करते हुए इसे हिन्दू चितको की बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवस्था कहा गया है। इस्टर्न धर्म एव वेस्टर्न थॉट (1939) मे वर्ण-विभाजन की जनतॉन्त्रिक प्रकृति का वर्णन करते हुए इसका दार्शनिक औचित्य सिद्ध करती है। रेलिजन एन्ड सोसायटी- (1947) मे वे इसकी कटु आलोचना करते है। यहॉ डॉ० राधाकृष्णन जाति-विभाजन' को हिन्दूओ के एक रूप विकास मे सबसे बडा बाधक तत्व मानते है, और वैयक्तिक समृद्धि नैतिक दृष्टि के सम्यक् विकास हेतु इसके उन्मूलन की सस्तुति करते है। इसकी व्याख्या करते हुए वे बताते है

---

1 डॉ० राधाकृष्णन ईस्टर्न रिलिजन्स एन्ड वेस्टर्न थॉट पृ० 351.

कि म इसके वर्तमान स्वरूप का आलोचक हूँ लेकिन जिस रूप मे इसकी स्थापना हुयी थी उसमे यह मूल्यवान था।[1]

डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार सामाजिक जीवन की ही तरह वैयक्तिक-जीवन भी चार अवस्थाओ मे विभाजित है। यथा-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एव सन्यास। यह विभाजन दिव्य जीवन तक पहुँचने का एक मार्ग है। ब्रह्मचर्य जीवन मे व्यक्ति अपने कर्तव्यो का ज्ञान प्राप्त करता था और उनके पालन एव अनुशासित जीवन जीने का प्रशिक्षण प्राप्त करता। गृहस्थ आश्रम सामाजिक कल्याण का महत्वपूर्ण आधार है। हिन्दू जीवन-दृष्टि मे विवाह एक पवित्र सस्कार है जो कि मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित है।[2] डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार हिन्दू जीवन-दृष्टि कामनाओ के बलात् दमन और उन्मुक्त भोग दोनो को अस्वस्थ मानती है। वानप्रस्थ सक्रिय जीवन से अवकाश की अवस्था है जिसमे व्यक्ति जीवन और मृत्यु के रहस्यमय पक्षो पर ध्यान केन्द्रित करता है। यह जीवन की आपाधापी से परे अरण्य के एकान्त मे जीवन के उच्चतर प्रश्नो पर सकेन्द्रण की अवस्था है। सन्यास आदर्श जीवन की अवस्था है जिसमे व्यक्ति अनाशक्त और स्थितिप्रज्ञ जीवन जीता है। आधुनिक काल मे डा० राधाकृष्णन के अनुसार इसके जीवन्त-विग्रह महात्मा गॉधी है।[3] किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि हिन्दू जीवन-दृष्टि गृहस्थ जीवन के जीवन-मूल्यो को नकारती है। वस्तुत वैयक्तिक जीवन की चारो अवस्थाए अपनी-अपनी जगह महत्वपूर्ण है और जहॉ तक ये महत्वपूर्ण है वही तक शुभ है।[4]

1 4 पुरुषार्थ चतुष्ट्य

हिन्दू मूल्य-चेतना जीवन के चार साध्यो का वर्णन करती है। डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार इनका अनुक्रम निम्नवत् है (1) **मोक्ष** (2) **काम** (3) **अर्थ** और (4) **धर्म**। मोक्ष जीवन कर चरम-मूल्य या

---

1 दि फिलासफी आफ स० राधाकृष्णन सपादक आर्थर शिलप पृ० ४३७

2 इस्टर्न रिलिजन एन्ड वेस्टर्न थाट-पृ० ३७९

3 डॉ० राधाकृष्णन : ईस्टर्न रिलिजन एन्ड वेस्टर्न थॉट, पृ-३४२

गाध्य है। यह सासारिक जीवन का त्याग नही है। यह आध्यात्मिक अनुभूति आत्मपूर्णता एव अहकार से मुक्ति है। नकारात्मक दृष्टि से मोक्ष वैयक्तिकता से स्वतत्र होना है और सकारात्मक दृष्टि से सार्वभौम अनुभूति है जो मनुष्य की आध्यात्मिक-नियति है। मोक्ष जीवनेत्तर अवस्था नही है प्रत्युत इसी जीवन म सम्यक ज्ञान से प्राप्त है। मोक्ष या निर्वाण ईश्वर के राज्य मे निवास करना है जिसकी तुलना वर्तमान जीवन की किसी अवस्था से नही हो सकता वस्तुत यह दिव्य-जीवन-लाभ है।[1] किन्तु डॉ० राधाकृष्णन वैयक्तिक मोक्ष को ही पर्याप्त नहीं मानते और सर्व-मुक्ति की पेरवी करते है। उन्होंने आत्यन्तिक मुक्ति की दो अनिवार्य अवस्थाओ का निरुपण किया है—(1) **आत्मा के अतर्ज्ञान से प्राप्त आन्तरिक पूर्णता और** (2) **सबकी मुक्ति से प्राप्त बाह्य पूर्णता।**[2]

मोक्ष ऐन्द्रिक जीवन से उपर उठने का सकेत है किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि भौतिक इच्छाओ ओर प्रवृत्तियो का एकान्तिक दमन कर दिया जाये। हिन्दू जीवन-दृष्टि मे कामनाओ की उचित परितुष्टि आध्यात्मिक जीवन मे प्रवेश हेतु सहायक है। 'काम' मनुष्य के भावनामय जीवन उसकी अनुभूतिया ओर कामनाओ का सूचक है।[3] अनाशक्त जीवन मे प्रवेश से पूर्व मनुष्य की सहजात प्रवृत्तियो की परितुष्टि आवश्यक है। इतना ही नही शक्ति और धन की कामना भी तृप्ति होनी जरुरी हे नही तो व्यक्ति तनावग्रस्त हो जायेगा। 'अर्थ' जीवन के आर्थिक एव राजनैतिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है।[4] मूर्ख व्यक्ति से धार्मिक और नैतिक जीवन की अपेक्षा व्यर्थ है। अर्थ स्वय साधन-मूल्य है जो न शुभ है न अशुभ किन्तु वैयक्तिक एव सामाजिक जीवन मे उच्चतर-मूल्योपलब्धि का साधन मात्र है।[5] **धर्म** सार्वभौम-शाश्वत् नियमो का सूचक है। धन एव अन्य लौकिक कामनाओ की

---

1 डॉ० राधाकृष्णन रिकवरी आफ फेथ पृ० 106

2 डॉ० राधाकृष्णन ब्रह्म सूत्र पृ० 219

3 डॉ० राधाकृष्णन , ईस्टर्न रिलिजन एन्ड वेस्टर्न थॉट, पृ० 353

4 डॉ० राधाकृष्णन हिन्दू व्यू आफ लाइफ पृ० 57

पूर्ति धर्मानुकूल होनी चाहिए। धर्म की अवधारणा स्पष्ट करते हुए डॉ० राधाकृष्णन लिखते है धर्म कोई धर्मनत या पूजा पद्धत्ति नही है। यह जीवन के समग्र नियमो की व्यवस्था है एक समस्त मानव की एकतान सगीत हे जिससे जीवन के उचित एव वास्तविक रहस्य का उद्भावन होता है। वास्तव म धर्म विश्व-व्यवस्था का नियामक ओर धारक है।[1]

इसप्रकार उपरोक्त जीवन-मूल्य मनुष्य की आध्यात्मिक कलात्मक आर्थिक एव नैतिक प्रकृति को अभिव्यक्त करते हे। डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार जीवन के उपरोक्त चारो साध्य (मूल्य) मानव-प्रकृति के विविध पक्षो यथा नैसर्गिक, भावनात्मक, आर्थिक, बौद्धिक नैतिक एव आध्यात्मिक प्रवृत्तियो को प्रदर्शित करते हे।[2] इससे पता चलता है कि हिन्दुत्व ने सामाजिक धर्म एव नैतिकता का निषेध नही किया हे बल्कि मानव-व्यक्तित्व मे सभी पक्षो को परितुष्ट करने का प्रयास किया है। मडन मिश्र क अनुसार यह एक रावारी का घोडा है जो हमे अपने लक्ष्य तक शीघ्रता ओर सुभीते से पहुँचा देता हे किन्तु इसके बगेर भी वहाँ तक पहुँचा जा सकता हे।[3]

1 5 नैतिकता, तत्वमीमासा एव धर्म

डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार नैतिकता की जडे तत्वमीमासा मे होनी चाहिए। दार्शनिक दृष्टि से मानव-आचार और चरम-तत्व मे गहरा सबन्ध है।[4] नैतिकता वास्तव मे मूल्यो या आदर्शो का तत्र है उसकी जडे तत्व-दर्शन मे है जो गहराई से धर्म से जुडा है। परमतत्व की तात्विक अवधारणा से नैतिकता का आविर्भाव होता है। परमतत्व की अवधारणा समस्त मानव-मूल्यो की आधारभूमि है और मूल्य की अवधारणा ही नैतिक आदर्शो की पृष्ठ-भूमि है। डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार यह प्रश्न अपरिहार्य है कि नैतिकता स्वप्न मात्र है। क्या मनुष्य अँधेरे मे अपनी ही लीक पर हल जोत रहा है

---

1 डॉ० राधाकृष्णन रिलिजन एन्ड सोसायटी, पृ० 107

2 डॉ० राधाकृष्णन् ईस्टर्न शिलिजन एन्ड वेस्टर्न थॉट पृ० 354

3 डॉ० राधाकृष्णन ईस्टर्न रिलीजन एन्ड वेस्टर्न थॉट, पृ० 382

उसका ... अतिक्रमण ... है ... का सहायक है ... असफलताओं के विरुद्ध उसकी संरक्षा करता है। डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार ईश्वर में ... परमसत्ता की स्वीकृति ... है। यही स्थिति धर्म की ... है। इसप्रकार नैतिकता और धर्म दोनो ही परमसत्ता ... पर आधारित है। इन ... की छानबीन करते हुए वे कहते है कि ऐन्द्रिक जगत से परे दिव्यजगत की दृढ धारणा या ... से धर्म की उत्पत्ति होती है और इस जगत मे नैतिकता का पालन उस दिव्य-धाम के ... पर अवलंबित है। धर्म स्वयं नैतिकता एवं मानव जीवन के नये अर्थ की निश्चितता एवं व्यापक परिप्रेक्ष्य का सूचक और ... है ... दर्शन और धर्म जुड़वा ... परमसत्ता की ... मे समर्पित है। इसे व्याख्यायित करते हुए सी० इ० एम० जाड लिखते है नैतिक प्रश्नो पर लिखा जानेवाला उनका (डॉ० राधाकृष्णन) प्रत्येक शब्द नैतिकता और धर्म के संबंध पर आधारित है ... यथार्थत उनकी विश्व के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति और ईश्वर की अवधारणा पर अवलंबित है।[3] तथापि नैतिकता और धर्म का अपनी सीमा का अतिक्रमण करके आध्यात्मिक स्तर तक पहुँचना है। आध्यात्मिक मूल्यानुभूति की प्राप्ति के लिए हमे नैतिक जीवन से ऊपर उठना ... । डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार ... इसी की खोज करनेवाला आदर्श-पुरुष ... शुभ और अशुभ की नैतिक ... आनुभविक स्तर पर भले ही अर्थवान हो परमसत्ता शुभाशुभ से परे है।[4] डॉ० राधाकृष्णन का मत है कि नैतिक-मूल्यो का आध्यात्मिक स्तर पर अतिक्रमण आवश्यक है। **ईस्टर्न रिलिजन एंड वेस्टर्न थॉट** मे वे लिखते है ज्ञान या माया के अवगुंठन से बाहर देखना मानव की आध्यात्मिक नियति है जो नैतिक शुभत्व से अधिक है। नैतिकता आत्मानुभूति की पूर्व शर्त है लेकिन इसे आध्यात्मिक पूर्णता से समीकृत नही किया जा सकता।[5]

---

1 डॉ० राधाकृष्णन आइडियलिस्टिक व्यू ऑफ लाइफ, पृ० 69

2 डॉ० राधाकृष्णन ईस्टर्न रिलिजन एन्ड वेस्टर्न थॉट पृ० 82 83

3 जोड सी इ० एम० काउन्टर अटैक फ्राम द इस्ट पृ० 151

4 डॉ० राधाकृष्णन उपरोक्त पृ० 104-5

5 डॉ० राधाकृष्णन ईस्टर्न रिलिजन एन्ड वेस्टर्न थॉट पृ०

1 6 सर्वमुक्ति की अवधारणा

डॉ०राधाकृष्णन मनुष्य मे शाश्वत-तत्व की अनुभूति को मुक्ति मानते है किन्तु वैयक्तिक मुक्ति का पर्याप्त नही गानते। उनके विचार से वेयक्तिकता का अतिक्रमण करके मनुष्य निर्वेयक्तिक शाश्वत तत्वानुभूति प्राप्त कर सकता है। पूर्णमुक्ति तभी सभव हे जब समूची सृष्टि एक-लय हो जाये। हिन्दू-जीवन-दृष्टि मे मुवित के कई स्तर हे लेकिन सर्वमुक्ति ही उसकी अतिम व्याख्या हे।[1] आत्मपूर्णता प्राप्त व्यक्ति ससार से पलायन नही करता प्रत्युत् सबकी आत्मपूर्णता के लिए प्रयास करता है। राधाकृष्णन के अनुसार पूर्व और पश्चिम के विचारक मानते हे कि ईश्वरानुभूति का अर्थ निष्क्रियता नही हे। शाकर-वेदान्त मे कर्म और ज्ञान को एकरूप नही माना गया है क्योकि कर्म द्वैत-भाव-जनक हे तथापि लोक-कल्याणार्थ कर्म-प्रवृत्त होता है।[2] डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार आत्मानुभूति के द्वारा पुर्णस्वायत्तता की प्राप्ति ही मानवता की नियति हे और यही सर्वमुक्ति है। कुछ लोग मानते है कि व्यक्तिगत-पूर्णता तो सभव है लेकिन समस्त-सृष्टि की पूर्णता असभव है। किन्तु राधाकृष्णन इससे सहमत नही है। उनका दृढ विश्वास है कि एक दिन आयेग जब सभी मानव ईश्वर-पुत्र हो जायेगे और अमरता का वैभव प्राप्त करेगे।[3] जब तक मानवता इस नियति को प्राप्त नहीं करती, पूर्णता प्राप्त लोगा का यह पुनीत कर्तव्य है कि वे ओरो के उद्वार के लिए कार्य करे।

1 7 समग्र अनुभूति की दार्शनिक व्याख्या (Philosophical explanation of Integral experience)

वास्तव मे समग्र अनुभूति का स्वरूप क्या है ? क्या यह केवल अनुभवात्मक दृष्टि है, अनुभव की अवस्था है अथवा यह हमारे अनुभवो का साध्य पक्ष है जिसे व्यवहार के योग्य बनाया जा सकता है। जैसा कि प्रो० ब्राइटमैन ने व्यक्त किया है कि "डॉ० राधाकृष्णन ने अन्त चेतना के धार्मिक महत्व

---

1 डॉ० राधाकृष्णन आयडियलिस्टिक व्यू आफ लाइफ पृ० 125

2 डॉ० राधाकृष्णन हिन्दू व्यू आफ लाइफ, वाल्यूम II पृ० 644

को अधिक मूल्यवान माना है, अपेक्षाकृत उसकी सैद्धान्तिक स्वीकृति के।"[1] डॉ० राधाकृष्णन का यह मन्तव्य उनकी महत्वपूर्ण पुस्तक 'THE HINDU VIEW OF LIFE' मे व्यक्त है। उनके अनुसार समग्र अनुभूति न केवल सेद्धान्कि चेतना है बल्कि आध्यात्मिक साधना का एक क्षण हे जिसमे यह यर्थाथत अनुभूत होती हे। सभवत उनका यह विचार इस बात की ओर इगित कर रहा है कि हिन्दू साधना पद्धति का मुख्य लक्ष्य श्रवण-मनननिदिध्यासन के द्वारा चेतना की सर्वोच्च अवस्था को यर्थाथत अनुभव करना है। उन्होने स्पष्टत स्वीकार किया है कि हिन्दू धर्म-दर्शन प्रयोग से प्रारम्भ होता है ओर प्रयोग मे ही अन्त होता है।[2]

उन्होने अपनी पुस्तक "**उपनिषदो की भूमिका**"[3] मे स्पष्ट किया है कि "श्रवण" का अर्थ है- गुरुजो से जानना और उनकी बातो को श्रद्धा से सुनना। श्रद्धा भौतिक प्रवृत्ति नही, बल्कि इच्छा-शक्ति की क्रिया हृदय की उत्कष्ठा है, वह परम तत्व के अस्तित्व की अवस्था है **'मनन'** तार्किक प्रक्रिया हे जो श्रद्धा को पक्का करती है। 'जब (मनुष्य) सुने हुए का मनन करता है तो श्रद्धा मे कुछ ज्ञान भी जुड जाता है जिससे श्रद्धा और बढती है।" उन्होने आचार्य शकर के विचारो को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि धर्म-ग्रन्ध और तर्क दोनो आत्मा की एकता को प्रदर्शित करते हे।" डॉ० राधाकृष्णन मे 'निदिध्यासन' अथवा ध्यान को उपासक और उपास्य के बीच अभेद की स्थिति कहा हे। यहा एक नीरवता होती है जिसमे आत्मा अपने आप को दिव्य के लिए खोल देती है चित्त की समस्त शक्ति अन्य सबकुछ छोडकर ध्यान के विषय पर केन्द्रित हो जाती है। जिस विचार का ध्यान किया जा रहा है उसके पूरे सुवाश को चित्त मे फैलने देते है। उपासना तक को एकात्म विचारधारा का अजस्र प्रवाह बताया गया है (समान प्रत्यय प्रबाह करणमुपासन-ब्रह्मसूत्र, 4, 1, 7,)। इस प्रकार डॉ० राधाकृष्णन् ने श्रवण-मनन-निदिध्यासन के कोरे आत्मसयम के द्वारा एकाग्रता को प्राप्त करने का साधन बतलाया है।

---

1 पॉल आर्थर शिल्प द फिलासफी ऑफ राधाकृष्णन पृ० 399

2 डॉ० एस० राधाकृष्णन, द हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ पृ० 19

डॉ० राधाकृष्णन ने आध्यात्मिक चेतना की उच्च अवस्था को समग्र अनुभूति के रूप मे प्रस्तुत किया है इस सदर्भ मे उनका यह विचार बार-बार सामने आता है जब वे यह कहते हुए प्रतीत होते हे कि ईश्वर के अस्तित्ववान होने का अभिप्राय है कि आध्यात्मिक चेतना प्राप्य है। वस्तुत इसी आधार पर उन्होने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध भी किया है। इसे आध्यात्मिक चेतना, शुद्ध आनन्द और पूर्ण चेतना भी कहते है। प्रो० ब्राइटमैन ने डॉ० राधाकृष्णन के इस मन्तव्य पर टिप्पणी करते हुए उल्लेख किया है कि 'आध्यात्मिक चेतना को इस रूप मे मानना केवल यह नही दर्शाता कि वह शुद्ध रूप से सैद्धान्तिक विचार है, बल्कि इस ब्रह्मानुभूति को आनुभविक स्तर पर सत्यापित भी किया जा सकता है।"[1] डॉ० राधाकृष्णन ने इस ब्रह्मानुभूति को यथार्थ रूप मे माना है, परन्तु प्रो० आरापुरा डॉ० राधाकृष्णन के इन विचारो के सदर्भ मे हमारा ध्यान कुछ समस्याओ की ओर ले जाते है। यह समस्याएँ मूलत तार्किक समस्याएँ है और प्रो० आरापुरा ने समग्र अनुभूति की व्यावहारिक अनुभूति पर आपत्ति उठाने के पूर्व एक सामान्य शका व्यक्त करते हुए कहा है कि क्या इस प्रकार की अनुभूति को मानने से अधविश्वास या रुढिवादिता को बढावा नहीं मिलता ?[2] डॉ० राधाकृष्णन, ने स्वामी अभयानन्द भारती के प्रश्नो का उत्तर देते समय ऐसी शकाओ का समाधान स्वत कर दिया है। वास्तव मे उनकी शका यह थी कि राधाकृष्णन का विचार दार्शनिक कम बल्कि धर्म विज्ञान अधिक है और उनके विचारो मे रुढिवादित्ता को बढावा देने का विचार अधिक है। डॉ० राधाकृष्णन यह मानते है कि यह कहना भ्रमात्मक है कि जो लोग आस्थावान है, वे धर्म विज्ञान के समर्थक है और जो लोग शका करते है वे लोग दार्शनिक है। इसके बदले डॉ० राधाकृष्णन यह सोचते है कि दर्शनशास्त्र रुढिवादी मान्यताओ का निराकरण करता है ओर विचारयुक्त आधार प्रस्तुत करता है। प्रो० आरापुरा अपने विचारो के द्वारा यह स्वीकार करते है कि डॉ० राधाकृष्णन द्वारा प्रस्तुत समग्र अनुभूति रुढिवादी विचार नही बल्कि दार्शनिक चिन्तन है। प्रो० आरापुरा ने समग्र अनुभूति को योग अनुभव के रूप मे मानने से उत्पन्न होनेवाले तार्किक समस्याओ पर विचार किया है। वे समस्याएँ निम्नलिखित है—

1 क्या धार्मिक साधनो से स्वत सिद्ध सत्ता का ज्ञान प्राप्त हो सकता है ?

2 यदि धार्मिक साधन को मान लिया जाय तो भी प्रश्न उठता है कि इसके द्वारा स्वत सिद्ध ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है ?

3 यदि समग्र अनुभूति जैसा कोई साधन मान भी लिया जाय तो क्या इस अनुभूति के विषय मे सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समस्याएँ नहीं उत्पन्न होती ?

इस प्रकार प्रो० आरापुरा ने ऐसे प्रश्नो को विचार करने के लिए प्रस्तुत किया है जो समग्र अनुभूति की व्यावहारिकता से सम्बन्धित है। डॉ० राधाकृष्णन ने निश्चित रूप से समग्र अनुभूति को एक ऐसे विषय के रूप मे प्रस्तुत नहीं किया है जिसे तार्किक आधार पर समर्थित नही किया जा सकता। उन्होने इसप्रकार के अनुभव को सभवत स्वभाववादी एव भाववादी विचारधाराओ के विरुद्ध सत्य के ज्ञान के लिए प्रस्तुत किया है क्योकि इसी के द्वारा असीमित, सार्वभौम और नित्य सत्ता का अनुभव सभव है। समग्र अनुभूति के विषय मे ज्ञानमीमासीय समस्याओ को उठाना एक सीमा का उल्लधन करना है।

डॉ० राधाकृष्णन पाश्चात्य विचारक काट के साथ इस अर्थ मे एकमत है कि सत्ता पारमार्थिक है किन्तु डॉ० राधाकृष्णन काट की अज्ञेयवादी विचारधारा से असहमत है। ऐसा प्रतीत होता है कि डॉ० राधाकृष्णन, काट के अज्ञेयवाद से परे सत्ता की व्याख्या वेदान्त की परपरा से मानना चाहते है।

डॉ० राधाकृष्णन ने दर्शनशास्त्र को बडे खुले दिमाग से समझा है। उन्होने दार्शनिक ज्ञानमीमासा और धार्मिक ज्ञानमीमासा मे भेद करने की आवश्यकता नही समझी है। इसीलिए उन्होने समग्र अनुभूति को ज्ञान माना है। प्रो० आरापुरा ने समग्र अनुभूति की दार्शनिक महत्ता बतलाने के लिए स्पष्ट किया है कि जब हम समग्र अनुभूति को अनुभवजन्य या व्यवहारिक मानते है तो इसका यह अर्थ नही है कि इसके द्वारा मुक्ति का मार्ग सुलभ होता है बल्कि यह हमे जीवन मे ज्ञान और समग्र के बीच द्वन्द्व को सुलझाने मे सहायक होता है। इसलिए उन्होने समग्र अनुभूति को जीवन-

दर्शन की सज्ञा दी है। डॉ० राधाकृष्णन ने समग्र अनुभूति की परिकल्पना वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को ठोस आधार प्रस्तुत करने के लिए किया है क्योकि इसी आधार पर धार्मिक अनुभूति की मान्यता पुष्ठ होती है। यह धार्मिक अनुभूति किसी विशेष धर्म की अनुभूति न होकर सार्वभौम अनुभूति के रूप मे मानी जा सकती है। यह अनुभूति ही हमे सनातन धर्म के "वसुधैव कुटुम्बक" तथा 'ब्रह्मात्मैक्स" के साथ-साथ भ्रातृत्व की भावना के सामाजिक आदर्श को भी प्रस्तुत करती है।

अध्याय 2

श्री अरविन्द (1873-1950)

भारतीय स्वतत्रता यज्ञ का ऋत्विक आचार्य यदि विवेकानन्द को कहा जाय तथा मत्र द्रष्टा ऋषि बकिमचन्द्र को माना जाय तो निसदेह श्री अरविन्द उस यज्ञानुष्ठान के प्रमुख पुरोधा कहे जायेगे।

दार्शनिक दृष्टि से श्री अरविन्द का दर्शन प्राचीन वेदान्त दर्शन की ही एक नवीन व्याख्या है। जिस नव्य वेदान्तवाद का शिलान्यास स्वामी विवेकानन्द ने किया था- उसके मुख्य स्थापक निसदेह श्री अरविन्द ही है। श्री अरविन्द के ही शब्दो मे, **"हमारा विचार एक समन्वयात्मक दर्शन को खोज निकलना है जो आगे आनेवाले नवीन युग के विचार मे एक मूल्य बन सके।"**[1]

तत्त्व-सिद्धान्त

श्री अरविन्द के अनुसार परमतत्त्व 'सच्चिदानन्द' है। सच्चिदानन्द एक और अद्वितीय तत्व है जिसमे किसी प्रकार का द्वैत नही हो सकता। यह नित्य, शुद्ध और पूर्ण है। यह निर्विशेष तथा अनिवर्चनीय है। सच्चिदानन्द ब्रह्म है, तथापि यह अद्वैतवादियो के ब्रह्म जैसा नही है क्योकि श्री अरविन्द के लिए जगत् भी सत्य है और जगत् ब्रह्म से अभिन्न भी है। प्रत्येक जीव नाम-रूप की सीमा के अन्दर उसी सच्चिदानन्द का ही आत्म-प्रकाशन है। सच्चिदानन्द सगुण भी है और निर्गुण भी, वैयक्तिक भी है और निर्वैयक्तिक भी। यह पूर्ण भी है और विकासशील भी है। यह सत्ता भी है और सभूति भी है। यह सत् भी है और असत् भी। पुन यह सत् और असत् से परे भी है। चूँकि वह अपने को इस चराचर विश्व मे अभिव्यक्त करता है, इसलिए वह सगुण, वैयक्तिक, असत् विकासशील और सम्भूति है, परन्तु स्वरूप मे वह निर्गुण, निर्वैयक्तिक, सत्, पूर्ण एव शुद्ध सत्ता (Pure being) है। वस्तुत सच्चिदानन्द न तो एक है न अनेक, न निर्विशेष, न सविशेष और न सगुण है, नही निर्गुण,

वह मात्र शुद्ध सत्ता है तथा सबसे परे शुद्ध सत् (Pure being beyond all) है। अरविन्द के अनुसार चेतना मे अपने को विस्तृत करने की शक्ति है और यह विस्तार इस सीमा तक विस्तृत हो सकता है कि 'अज्ञेय' से भी एक प्रकार का सम्बन्ध स्थापित कर ले। वेदान्त इस बात को स्पष्ट नही कर पाया है। वेदान्त के 'ब्रह्म' की अवधारणा की समझ एक जादूगर के करिश्मा के समान प्रतीत होती है जो हमारे लिए भ्रम का ताना-बाना बुने हुए है। श्री अरविन्द कहते है कि 'अज्ञेय' के विषय मे जो अस्पष्टता छोडी गयी है, उसी के कारण इस प्रकार की धारणा बनती है। यहॉ अरविन्द के मतानुसार यह आत्मसात् करना आवश्यक है कि **'अज्ञेय' अज्ञेय है- किन्तु चेतना मे** एक ऐसी अनुभूति होती है कि 'कुछ है'। यह विचार काण्ट के **'अपने में वस्तु'** (Things-in-itself) की अवघारणा के समान होते हुए भी पूर्णतया वैसा नही है। काण्ट ने 'ज्ञानात्मक चेतना' और 'वैचारिक उडान' मे अन्तर किया है। 'अपने मे वस्तु' ज्ञानात्मक चेतना के सर्वथा परे है तथा विचार से इसका जो चित्र प्रस्तुत होता है, वह भी अनिवार्यत दोषपूर्ण है। श्री अरविन्द ऐसा भेद नही करते क्योकि इनका लक्ष्य 'ज्ञात' तथा 'अज्ञात' को दो पृथक कोटि मे रखना नहीं है, बल्कि उसके मध्य की दूरी को कम करना है। श्री अरविन्द का कहना है कि प्रारंभ मे तो इस 'कुछ' इस 'व्यापक सत्' मे एक प्रारभिक आस्था रखनी ही है। उनका कहना है कि हमारी चेतना तथा हमारे ज्ञान के सामान्य ढग से सिद्ध है कि प्रारम्भ मे तो 'आस्था' रखनी ही है। इस आस्था के साथ इस पथ पर अग्रसर होने पर ही 'ज्ञान' की पूर्ण अनुभूति सम्भव है।[1]

अद्वैत वेदान्ती श्रीमद्शकराचार्य की तरह श्री अरविन्द ब्रह्म या परमसत्ता को सच्चिदानद की सज्ञा देते है। सच्चिदानद के अन्तर्गत तीन पहलू है- **सत्+चित्+आनद**। इसका तात्पर्य यह नही है कि परम सत् तीन विभिन्न तत्त्वो का एक यौगिक है। वस्तुत ये तीनो पहलू सयुक्त है। जो सत् है वह चित् है और जो चित् है वह आनन्द भी है, तथापि सच्चिदानद के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इनका पृथक-पृथक विवेचन अपेक्षित है—

---

1 Sri Aurovindo, "The Life Divine, p 33

"This creed is given indeed to humanity to support it on its journey, until it arrives at a stage of development when

2 1 सत्

इस दृश्यमान जगत मे हमे सर्वत्र गति ही गति दृष्टिगोचर होती है। इन नाना प्रकार की गतियो का कोई-न-कोई आधार अवश्य होना चाहिए (कोई एक सत्त्ता अवश्य होनी चाहिए) जो गतिमान जगत का आधार बन सके। गति के इस कारण–कार्य श्रृखला मे आगे बढते हुए अन्तत अनावस्था दोष से बचने के लिए किसी मूल सत्ता को स्वीकार करना पडता है जो गतिमान जगत् का मूल कारण है और इसका कोई कारण नहीं है और यही सत्ता 'सत्' है।

शकराचार्य की भॉति स्पिनोजा का भी मन्तव्य है- परमसत् का कोई भी वर्णन वास्तविक वर्णन नही हो सकता है। बुद्धि का कोई भी निर्वचन यथेष्ट नहीं हो सकता क्योकि बुद्धि की कोटियॉ परमसत् को सीमित कर देती हैं। इसलिए परमसत् अनिर्वचनीय है। श्री अरविन्द भी शकराचार्य के इस मत से पूर्णतया सहमत है। तभी तो वे कहते है 'शुद्ध सत्' का फलत सच्चिदानद का भी पूर्ण विवरण दिया ही नही जा सकता। हमारे विवरण के ढग वैचारिक कोटियॅा है जो 'मानस' के रूप है और मानस निम्नतर गोलार्द्ध (मानस, मन, प्राण, जडत्व) की अन्तिम अवस्था है जो उच्चतर गोलार्द्ध शुद्धसत्, चित् शक्ति, आनन्द, अतिमानस का पूर्ण विवरण देने मे असमर्थ है। इसी कारण यह विवरण वैचारिक विवरण है- जो पूर्णतया हो ही नही सकता।

2.2 चित् शक्ति—

ब्रह्म मात्र शुद्ध सत्ता नही है बल्कि वह चित् शक्ति भी है। विश्व की सृष्टि इसी शक्ति के कारण हुई है। यह शक्ति शुद्ध सत् मे अन्तर्व्याप्त है। शक्ति को शुद्ध सत् से पृथक् नहीं किया जा सकता। सत्ता और शक्ति मे कोई विरोध नही है। शक्ति सत्ता मे समाहित है।[1] शिव और काली, ब्रह्म और शक्ति एक है, दो सत्ताएँ नहीं है। श्री अरविन्द ने इस चित् शक्ति को "माता" की सज्ञा दी है।

---

1 Sri Aurobindo The Life Divine, p 104, Part-1

Shiva and Kali, Brahman and Shakti are one and not two are separable.

इसके स्वरूप का वर्णन करते हुए श्री अरविन्द कहते है "माता दिव्य शक्ति है, जो ससार का क्रियात्मक सिद्धान्त है। परन्तु जब तक वह अपरार्द्ध जगत, निम्नतर जगत् मे कार्य करती है तब तक अपनी योगमाया के पर्दे मे रहती है। जगत् मे जो कुछ होता है उस सब मे, सब कार्यो के पीछे भगवान अपनी शक्ति के द्वारा स्थित रहते है, किन्तु वे अपनी योगमाया से ढके रहते है और इस अपराप्रकृति मे जीव के अहकार द्वारा कार्य करते हैं। मातृ-सत्ता के तीन रूप है- **परात्पर, वैश्व और व्यष्टि**। वे परात्पर आद्या परमशक्ति के रूप मे सभी लोको के ऊपर खडी रहकर परमपुरूष के नित्य अव्यक्त रहस्य के साथ सृष्टि का नाता जोडती है। वैश्व, सम्पूर्ण ब्रहमाड मे ओतप्रोत महाशक्ति के रूप मे वे इन सभी सत्ताओ को रचती है। इन सब अगणित प्रक्रियाओ और शक्तियो को धारण करती है और उनमे समाई रहती है, वे ही आधार बनती है और उनका सचालन करती है। व्यक्तिगत व्यष्टिगत रूप मे वे अपनी सत्ता के इन दोनो अधिक विशाल रूपो की शक्ति को मूर्त रूप देती है, उन्हे जीवन देती है और हमारे निकट लाती है। वे मानव व्यक्तित्व और दिव्य प्रकृति के मध्य की कडी बनती है। माता ही सब कुछ है क्योकि सभी चीजे दिव्य चित् शक्ति के अश और भाग है। माता जिस बात का निश्चय करती है और जिसके लिए परम पुरुष स्वीकृति देते हैं। उसके अतिरिक्त यहॉ या अन्यत्र कुछ भी नही हो सकता। परम पुरुष की प्रेरणा से माता अपने सर्जनशील आनन्द मे क्षीण रूप प्रदान करके चीजो को देखती और आकार देती है। उसके अतिरिक्त और कोई चीज रूप धारण नही कर सकती।[1]

यहा पर श्री अरविन्द का जडवादियो से मतभेद स्पष्ट है। जडवादियो ने चेतना को भौतिक तत्त्व की उपज माना है। श्री अरविन्द का विचार है कि भौतिक पदार्थ वास्तविक अर्थ मे भौतिक नहीं है बल्कि चित् शक्ति की उपज है। चेतना मात्र जीव मे ही नहीं बल्कि भौतिक पदार्थ मे भी है। अन्तर यह है कि भौतिक पदार्थ मे छिपे रूप मे वर्तमान रहती है, जीव मे प्रकाशित रूप मे रहता है।

श्री अरविन्द इस स्थल पर पाश्चात्य दार्शनिक लाइब्नीज के समर्थक प्रतीत होते है। लाइब्नीज का विचार है, 'जड' नामक कोई वस्तु नही है। जिसको जड समझते है वह गुप्त या सुषुप्त चैतन्य है। वह चैतन्य ही है, किन्तु प्रकट नही है, सोया हुआ है, खोया हुआ सा है।[1]

2 3 आनन्द

श्री अरविन्द परमसत् को सत् चित् के साथ-साथ आनन्द स्वरूप भी मानते है। उनका मन्तव्य है कि निरपेक्ष सत् का आनद असीम है। इसकी अभिव्यक्ति के अनत रूप हो सकते है। जो भी है जो क्रियाएँ होती है। उन सबो मे आनन्द का रूप विद्यमान है। यहॉ पर एक प्रश्न यह पैदा होता है कि यदि ब्रह्म पूर्ण और निरपेक्ष है तो उसे अपने को विभिन्न रूपो मे, सृष्टि मे व्यक्त करने की आवश्यकता ही क्या है ? ऐसी क्या विवशता आ जाती है कि उसमे निहित शक्तियो को व्यक्त होना ही पडता है। सृष्टि का उद्‌भव ब्रह्म के आनद या आह्लाद के कारण होता है। विश्व सत्ता शिव का आनदातिरेक नृत्य है। इसका एक मात्र उद्‌देश्य है, नृत्य का आनद।

ब्रह्म की निरपेक्षता का अर्थ है- चित् सत्ता का असीम आनद। सच्चिदानद का आनद किसी भी स्थिति मे अपनी परमात्म सत्ता के स्थिर और गतिहीन आधिपत्य मे नहीं होता। जिस प्रकार इसकी चित् शक्ति अपने आपको असख्य रूपो के जगत मे प्रक्षिप्त करती है उसी प्रकार इसका आत्मानद अपने आपको असीम विविधताओ से पूर्ण जगत मे प्रकट करता है। अपने आत्मानद की इस असीम गति और विभेद का योग ही इसका सर्जनात्मक चित् शक्ति की क्रीडा का उद्‌देश्य है।[2]

2 4 सृष्टि का स्वरूप

परमसत् की आह्लाद पूर्ण अभिव्यक्ति ही सृष्टि है। एक ओर तो यह परात्म का जगत् के रूपो मे अवतरण है तथा दूसरी ओर यह जगत के रूपो का उच्चतर रूपो मे आरोहण है। इसप्रकार

---

1 शर्मा चन्द्रधर– पाश्चात्य दर्शन, मनोहर प्रकाशन जतनवर वाराणसी 1982 पृ० 109

2 एस० के० मैन– अरविन्द दर्शन की भूमिका, अनु०- अजनी कुमार सिह विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी पृ० 13

सृष्टि अवतरण तथा उत्थान की प्रक्रिया है। इस उत्थान प्रक्रिया को श्री अरविन्द विकास-प्रक्रिया की सज्ञा देते है। इसप्रकार जहाँ शकर जगत् को मिथ्या या भ्रम कहते है वहाँ अरविन्द जगत को सत् मानते हुए कण-कण मे परमचेतना के अस्तिव को स्वीकृति प्रदान करते है। प्रकृति या जगत् के क्षुद्र कणो मे भी चेतना का प्रकाश पाया जाता है भले ही यह प्रकाश सुषुप्तावस्था मे क्यो न हो। वास्तव मे विकास और कुछ नही चेतना की शक्ति का अभिव्यक्त सत्ता मे ऊर्ध्वगमन है, जिससे अभिव्यक्त सत्ता जो अब तक अनभिव्यक्त है, उसमे अनभिव्यक्त सत्ता मे एक महन्तर तीव्रता के साथ ऊपर उठ सके अर्थात् जडत्व से जीवन मे, जीवन से मन मे, मन से आत्मा मे अभिव्यक्त हो सके।[1]

डॉ॰ हरिदास चौधरी अपने ग्रन्थ "इटिग्रल फिलासफी आफ अरविन्द मे श्री अरविन्द के विकास सिद्धान्त की विशेषताओ को स्पष्ट करते हुए कहते है कि विकास सयोग की अध्यक्षता मे चलने वाला पदार्थ और गति का कोई अधिकाधिक जटिल होता हुआ सरूपण मात्र नही है। न वह असख्य वर्षो पूर्व गढी गयी ऐसी श्रृखला की खड-खड है, जो किसी अति ब्रहमाडीय दिव्य मन की अध्यक्षता मे हो रही है और नही वह शून्य मे से अचानक नये गुणो और अपेक्षाकृत श्रेष्ठतर मूल्यो का क्रमश प्रकटन ही है। सम्भवत विकास अचेतनता के अपरिचित समुद्र मे विश्व आत्मा की सृजनात्मक साहसिक यात्रा है जिसका लक्ष्य है सत्ता मे निहित अनत सम्भावनाओ को भौतिक परिस्थितियो मे अनत रूप से अभियक्त करना।

श्री अरविन्द के विकास-सिद्धान्त की तीन मुख्य विशेषताये है।

1 विस्तारण

2 ऊर्ध्वीकरण

3 समग्रीकरण

जैसे ही विकास की प्रक्रिया आरम्भ होती है भूत से वह अपने को विभिन्न रूपो मे प्रस्फुटित करती है। सरल से मिश्रित रूप मे प्रस्फुटित होती है। देह के संगठित, सूक्ष्म और जटिल हो जाने

---

1 वही पृ०

पर उससे जीवन प्रकट होती है। इसी प्रकार जब जीव-शरीर अधिकाधिक जटिल हो जाता है तब मन प्रकट होता है।

उर्ध्वीकरण का अर्थ फैलाव या विस्तार नही है बल्कि चेतना का एक स्तर से दूसरे स्तर पर आरोहण है। यथा-जब जीव भूत से उत्पन्न होता है तो वैसी स्थिति मे भूत जीव के स्तर तक विकसित होता है। चेतना जो भूत मे छिपे हुए रूप मे रहता है विकसित होकर जीव मे अभियव्क्त होता है। समग्रीकरण की विशेषता यह होती है कि विकास की उपरोक्त प्रक्रिया मे किसी तत्व का विनाश नही होता है। जब निम्नतर सत्ता का उच्चतर सत्ता मे रूपान्तरण होता है तो निम्नतर सत्ता का विनाश नही होता बल्कि वह उच्च स्तर से उठकर अनुप्राणित और सस्कारित हो जाता है। यथा-जड पदार्थ से जीवन के प्रकट होने पर जड पदार्थ नष्ट नहीं हो जाता और न ही मन के प्रकट होने पर जीवन नष्ट होता है। वरन् उच्चतर तत्व के नष्ट होने पर निम्नतर तत्व का सशोधन, परिष्कार तथा उद्धार हो जायेगा।

यहॉ श्री अरविन्द की विकासवादी दृष्टि तथा अन्य प्राच्य और पाश्चात्य विकासवादी दृष्टियो मे भेद सुस्पष्टत नजर आता है। सामान्य विकासवादी दृष्टि इस तरह है कि वह केवल निम्नतर से उच्चतर स्तर की ओर आरोहण करता समझती है। इस दृष्टि की तुलना उस सेना से की जा सकती है, जो अपने सगठित आधार से बिना कोई सबध रखे आगे बढती। हम श्री अरविन्द के विकासवादी दृष्टि की तुलना उस सेना से कर सकते है जो पूरी शक्ति के साथ अपने आधार से पूरा तालमेल (सबध) बनाये हुए आगे बढती है। ऐसा विकास जो सत्ता के केवल किसी एक भाग को अन्य दूसरे भागो से अलग करके विकसित (उन्नत) करता है। वह विकासवादी दृष्टि से उसी प्रकार कम महत्व का है जिसप्रकार सैन्य-दल की दृष्टि से शत्रु क्षेत्र मे आगे जानेवाली सेना की वह टुकडी होती है जो अपनी मुख्य सेना से अपना कोई सम्बन्ध बनाये रखने का कोई प्रयास नही करती।[1] श्री अरविन्द की सम्पूर्ण विकास-प्रक्रिया को निम्नलिखित चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

---

1 वही, पृ० 49

विश्व-प्रक्रिया

ब्रह्म	१	सत्	८	ब्रह्म
अवरोहण	2	चित्	7	
	3	आनद	6	
		सच्चिदानद		
	4	अतिमानस	5	
	5	मानस	4	
	6	आत्मा	3	आरोहण
	7	जीवन	2	
	8	भौतिक वस्तु (जड)	1	

वस्तुत विकास का प्रारम्भ जड पदार्थ से होता है क्योकि पदार्थ के स्तर तक जाने पर परम चैतन्य को यह अनुभूति होती है कि आवरण या प्रच्छन्नता की प्रक्रिया अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी है। अत स्वय चेतन ही पदार्थ को विकसित होने के लिए प्रेरित करता है। जिसके परिणामस्वरूप जीवन का उदय होता है। जड पदार्थ मे चैतन्य का प्राकट्य सर्वप्रथम जीवन के माध्यम से होता है। तत्पश्चात चैतन्य स्वय को वनस्पति जगत मे अभिव्यक्त करता हुआ पशु जगत् मे घूमता है। वहाँ पर वह अधिक स्वतन्त्र हो जाता है एव सवेदनशील शरीरधारी प्राणी मे अपनी मानसिकता को प्रकट करता है। किन्तु परमचेतना इस अवस्था मे भी पूर्णत सन्तुष्ट नहीं हो पाता। अत' वह और भी ऊपर आरोहण करता है एव स्वय को स्वचेतन, विश्लेषण प्रधान एव विवेकशील मानव मन मे व्यक्त कर देता है।

विकास का अगला चरण मानस का अतिमानस पर आरोहण है। परन्तु यह आरोहण रूपान्तरण की विविध प्रक्रिया द्वारा ही सम्पन्न होगा। तीनो प्रक्रियाएँ निम्नवत् है-

(I) **आत्मिक परिवर्तन**

(II) **आध्यात्मिक परिवर्तन**

(III) **मानसोपरि परिवर्तन**

आत्मिक परिवर्तन का तात्पर्य हमारे मानस या आत्मा को छिपाये रखने वाले पर्दे का हटना हे। यह आत्मा मनस जीवन और शरीर को प्रयोग करता है। परन्तु स्वय इसकी सीमाओ से अप्रभावित रहता है। श्री अरविन्द हमारी सच्ची आत्मा के उद्घाटन पर अत्यधिक बल देते है। वह कहते है कि **''ससार का महारोग यह है कि मनुष्य अपनी यथार्थ अन्तरात्मा को नहीं पा सका।**[1] आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द कहते हैं **''यह वह ज्योति-शिखा है, जो कि भगवान से उत्पन्न होती है और अज्ञान के भीतर अपने ज्योतिर्मय स्वरूप में निवास करती है और जब तक वह अज्ञान को ज्ञान की ओर प्रवृत्त करने** मे समर्थ नहीं हो पाती तब तक उसके भीतर बर्धित होती रहती है। यह हमारे भीतर छिपा हुआ साक्षी और नियन्ता है, गुप्त पथप्रदर्शक है। इसे सुकरात ने डेमन (यक्ष) कहा है, यही रहस्यविदो (योगियो) की अन्तज्योति या अन्तर्ध्वनि है। यह हममे भगवान का वह अविनाशी स्फुलिग है जो कि जन्म-जन्मान्तरो मे नित्य विद्यमान और अविनाशी रहता है बुढापा रोग और मुत्यु आदि विकार इसका स्पर्श नही कर सकते।[2]

आध्यात्मिक परिवर्तन का अर्थ है हमारे अन्दर एक उच्चतर प्रकाश का अवरोहण। आध्यात्मिक परिवर्तन द्वारा हमे असीम सत्ता का स्थायी बोध होने लगता है। इस अवस्था का वर्णन करते हुए श्री अरविन्द कहते है - दिव्य सत्ता की घनिष्ठ समीपता उसके जगत् के ऊपर हमारे ऊपर और प्राकृतिक

---

1 Sri Aurobindu The Life Divine, p 338

2 वही पृ० 344

तत्वो के ऊपर शासन हमारे भीतर और हर जगह सक्रिय उसकी शक्ति असीम की शाति और उसका आनद ये सब अब हमारे भीतर मूर्त और स्थायी हो जाते है समस्त दृश्यो और रुपो मे सनातन का परमसत्ता का दर्शन होता है। प्रत्येक ध्वनि मे उसी का नाद सुनाई पडता है। प्रत्येक स्पर्श मे उसी का अनुभव लगता है।[1] श्री अरविन्द की यह रहस्यात्मक अनुभूति सतकवि कबीर की उस परात्पर अनुभूति के सदृश है जिसमे कबीर को प्रकृति के प्रत्येक उपादान मे अपने लाल (आत्मा) की लाली ही सर्वत्र नजर आती है-

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।

लाली देखन मै गई, मैं भी हो गयी लाल।।

अतिमानसिक परिवर्तन वह परिवर्तन है जो हमारे अतिमन तक आरोहण ओर तदनुकूल अतिमन के हमारे भीतर अवरोहण द्वारा सम्पन्न होता है। श्री अरविन्द का मन्तव्य है कि विकास के प्रत्येक चरण मे परमसत्ता का अवरोहण आवश्यक है। बिना उसके अवरोहण के निम्नतर सत्ता का उच्चतर सत्ता मे रुपान्तरण नहीं हो सकता। यथार्थ रुपान्तरण के लिए ऊपर से एक सीधा और अनावृत हस्तक्षेप होना आवश्यक है। इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि निम्नतर चेतना पूर्णतया अपने आपको रुपान्तर के अधीन और समर्पित करे दे अपने आग्रह को समाप्त कर दे उसमे एक ऐसी इच्छा उत्पन्न हो जाय कि कर्म करने का उसका पृथक् विधान रुपान्तरण के द्वारा पूर्णतया नष्ट कर दिया जाय और हमारी सत्ता पर उसके समस्त अधिकार लुप्त हो जाये।[2] इसका अर्थ केवल यह है कि यदि हमारा आधार अति मानसिक प्रकाश को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत नहीं है तो यह अवतरण के बाद पुन वापस हो सकता है। और इसी कारण इस उच्चतर प्रकाश के प्रति हमारे मन प्राण और शरीर का एक पूर्ण समर्पण आवश्यक है। अरविन्द के अनुसार अति मानसिक परिवर्तन हमारी मानसिक अवधारणा से इतना मौलिक रुप से भिन्न है कि मानसिक भाषा की सहायता से

---

1 वही पृ० 946

2 वही पृ० 959

अतिमानसिक परिवर्तन का वर्णन करना बिल्कुल असभव है। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अतिमानसिक परिवर्तन विश्मयकारी ऐश्वर्य और महानता के नये जीवन का सूत्रपात करेगा। यह एक नये जन्म दिव्य जन्म का सूचक होगा। उल्लेखनीय है कि मानस से अतिमानस की अवस्था की प्राप्ति एकाएक नही हो जाती बल्कि दोनो के मध्य एक क्रम है, कुछ सोपान है। मानस के द्वारा उच्चतर मानस प्रदीप्त मानस अन्तदृष्टि व्यापक मानस की अवस्था पर पहुँचने के बाद ही अतिमानरा की प्राप्ति सभव है।

2 5 अतिमानस की अवधारणा

श्री अरविन्द द्वारा प्रतिपादित विश्व-विकास प्रक्रिया मे जडतत्व, जीवन आत्मा और मानस अपेक्षाकृत निम्नतर सत्ताये है जबकि सच्चिदानद उच्चतर गोलार्द्ध की सत्ता है। यहॉ पर एक प्रश्न यह पैदा होता है कि जो प्रक्रिया निम्नतर गोलार्द्ध की प्रक्रिया है वह एकाएक उच्चतर गोलार्द्ध मे कैसे प्रवेश कर सकती है ? श्री अरविन्द का विचार है कि इन दोनो के मध्य एक ऐसी सत्ता का होना आवश्यक है कि जो इस दोनो के मध्य सम्बन्ध स्थापित कर सके। इस माध्यम के लिए यह आवश्यक है कि एक ओर तो वह अपने स्वरूप मे सच्चिदानद के समान ही हो, अन्यथा वह उच्चतर गोलार्द्ध से सम्पर्क रख ही नही सकता, दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि यह निम्नतर गोलार्द्ध के श्रेष्ठतम विकसित रूप-मानस के सर्वथा विपरीत या उसका विरोधी नही है। यही माध्यम अतिमानस है। **श्री अरविन्द ने अतिमानस को दो रूपो मे समझाने का प्रयास किया है-**

(i) **सत् की चेतना के रुप में अतिमानस** - वह आध्यत्मिक तत्व जिसे सच्चिदानद की पूर्ण चेतना है।

(ii) **मानस के चरम लक्ष्य के रुप में अतिमानस चेतना का स्तर मानस चेतना से ऊॅचा है। मनस् ज्ञान का साधन नहीं है। उसके द्वारा हम ज्ञान की ओर अग्रसर होते है। मनस् ऐसी शक्ति नहीं है जो सच्चा ज्ञान प्रदान करे और जीवन के अस्तित्व को सही निर्देश दे सके। मनस् एक सीमित शक्ति है। श्री अरविन्द के अनुसार मनस् का कार्य विभाजन**

का है तथा सत्य को अगो मे बॉटकर देखने का है[1] जबकि अतिमानस का महत्वपूर्ण कार्य है – विरोधी पहलुओ को एक सूत्र से बॉधना।[2]

अतिमानस चेतन शक्ति के रुप मे वास्तविक जीव एव जगत की अभिव्यक्ति करता है। यह शून्य से उत्पन्न नही हुआ है और न तो शुन्य की सर्जना करता है। यह एक चेतन सत्ता है जो विविध रुपो मे अभिव्यक्त होता है। इस सत्ता के स्वरुप को सुस्पष्ट करते हुए अरविन्द कहते है कि यह सच्चिदानद से भिन्न नही है क्योकि यह सत् भाव है। सच्चिदानद की चेतना है किन्तु इसमे अभिव्यक्ति की भी शक्ति है। अभिव्यक्ति का अर्थ है "मूलभाव का एक प्रकार का विभेदन -"उसके अपने मूलरुप का अनेक रुपो मे व्यक्त होना। यह व्यक्त रुप उस सत् का ही रुप है - लेकिन वह अभिव्यक्त है। अत उसकी प्रतीति सत् से भिन्न है। वह प्रतीति सृष्टि की प्रतीति है। मानस के चरम लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए, अतिमानस के स्वरुप को स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द कहते हैं कि मानस मे अतिमानस की तरफ उठने की तत्परता है। इससे प्राप्त ज्ञान आशिक एव सतही स्तर का है, किन्तु उनमे भी एकत्व को प्राप्त करने की उत्सुकता है। इकाइयॉ स्थापित करने की प्रवृत्ति है। इससे यह सकेत मिलता है कि मानस मे भी अपूर्ण रुप मे अतिमानस की शक्ति ही कार्यरत है। यदि अतिमानस किसी-न-किसी रुप मे किसी आवरण मे मानस मे अवतरित न हो तो मानस मे अतिमानस की ओर उठने की प्रवृत्ति ही नही जाग सकती।

निष्कर्षरुपेण कहा जा सकता है कि अतिमानसिक सत्ताये आध्यात्मिक पुरुष की चरम परिणति होगी। अतिमानसिक सत्ताये एक सार्वभौमिक आध्यात्मिकता से सचालित होगी। सभी सत्ताये अतिमानसिक सत्ताओ के लिए आत्मरुप होगी और चेतना की सारी शक्तियॉ और मार्ग अतिमानसिक

---

1 वही पृ० 178–179 भाग–1

"Mind is not a faculty of knowledge nor an instrument of omniscience It is a faculty for the seeking of knowledge for expressing as much as it can gain for it in certain from of a relative thought and for using it towards certain capacities of action '

2 S.K Mitra— Introduction of the philosophy of Sri Aurobindo, p 29

सत्ताओ की सार्वभौमिकता की शक्तियॉ और मार्ग होगे। अतिमानसिक सत्ताये जगत मे और जगत के लिए होगी लेकिन वे अपनी चेतना मे जगत का अतिक्रमण करने वाली भी होगी। अतिमानसिक सत्ताये सार्वभौमिक होते हुए भी सृष्टि के नियमो से स्वतन्त्र होगी। और वैयक्तिक होते हुए भी पृथककृत वैयक्तिकता की सीमाओ से मुक्त होगी।

अतिमानसिक सत्ता मे वैश्वचेतना होगी, इन्द्रिय सवेदना होगी भावना होगी, जिसके फलस्वरुप सारा वस्तुनिष्ठ जीवन उसके लिए आत्मनिष्ठ अस्तित्व का जीवन बन जायेगा और जिसके द्वारा वह सभी रुपो मे भगवत् उपस्थिति को उपलब्ध करेगा, प्रत्यक्ष करेगा प्रतीति करेगा, देखेगा और सुनेगा। वह समस्त पदार्थो और क्रियाओ को अपनी विशाल आत्मसत्ता के रुप मे अनुभव करेगा, उनका इन्द्रियसवेदन करेगा उन्हे देखेगा, सुनेगा और उनकी प्रतीति करेगा।[1]

2 6 दिव्य जीवन

श्री अरविन्द के अनुसार मानव की परम भवितव्यता मात्र अतिमानस के स्तर को प्राप्त कर लेना नही है बल्कि दिव्य जीवन की प्राप्ति है। "दिव्य जीवन" वह जीवन होगा जहॉ के सभी मानव ज्ञानपुरुष होगे। "दिव्य जीवन" का अर्थ है धरती पर पूर्णता का जीवन, ईश्वरत्व रुप का जीवन। यह जीवन सीमित चेतना का जीवन नहीं होगा- इस जीवन मे चेतना, शरीर तथा मानस के घेरे से बॅधी नही रहेगी बल्कि यह पूर्ण ज्ञानात्मक चेतना रहेगी। दिव्य जीवन के स्वरूप का विवरण प्रस्तुत करते हुए श्री अरविन्द "लाइफ डिवाइन" मे कहते है-हममे प्रकृति का लक्ष्य यही है कि हम पूर्णता मे अस्तित्ववान रहे।[2] इस विचार के विश्लेषण से निम्नलिखित विशेषताये उभर कर सामने आती है—

(1) सामान्य रुप मे व्यक्ति शरीर तथा शारीरिक धर्मो मे इतना आसक्त हो जाता है कि उसे अपने दिव्य स्वरुप का ज्ञान नही हो पाता है। वह कचन-कामिनी के भोग विलास मे

---

1 वही पृ०–65

अपना जीवन समाप्त कर देता है। परन्तु दिव्य जीवन का अर्थ है, अपनी सत्ता के विषय मे पूर्णरुप से सचेतन होना। हमारा एकमात्र अपना स्व (स्वरूप) वह है जो हमारे भीतर है इस उच्चतम स्व के जो कि हमारा सच्चा और दिव्य स्वरूप है।

(2) पूर्ण रूप मे होने के प्रथम अर्थ के बाद द्वितीय अर्थ के रूप मे कहा जा सकता है कि इस अवस्था मे आत्म का अपनी शक्तियो, कार्यो, एव कार्य क्षमताओ पर पूर्ण नियन्त्रण रहेगा क्योकि उसे एकत्व की चेतना है।

(3) पूर्ण रूप मे होने का अर्थ है कि "सत्ता के पूर्ण आनद मे होना।

(4) पूर्ण रूप मे होने का अर्थ है "पूर्ण परात्परता का जीवन। इसका तात्पर्य है ऐसा दिव्य पुरूष अपने और पराये के भेद से ऊपर उठ जाता है। उसका प्रत्येक कार्य लोक सग्रहार्थ ही होता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि "दिव्य जीवन" धरती पर पूर्णता के जीवन का अवतरण है। जहॉ सभी प्रकार की पृथकता समाप्त हो जाती है तथा पूर्ण सामजस्य एव सगठित एकत्व का जीवन रूप लेता है। जगत् परात्म जगत मे परिणत हो जाता है। जीवन पूर्ण ज्ञानात्मक चेतना एव पूर्ण आनन्द का बन जाता है, इसी जीवन मे आत्म की अन्तिम परिणति है।

यहॉ पर एक प्रश्न यह पैदा होता है कि दिव्य पुरुष का कोई व्यक्तित्व है या वह व्यक्तित्व रहित होता है ? **दिव्य पुरुष व्यक्तित्पूर्ण होता है लेकिन अन्तर यह है कि साधारण व्यक्ति का व्यक्तित्व अज्ञानपूर्ण होता है एवं दिव्य पुरुष का व्यक्तित्व चेतना पूर्ण होता है।**

श्री अरविन्द के दिव्य पुरुष की अवधारणा की तुलना भारतीय दर्शन के जीवन्मुक्त पुरुष के विचार से की जा सकती है। जीवन्मुक्त व्यक्ति अपनी समस्त तृष्णाओ पर विजय प्राप्त करके लोकसग्रहार्थ कर्म करता हुआ भी कर्मफल की आसक्ति से उसी तरह से निर्लिप्त रहता है, जैसे कमल का पत्ता जल मे रहते हुए भी जल बिन्दुओं से निर्लिप्त रहता है। जिस तरह भूने हुए बीज के

वपन से अकुर नही पैदा होता है, उसी तरह से बीतराग जीवन्मुक्त पुरुषो के कार्यों से आसक्तिरूप विषवृक्ष का अकुरण नही होता है। परन्तु दिव्य पुरुष की अवधारणा जीवन्मुक्त के विचार से अधिक व्यापक अवधारणा है। **हरिदास चौधरी** का मत है कि सभी दिव्य पुरुष को जीवन्मुक्त की तरह सोचा जा सकता है लेकिन सभी जीवन्मुक्त को दिव्य पुरुष की तरह नहीं माना जा सकता। दिव्य पुरुष का विचार जीवन्मुक्त की अवधारणा की तुलना मे बौद्ध दर्शन के बोधिसत्व के आदर्श और स्वामी विवेकानन्द के सर्वमुक्ति की अवधारण। से की जा सकती है। "दिव्य पुरुष " की अवधारणा बौद्ध दर्शन के बोधिसत्व के आदर्श से मिलती-जुलती है। बोधिसत्व केवल अपनी मुक्ति की अपेक्षा सब जीवो की मुक्ति को जीवन का लक्ष्य मानते है। वे यह प्रण करते है कि हम ससार से विमुख नही होगे, वरन् दु खी प्राणियो के दु ख-विनाश और निर्वाण लाभ के लिए सतत प्रयत्न करेगे। ऐसे व्यक्ति का जीवन करूणा तथा प्रज्ञा से अनुप्राणित रहता है। वे लोक कल्याण के लिए आवागमन के कष्ट से डरते नहीं है, प्रत्युत जन्म ग्रहण के चक्र मे पडे रहने पर भी उनका चित्त स्वच्छ रहता है। किसी भी प्रकार की पाप प्रवृत्ति या आसक्ति उनमे नही रहती है। जिस तरह पकज पक मे जन्म लेकर भी स्वच्छ तथा सुन्दर रहता है, उसी तरह ये बोधिसत्व जन्म-मरण के जाल मे फॅसे रहकर भी बिल्कुल स्वच्छ तथा निर्मल रहते है।

2.7 अज्ञान की अवधारणा

श्री अरविन्द की अज्ञान विषयक् अवधारणा अद्वैत वेदान्त से किचित् स्थलो पर साम्यता रखते हुए भी विरोधी प्रतीत होती है। श्री अरविन्द का विचार है कि ज्ञान तथा अज्ञान का स्वरूप परस्पर विरोधी नही है जो एक दृष्टि से ज्ञान है वही दूसरी दृष्टि से अज्ञान है। निम्नतर स्तर की दृष्टि से जो ज्ञान है उच्चतर स्तर की दृष्टि से वह अज्ञान है। "अज्ञान" ज्ञान शून्यता नहीं है। एक छोर पर "ज्ञान" है दूसरे छोर पर ज्ञान शून्यता है। इन दोनो के बीच स्थित फैलाव अज्ञान का स्तर है। अज्ञान का वह रूप जो ज्ञान शून्यता के निकट है अधिक अपूर्ण ज्ञान है तथा जैसे-जैसे वह ज्ञान की ओर अग्रसर होता है वैसे-वैसे इसमे अपेक्षाकृत अधिक पूर्णता आती जाती है। "वास्तव मे अज्ञान और कुछ नहीं आंशिक रूप से अपने आपको धारण करने की, [illegible] और नियन्त्रित करने की

दिव्यचेतना की ही शक्ति है। यह किसी भी अर्थ मे दिव्य शक्ति की एक पृथक् शक्ति या पृथक् सकल्प नही है जो उससे स्वतन्त्र हो। ज्ञान, अज्ञान का प्राकृतिक चरमोत्कर्ष है।[1]

वास्तव मे, जो कुछ हो रहा है वह यह है कि अज्ञान अपने भीतर के अधकारो को अधिकाधिक प्रकाश करता हुआ अपने आपको अपने भीतर पहले से ही छिपकर बैठे हुए ज्ञान मे रूपान्तरित करने की चाहना और तैयारी कर रहा है। इस रूपान्तर के द्वारा जब वैश्व सत्य अपने यथार्थ स्वरूप और आकार मे अभिव्यक्त होगा तो वह अपने-आपको परम सर्वव्यापी ब्रह्म के स्वरूप और आकार के रूप प्रकाशित करेगा।[2]

जहॉ तक अज्ञान की उत्पत्ति का प्रश्न है अज्ञान का स्रोत ब्रह्म नहीं हो सकता। साथ ही अज्ञान विभिन्न आत्माओ मे भी अन्तर्निहित नहीं है। वस्तुत जब मानस स्वय को अतिमानस से अलग कर लेता है तभी अज्ञान की उत्पत्ति होती है। जब हम ईश्वरीय शक्ति के सक्रिय पक्ष की अभिव्यक्ति को जगत् रूप मे देख उसी तक सीमित हो जाते है तो यही अज्ञान है। ज्ञान का अर्थ होगा इसके अतिरिक्त यह ज्ञान भी कि ईश्वरीय शक्ति का अगाध पक्ष है जो सृष्टि मे सक्रिय नहीं है। उसके पीछे है। इसी कारण सृष्टि मे लिपटे रहने को अज्ञान कहा गया है। अज्ञान की उत्पत्ति "आत्म" के इसप्रकार के सिमटने मे है। हर व्यक्ति मे निहित ईश्वरीय शक्ति मे यह सम्भावना निहित है कि वह अपने को सीमित कर अपनी दृष्टि की ऐसी सीमा बना ले कि वह मात्र अपने मे सक्रिय शक्ति को शक्ति समझ ले तथा सार्वभौम मूल शक्ति की उपेक्षा कर ले। यही अज्ञान है, जो व्यक्ति को जगत के सक्रिय रूपो तक सीमित कर देता है। यह अज्ञान इसकारण है कि यह सत् के मूल स्वरूप के प्रति अज्ञान है। ईश्वरीय "तपस्" विस्तृत तो है ही सिमट भी जा सकती है, जब यह व्यक्ति मे सिमट कर सीमित हो जाती है तो यही अज्ञान है। वस्तुत ब्रहम की निष्क्रिय चेतना और सक्रिय चेतना दो भिन्न वस्तुये नही है, वरन् 'यह एक ही चेतना है, एक ही अतस् ऊर्जा है, इसका एक सिरा

---

1 एस० के० मित्र – अरविन्द दर्शन की भूमिका अनु०– अजनी कुमार सिह, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी प्र०–38

2 श्री अरविन्द–दि लाइफ डिवाइन पृ०–312

आत्म-आरक्षण की अवस्था मे है और दूसरा सिरा आत्म-प्रदान और आत्म-विस्तारण की अवस्था म है। यह एसा है कि- जैसे जलागार का एक सिरा निश्चल अवस्था मे होता है और दूसरा उससे प्रवाहित होने वाली धाराओ की गति की अवस्था मे होता है। इसप्रकार निष्क्रिय ओर सक्रिय दो ब्रह्म नही है बल्कि एक ही ब्रह्म है। एक ही सत्ता को तब हम निष्क्रिय कहते है जब वह अपने तपस् को आरक्षित रखता है और उसी को सक्रिय कहते है जब वह तपस को अपने कार्य मे सृष्टि मे अभिव्यक्त करता है।[1] श्री अरविन्द की अज्ञान की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए अरविन्द द्वारा प्रतिपादित अज्ञान के सप्त रुपो पर विस्तृत विचार आवश्यक है। मानव जीवन मे अज्ञान निम्नलिखित रुपो मे व्याप्त है—

2 7(अ) प्राथमिक अथवा आद्य अज्ञान

हमारा सासरिक जीवन नाना प्रकार की वस्तुओ और नानाविध सम्बन्धो से घिरा हुआ है। नाना प्रकार की मान्यताओ और अपने परम्परागत सस्कारो/रीति-रिवाजो के कारण हम अपने चतुर्दिक व्याप्त भौतिक वस्तुए शरीरधारी जीव वस्तुओ के बीच स्थान तथा काल आदि के सम्बन्ध को वास्तविक मानते हुए अपना जीवन-निर्वाह करते रहते है। हमे इन सभी प्रकार की वस्तुओ के पीछे छिपे हुए मूल निरपेक्ष सत् का ज्ञान नही है जिसके कारण प्रतीयमान वस्तुओ को ही हम सत् समझने लगते है। इसप्रकार का अज्ञान प्राथमिक अज्ञान कहलाता है क्योकि यह सभी प्रकार के अज्ञानो के मूल मे है, प्रत्येक जन्य अज्ञान किसी-न-किसी प्रकार इसी मूल अज्ञान से उत्पन्न है।

2 7(ब) ब्रह्माडमूलक अज्ञान

यह ब्रह्माड या जगत सम्बन्धी अज्ञान है। सामान्यतया हम यह मानकर चलते है कि स्थान तथा काल मे स्थित जिस जगत मे हम जीते है वह जगत वास्तविक है, सत् है। इसी धारणा के फलस्वरुप जगत मे जो परिवर्तन होते है उन्हे भी सामान्यत वास्तविक ही समझते है। यह ब्रह्माड या जगत सम्बन्धी अज्ञान है।

---

1. एस० के० मित्र— अरविन्द दर्शन की भूमिका, अनु०—अ० कु० सिंह, विश्व[illegible] प्रकाशन, वाराणसी पृ० 41

2 7(स) अह-केन्द्रित अज्ञान—

आत्मा के सम्बन्ध मे वास्तविक ज्ञान का अभाव अह-केन्द्रित अज्ञान कहलाता है। हम अपने 'अह को मे के भाव को ही वास्तविक समझ लेते है और यह जानने/समझने की चेष्टा भी नही करते है कि हर प्रकाश की सत्ता- हर प्रकार की गति के पीछे एक एकात्म है। हम अपने सीमित वैयक्तिक अस्तित्व को वास्तविक समझने लगते है। यही अह केन्द्रित अज्ञान है।

2 7(द) सामयिक अज्ञान

हमे अपने नित्य तथा शाश्वत स्वरुप के सम्बन्ध मे भी अज्ञान है। इसी कारण हम जन्म से लेकर मृत्यु तक के सम्पूर्ण जीवन चक्र को हर काम, हर स्थिति मे घटने वाली प्रत्येक शुभ/अशुभ घटनाओ को ही वास्तविक और आत्म स्वरुप समझ लेते है। हम यह समझने या देखने की चेष्टा भी नही करते कि हमारी वास्ततिक सत्ता इन कालिक क्षणो तथा स्थान, काल की इन स्थितियो तक सीमित नही है।

2 7(य) मनोवैज्ञानिक अज्ञान

सामान्यतया हम अपने जीवन मे दैनिक कार्यव्यवहार और आचरण को ही वास्तविक मान लेते है। अपने इन्द्रिय अनुभव/इन्द्रियप्रदत्तो की वास्तविकता को ही अन्तिम सत्य के रुप मे स्वीकार कर लेते है। हम अपने जीवन मे इन ऊपरी धरातलीय क्रिया व्यवहारो मे इतने तल्लीन रहते हैं कि हम इनसे ऊपर की उपचेतनावस्था तथा परात्ममूलक चेतनावस्था, आन्तरिकता आदि की सम्भावनाओ के विषय मे सोचने का भी उपक्रम नही करते। इस प्रकार का अज्ञान "मनोवैज्ञानिक अज्ञान" कहलाता है।

2 7(र) रचनात्मक अज्ञान

यह प्राय सर्वमान्य प्रचलित-धारणा है कि हमारी वास्तविक सरचना शरीर, प्राण तथा मन से है। इसका अर्थ है कि हम सामान्यत इस तथ्य से अनभिज्ञ रहते है कि हमारी सरचना की गहराइयॉ

मात्र इन तीनो तक सीमित नही। इसीकारण हम यह भी नही समझ पाते कि शरीर प्राण मन आदि की भी शक्ति हमारी उन्ही गहराइयो मे स्थिति शक्ति से है। इसतरह से राचनिक अज्ञान के वशीभूत होकर व्यक्ति अपने देह मन प्राण आदि को ही वास्तविक सत् समझने लगता है। उसे यह भी नही ज्ञान हो पाता हे कि समस्त कर्म तो प्रकृति और उसकी शक्तियो के द्वारा सम्पादित कराये जाते हे वह तो अपनी शरीर की शक्ति को वास्तविक शक्ति समझने लगता है। परिणाम स्वरू'। अपने को कर्ता कामी और स्वामी समझने लगता है।

2 7(ल) व्यावहारिक अज्ञान

उपरोक्त सभी अज्ञानो के फलस्वरूप हमारा व्यावहारिक जीवन पूर्णतया अव्यवस्थित हो जाता हे। हमारा सामान्य व्यावहारिक जीवन कुछ अर्थो मे अर्थहीन तथा लक्ष्यविहीन प्रतीत होता है। क्योकि जीवन के वास्तविक लक्ष्य की अनभिज्ञता हमारे जीवन की दिशा को ही भ्रमित कर देती है। फलत हमारा व्यावहारिक जीवन भ्रम भूल, अनर्गल कार्यो मे ही उलझा रहता है जिसका परिणाम होता है कि हमारा जीवन दु खमय, कष्टप्रद तथा अर्थहीन बन जाता है।

निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि मनुष्य स्वभाव से (प्रकृत्या) अज्ञानी नही है। उसके अदर पूर्ण ज्ञान की शक्ति और शक्यता है। यह केवल व्यावहारिक कारणो से उसके जीवन की बाहरी गतिविधियो के उद्देश्य से ऐसा है कि वह वर्तमान अज्ञान के क्षणो मे समाहित होकर जीना है क्योकि एक ऐसी दीवार है जो भविष्य के समस्त ज्ञान को और अतीत के समस्त ज्ञान को उसके आगे बन्दकर देती है। केवल उस छोटे से भाग को छोडकर जो उसकी स्मृति उसके लिए सम्भव बनाती है उसका (मनुष्य का) अस्तित्व इससमय उसकी सत्ता का पूर्ण सत्य नही है अपितु एक व्यावहारिक सत्य है जो उसके आध्यात्मिक जीवन के सीमित उद्देश्यो के लिए शुभ को ग्रहण करता है।[1]

---

1 वही पृ० 43

2 8 पूर्ण योग- (Integral Yoga)

अन्यान्य भारतीय दर्शनो की तरह श्री अरविन्द के अनुसार भी मानव जीवन का परम प्राप्य आध्यात्मिक या दैवी जीवन की प्राप्ति है। जैसा कि श्री अरविन्द स्वय कहते है **"हमारा एक मात्र कर्तव्य है अपना स्व (स्वरूप) वह है जो हमारे भीतर है, इस उच्चतम स्व के जो कि हमारा सच्चा और दिव्य स्वरूप है, अपने-आपको प्रकाशित करने और सकिय बन जाने का अवबध (शर्त) है- हमारे शरीर, प्राण और मन के बाहरी स्व का अतिक्रमण करना।** मनुष्य के अन्दर दिव्यता पर्दे के पीछे निवास करती है।[1] अब यहॉ प्रश्न यह पैदा होता है कि वह कौन सा माध्यम है जिसके द्वारा दिव्य जीवन की प्राप्ति की जा सकती है। योग ही वह माध्यम है जिसके द्वारा दिव्य जीवन की प्राप्ति सभव है। इस योग की विशिष्टता स्वय अरविन्द ने बतलाया है- **"सभी कुछ जो तुम्हें अन्य योगो से प्राप्त हो सकेगा, वह सभी इस योग मे मिलेगा- पर एक ऐसी अनुभूति के रूप में जिसकी एकागिकता का विलय हो चुका है और जो एक परिपूर्ण अनुभूति मे रूपान्तरित हो चुकी है।**

2 8(अ) लक्ष्य एव विशेषताएँ

योग का अर्थ है एक सूत्र मे बॉधना। योग का अर्थ है- चरम सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित करना श्री अरविन्द के अनुसार योग की निम्नलिखित विशेषताये है—

2 8(ब) विकास-प्रक्रिया

वैयक्तिक तथा जागतिक दोनो स्तरो पर एक विशेष अवस्था पर पहुॅचना है। हमे मानस से अतिमानस पर आरोहण करना है। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि अब विकास प्रक्रिया आध्यात्मिक क्षेत्र मे छलाग लगाने के लिए उद्यत है। यौग का उद्देश्य इस सम्भावना या छलाग को सुलभ बनाना है। जड-जगत आध्यात्मिक जगत से बिल्कुल पृथक नही हैं। चेतना का क्षुद्रतम अश ही

जडतत्व है। अत आध्यात्मिक प्रगति का तात्पर्य अनात्म का निषेध नही है। बल्कि यह अनात्म तत्वो का परिष्करण या रूपान्तरण है जिससे वह आध्यात्मिक प्रगति का तात्पर्य अध्यात्मिक तत्वो के स्वरूप के रूप मे विकसित हो सके। समग्र योग या पूर्ण योग का उद्देश्य इस रूपान्तरण को सहज बनाना है। विकास-प्रक्रिया का चरम लक्ष्य उसकी परिणति एक ऐसे दिव्य जीवन की स्थापना मे है जिसमे हर व्यक्ति अज्ञान के क्षेत्र से बाहर ज्ञान-पुरूष मे परिणत हुआ रहेगा।

अन्य योग कियाओ (हठयोग) शारीरिक स्तर से ऊपर उठने की बात करते है। श्री अरविद कभी भी शारीरिक यातना की (व्रत, उपवास) बात नही करते बल्कि योग का अर्थ है शारीरिक स्तर को भी अतिमानसिक प्रकाश से अवलोकित करना है। इसमे व्यक्ति सम्पूर्ण रूप से अपने को प्रभु के समक्ष अर्पित कर देता है- इस शिशुवत् विश्वास के साथ कि मॉ महाशक्ति उसके हितो को उससे अधिक जानती है और उसके हित मे जो भी होगा करेगी। इस समर्पण के नाते और इसमे निहित इस विश्वास के नाते, व्यक्ति मे उन सभी को सहन करने की जो उसके रूपान्तरण के लिए अनिवार्य है शक्ति एव साहस होना चाहिए तभी इस योग की सार्थकता है।

सभी योग इस बात पर बल देते है कि व्यक्ति की मुक्ति योग से सभव है परन्तु समग्रयोग का उद्देश्य सर्वमुक्ति है। इस मुक्ति मे व्यक्ति को अपने लिए कुछ नहीं करना है। उसे तो जीवन मे भगवती इच्छा को स्वीकारते हुए उसी के लिए सब कुछ करना है। भगवती इच्छा को व्यक्त करने का अर्थ है, इस जीवन मे ही नही, प्रत्युत सम्पूर्ण विश्व मे और सभी स्तरो पर दिव्य जीवन के अवतरण के लिए प्रयत्नशील होना।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि योग का लक्ष्य-इसी जीवन मे, शरीर-रूप मे ही ईश्वरत्व की पूर्ण चेतना है। योग अनिवार्यत किसी अतिप्राकृतिक जीवन मे प्रवेश नही है। इसका लक्ष्य है, भौतिक, जैविक, मानसिक प्रक्रियाओ मे परिवर्तन है। यह विकास-प्रक्रिया मे घिरे आत्म के उत्थान का प्रयत्न है साथ-साथ उच्चतर रूपो के अवतरण का प्रयत्न है। यह उच्चतर शक्तियो को मानस पर ही नहीं जडत्व मे भी उतारने का प्रयत्न है।

2 8(स) योग का स्वरूप

श्री अरविन्द के अनुसार योग का अर्थ ईश्वर-मिलन है। किन्तु यह पारलौकिक स्तर पर हो सकता है सार्वभौम स्तर मे सर्वमुक्ति के रूप मे हो सकता है या वैयक्तिक स्तर मे भी हो सकता है। योग का प्रतिपादन करनेवाले विभिन्न विचारो मे इन्हीं मे से किसी एक का प्रतिपादन किया गया है परन्तु इस योग मे ये तीनो विधाये एक साथ जुटी हुई है। अत इसे पूर्णयोग या समग्र योग कहा जाता है।[1]

साधारणत योगियो की मान्यता यह रही है कि योग के लक्ष्य की प्राप्ति-ईश्वरत्व से एकत्व की प्राप्ति समाधि की अवस्था मे अथवा पूर्ण आह्लादपूर्ण तन्मयता की अवस्था मे ही हो सकती है। इस अवस्था मे जाग्रतावस्था की चेतना पूर्णतया धूमिल हो जाती है तथा सासारिकता एवं साधारण परिवेश से सम्पर्क एक प्रकार से टूट जाता है। इसके विपरीत श्री अरविन्द का कहना है कि पूर्ण एकत्व की प्राप्ति शरीर मे रहते हुए जाग्रतावस्था तथा जगत् से सम्पर्क बिना तोडे हुए सम्भव है। श्री अरविन्द की योग साधना की तीन सीढियॉ है, जिनको क्रमश प्राप्त कर व्यक्ति अतिमानसिक स्तर को प्राप्त कर सकता है-

(1) आत्मिकता की प्रक्रिया

(2) आध्यात्मिकता की प्रक्रिया

(3) अतिमानसिकता की प्रक्रिया

चेतना को बाह्यजगत् ये खीचकर आभ्यन्तर जगत् मे केन्द्रित करना-जिससे हमारे अस्तित्व के निम्नतर रुपो मे - भौतिक, जैविक एव मानसिक ढगो मे - आमूल परिवर्तन हो सके, समग्र योग का प्रथम सोपान है। अन्तर मे चित् शक्ति ऐसे रुप मे प्रतिष्ठित हो सके कि - हमे विश्व के कण-

1 Sri Aurobindo The Riddle of the word, p-2-3,

कण म मूल चित शक्ति मॉ का रुप दिखाई दे। आन्तरिकता के इस प्रकार से गहन होन की प्रक्रिया को आत्मीयता की प्रक्रिया कहा जाता है। आध्यात्मिकता का अर्थ है- आत्म-अबाधित एव विस्तारित करना। आत्मीकरण की प्रक्रिया से आत्म मे वे सारी तैयारियॉ हो जाती है जिससे उसम उच्चतर चेतना को ग्रहण करने की तत्परता एव शक्ति, आ जाय। इस प्रक्रिया से आत्म की क्रियाय आत्म के विचार आदि उच्चतर रुपो के अनुरुप होने लगते है। और यह उसको शान्ति शक्ति, ज्ञान और आनन्द देत हे।

योग के तृतीय सोपान तक पहुॅचते-पहुॅचते चेतना पूर्ण रुपेण दैवीचेतना मे बदल जाती हे। इस स्थिति की तुलना उस तालाब से की जा सकती है जिसमे चचल लहरो का उठना बद हो गया हे। अब सभी द्वैत-भाव सभी विभिन्नताये विषमताये लुप्त हो जाती है तथा पूर्ण अद्वैत, एकत्व की चेतना स्पष्ट हो जाती हे। अब मानसिकता के स्तर के सभी झझावात उत्पन्न करने वाले अश-क्षोभ अशान्ति, विषमता उत्पन्न करनेवाले तत्व पूर्णतया शान्त हो जाते है। अतिमानसिकता की इस स्थिति मे पहुॅचने पर 'आत्म का चार अवस्थाओ की प्राप्ति होती है- "अचचलता, स्थिरता, शान्ति और नीरवता।' उल्लेखनीय है कि इन चारो मे गुणात्मक भेद नहीं है। ये उस क्रम का निर्देश करते है जिसमे आत्म मानस के द्वारा उत्पन्न विषमताओ से धीरे-धीरे मुक्त हो जाता है।

श्री अरविन्द के सम्पूर्ण दर्शन के विहगमावलोकन के पश्चात कहा जा सकता है कि उन्होने अपने दर्शन के माध्यम से भौतिकवाद एव अध्यात्मवाद के मध्य निरन्तर विद्यमान खाई को पाटने का प्रयास किया हे। दोनो परस्पर विरोधी धाराओ मे समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। जडतत्व ओर चतन तत्व दोनो नितान्त विरोधी नही है, बल्कि जिसे हम जड कहते है वह चेतना का स्थूल–तम अश है। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण सृष्टि-चेतना का प्रवाह मात्र है। कही पर चेतना जागृतावस्था मे तो—कही सुषुप्तावस्था मे है। अपनी इसी समन्वयात्मक दृष्टि के माध्यम से श्री अरविन्द ने पौर्वात्य (अध्यात्म) और पाश्चात्य (भौतिकवाद) सस्कृति मे समन्वय का सदेश भी दिया है। जैसे कि श्री अरविन्द ने स्वय कहा है **"आध्यात्मिक जीवन की सम्भावना को जीवन मे स्वीकार करने के लिए यह पूर्णतया आवश्यक है कि हम केवल** आध्यात्मिक तत्व को ही

सत रूप म स्वीकार न करे। वल्कि भौतिक तत्व का भी उसकी व्यञ्जना हतु रामुचित माध्यम क रूप न स्वीकार। और यही नही परमसत क रूप मे स्वीकृत इस आध्यात्मिक तत्व तथा माध्यम क रूप न समर्थित विश्व के भौतिक स्वरूप के मूल एकत्व का भी समर्थन करे।[1]

एस० के० मित्रा भी उक्त विचार से पूर्णत सहमत प्रतीत हाते है। उनका मत है कि 'जब-जब भारत को किरी राहु न ग्रसा है तब-तब विष्णु का चक्र सुदर्शन बनकर किसी-न-किसी अवतार पुरुष ने भारत की प्राण-शक्ति का उद्धार किया है। भारत मे इस प्राण-शक्ति को प्रज्ज्वलित बनाये रखने के लिए समय-2 पर ओर भी अनेक सिद्ध-महापुरुष आते रहे है। किन्तु इस बार एक विशेष आगमन होने वाला था। इस बार भारत को न केवल एक प्राणशक्ति के उद्धारक की आवश्यकता थी बल्कि परात्पर से आई हुई एक ऐसी सीधी क्रिया शक्ति की आवश्यकता थी जिसके द्वारा भू-चेतना अपनी आध्यात्मिक तैयारी का एक और अगला पग उठा सके। अस्तु श्री अरविन्द का आविर्भाव इसी भौतिक और आध्यात्मिक उददेश्य की पूर्ति के निमित्त हुआ।

वस्तुत श्री अरविन्द का दर्शन अन्तरात्मा के सत्य और आत्मा की उच्चतर भूमियो को पकाशित करने-वाला है तथा मन प्राण ओर शरीर के सम्पूर्ण आयामो को पूर्णत अपनी चितन-सीमा म ग्रहण करके उसकी परिधि को अब तक के सभी दर्शनो से कही अधिक विस्तृत एव विशाल फल प्रदान करता है।

सक्सेना डॉ० (श्रीमती) लक्ष्मी–(सं०)–समकालीन भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रथ अकादमी १९८३ –डा० लक्ष्मी सक्सेना का अरविन्द पर निबन्ध पृ०–219

अध्याय 3

प्रो० कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य (1875-1949)

3 1 सामान्य परिचय

गीता के लोकसग्रह के आदर्श ओर महाप्राण बुद्ध के 'चरथ भिक्खवे बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' के उपदेश को वही व्यक्ति मूर्तमान् कर सकता है जो ऐहिक जीवन की भोगेच्छाओ की तृष्णाजन्य ज्वाला से दूर निष्काम योगी की भॉति अपने और पराये मे समत्व दृष्टि रखता है। परन्तु चेतना का यह ऊर्ध्वीकरण दिव्य दृष्टि से ही सभव है। इस दिव्य दृष्टि को अन्तर्दृष्टि द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता हे। **प्रो० कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ऐसे ही आधुनिक भारतीय दार्शनिक है जिनकी सम्पूर्ण दार्शनिक साधना का उद्देश्य उस तत्व का अनुसधान करना है जिससे मानवीय चेतना को अत्यधिक समृद्ध किया जा सके।** उस दिव्य दृष्टि या पराविद्या की तलाश करना है जिससे परमतत्त्व का साक्षात् किया जा सके। प्रो० भट्टाचार्य अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के दार्शनिक है। उनका दर्शन गभीर एव परिपक्व विश्लेषणात्मक दृष्टि का परिणाम है। उनकी सूक्ष्म दृष्टि अन्य दार्शनिक दृष्टियो की एक पक्षीयता को ढूॅढ निकालती है और उन्हे अधिक व्यापक समन्वयात्मक धरातल पर आने की ओर इगित करती है। **डा० धीरेन्द्र मोहन दत्त के अनुसार** - भट्टाचार्य की कृतियॉ अत्यल्प है, उनकी शैली अत्यन्त सक्षिप्त है तथा उनके विचार इतने अधिक विश्लेषणात्मक एव दुरूह है कि सामान्य पाठक कई प्रयासो के बाद ही उन्हे समझ सकता है। उनकी विश्लेषणात्मक बुद्धि मूर का स्मरण दिलाती है परन्तु उनकी मौलिकता एव उनकी विश्लेषणात्मक अन्तर्दृष्टि की सुदूर पहुॅच, वस्तुगत एव आत्मगत क्षेत्रो मे उनकी पैठ, उन्हे दिग्गज आचार्यो की कोटि मे प्रतिष्ठित करा देती है। उनकी श्रेष्ठता दूसरो के सिद्धान्तो के खण्डन मे नही अपितु उनके अज्ञात एव अचिन्तित पूर्व-आशयो को प्रकट करने उनके श्रेष्ठ तत्वो का प्रदर्शन करने और उन्हे कई सम्भव वैकल्पिक सिद्धान्तो मे स्थान प्रदान करने मे है। उनके लिए दार्शनिक विजय का आदर्श आत्मनिषेधकारी सहानुभूति एव प्रेम मे निहित है।[1]

---

1 Dutta - Dhirendra Mohan The chief currents of contemporary Philosophy, (Hindi translation) p-116.

प्रो० कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य नव्यवेदान्त के प्रमुख प्रणेता आचार्य है। उन्होने वेदान्त दर्शन के निष्कर्षो को पाश्चात्य दार्शनिक चितन के परिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुत करने का अनुपम प्रयास किया है। यद्यपि प्रो० भट्टाचार्य इमैन्युअल काट से विशेष रुप से प्रभावित है तथापि अपनी नवीन युक्तियो द्वारा पाश्चात्य दर्शन की अपूर्णता को स्पष्ट करते हुए उन्होने अपने दर्शन मे पौर्वात्य दर्शन (शाकर वेदान्त) की श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास किया हे। (समकालीन भारतीय दर्शन की प्रवृत्तियॉ नामक निबध मे प्रो० सगम लाल पाण्डेय ने भी इसी तरह का अभिमत प्रकट किया है।)[1]

डॉ० आर० सी० सिन्हा का मन्तव्य है कि प्रो० भट्टाचार्य एक तरफ वेदान्त दर्शन से प्रभावित हे तो दूसरी तरफ जर्मन दार्शनिक कान्ट से भी अभिभूत है।[2] परन्तु कान्ट से प्रभावित होते हुए भी उनकी तीक्ष्ण दार्शनिक दृष्टि कान्ट के दर्शन के आपत्तिग्रस्त स्थलो का अनुसधान कर ही लेती है। आचार्य जहॉ कान्ट कि सावृत्तिक ज्ञान और उसको प्राप्त करने के माध्यम से सहमत है वही उसके अज्ञेयवाद का निर्ममतापूर्वक खण्डन भी करते है। प्रो० भट्टाचार्य का मत है कि परमार्थ को अपरोक्षानुभूति के द्वारा जाना जा सकता हे वह अज्ञेय नही हे। इस स्थल पर हम देखते हे कि प्रो० भट्टाचार्य परमार्थ विषयक् आचार्य शकर के मत से सहमत है। आचार्य शकर का विचार है कि ब्रह्म न तो प्रत्यक्ष द्वारा न अनुमान द्वारा न तर्क और न श्रुति द्वारा ही जाना जा सकता है बल्कि अपरोक्षानुभूति ही ब्रह्म साक्षात्कार करा सकती है। आत्मा नित्य अपरोक्ष है तथा प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा) रुप से प्रसिद्ध है।[3]

3 2 सैद्धान्तिक चेतना के आयाम

सैद्धान्तिक चेतना के निम्नलिखित चार आयाम है —

---

1 समकालीन भारतीय दर्शन –स०–लक्ष्मी सक्सेना उ० प्र० हिन्दी ग्रथ अकादमी प्रारग का लेख लेखक प्रो० सगमलाल पाण्डेय पृ० 17

2 Sinha R C - Concept of Reason and Intuition p-69

3 ब्रह्मसूत्र–प्रवचन (शारीरक भाष्य) खण्ड–1, पृ०–324, सस्ता साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट मुम्बई [illegible]

(अ) आनुभविक विचार -

(ब) शुद्ध वस्तुगत विचार -

(स) आध्यात्मिक विचार -

(द) अतिव्याप्त विचार या पारमार्थिक विचार -

3 2(अ) आनुभविक विचार

चेतना के इस आयाम के अन्तर्गत इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय आता है। चेतना के इस आयाम द्वारा विभिन्न वस्तुओ क बारे मे तथा उनके आपसी सम्बन्धो का ज्ञान होता है। प्रो० भट्टाचार्य ने आनुभविक विचार को वास्तविक विचार के रूप मे समझा हे। आनुभविक विचार की विषय वस्तु फेक्ट' है इसका अध्ययन विज्ञान मे होता है। इसको लिटरल थाट' के रूप मे जाना जाता है 'फैक्ट' को आचार्य ने 'स्पोकेन ऑफ' की सज्ञा दी है उसको मात्र स्पोकेन नही माना है।[1]

3 2(ब) शुद्ध वस्तुगत विचार

यह मनस् का स्तर है। यद्यपि इस स्तर पर भी वस्तु से सम्बन्ध बना रहता है तथापि इसका इन्द्रिय प्रत्यक्ष से कोई आवश्यक सम्बन्ध नही होता है। तथ्यात्मक विषयो से सम्बद्ध विचार से निश्चित ही यह विचार भिन्न है और यह इस बात का प्रमाण है कि हम एक महत्वपूर्ण अर्थ मे आनुभविक विचार का अतिक्रमण कर सकते है। विचार के इस स्तर पर ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत बना रहता है किन्तु वह द्वैत स्थूल आनुभविक इन्द्रियो की मध्यस्थता से किये हुए विचार मे उपस्थित द्वैत से भिन्न होता है। शुद्ध वस्तुगत विचार मे विषय' तथ्य के रूप मे ज्ञात नहीं होता- बल्कि आत्मनिर्भर या आत्म-अवस्थित विषयनिष्ठता के रूप मे जाना जाता है। 'आत्मनिर्भर विषयनिष्ठता तथ्य नहीं है- यह कोई वस्तु' नही है। आनुभविक चेतना मे 'तथ्यात्मक वस्तु 'की अवगति होती है किन्तु यहॉ मात्र

---

1 K C. Bhattachary-studies in philosophy edited by Gopinath Bhattachrya, Delhi, Patna

इ जानते है कि विषयी न एव ६ के ह विषय है। इसी कारण भट्टाचार्य कहत हे कि यह नना किसी विषयनिष्ठ तथ्य की चेतना नही हे बल्कि मात्र विषयनिष्ठ अभिवृत्ति मे चेतना हे। यही रा दर्शन की शरुआत होती है। इसे प्रतीकात्मक विचार भी कहते है।

आनुभविक विचार म विषयी की ओर निर्देश या संकेत नही रहता है। वस्तुगत विचार की विषय वस्तु आत्मनिर्भर ह तथा इसे हम मात्र स्पाकेन मान सकते है। इसमे विषय की ओर संकेत न होकर विषयी की ओर संकेत रहता है।

३ 2(स) आध्यात्मिक विचार

चेतना के इस स्तर पर विषयो से सम्बन्ध पूर्णतया छूट जाता है। चेतना बाह्य विषयो स पराङमुख होकर एकदम अन्तर्मुखी हो जाती हे तब वह ज्ञाता का साक्षात करती है। विषयो की ओर उन्मुख होना चाहे वह यथार्थ हो अथवा सम्भाव्य विचार की सहज गति हे किन्तु विचार अपने इस नवीन आयाम म विषयो से अपने को सम्पूर्णत मुक्त करने की सामर्थ्य रखता है। तब वह विषयो से मुक्त होकर अपने ज्ञाता रुप मे अवस्थित हो जाता है। प्रो० भट्टाचार्य इस चेतना को उपयोगी चेतना कहते हे। इस चेतना म आत्मा विषय' को भोगता है उसका आनन्द लेता है क्योकि यहॉ चेतना आत्मकेन्द्रित हे। इस प्रकार हम देखते हे कि प्रथम स्तर मे चेतना की विषय वस्तु तथ्य है। दूसरे स्तर म चेतना की विषयवस्तु आत्मनिर्भर विषय है। किन्तु तीसर स्तर मे चेतना का विषय आत्म ही है जिसे सत कहा जाता हे। उसी का मूल्य हे।

प्रो० भट्टाचार्य की इस सत्ता को डेकार्ट ने चित्' तत्त्व से अभिव्यक्त किया है। यह ज्ञाता हे और ज्ञाता रुप मे ही हम इसे जानते हे। यह किसी ज्ञान का विषय नही हो सकता।[1] डेकार्ट का चित तत्त्व इसी सत्ता को व्यक्त करता हे।[1]

---

1 डॉ श्रीवास्तव जे० एस०– आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास 1996 किताब महल 22ए सरोजनी नायडू मार्ग इलाहाबाद, पृ०–76'

आध्यात्मिक विचार को स्पष्ट करते हुए स्वय प्रो० भट्टाचार्य कहते है विषयीगत चेतना की विषयवस्तु न तो तथ्य है ओर न तो आत्मनिर्भर (सेल्फ सब्सिसटेट)। इसकी विषयवस्तु सत् है। सत् को हम आई' के द्वारा व्यक्त करते हे इसमे भाषा के द्वारा जो व्यक्त करते हे वह भी विषयीगत चेतना से सम्बन्धित हे।

3 2(द) पारमार्थिक विचार

इस चतुर्थ स्तर की चेतना मे पारमार्थिक चिंतन होता है जो आत्मगत ओर वस्तुगत दोनो से परे हाता है। पारमार्थिक चेतना न तो विषय और न विषयी की ओर सकेत करती हे। इसकी विषय वस्तु निरपेक्ष है। इसको सिम्बोलिकली स्पोकेन' रुप मे जाना जाता है। इसकी विषय वस्तु परमसत्ता है तथा इसकी अभिव्यक्ति अतिव्याप्त दृष्टिकोण से की जाती है।

ज्ञाता के रूप मे चेतना की स्थिति सहज नही हे। इससे भिन्न रूप मे अवस्थित रहनेकी सम्भावना उसमे विद्यमान हे। ज्ञाता रूप से असम्बद्ध होने के पश्चात ही उसे अपने यथार्थ, पारमार्थिक तात्विक स्वरूप का साक्षात् होता है, जिसमे वह विषयो से ही सम्पूर्ण मुक्त नही होता प्रत्युत प्रक्षेपित अपने ज्ञाता रूप से भी मुक्त हो विशुद्ध चेतना रूप मे अवस्थित हो जाता है। ज्ञाता सीमित सापेक्ष सत्ता का प्रतीक हे। जो ज्ञात' हे वह ज्ञेय ये स्थूल सूक्ष्म अथवा सम्भाव्य किन्ही रूपो मे से किसी भी एक के साथ अनिवार्यत सम्बद्ध रहता हे। जो ज्ञाता हे उसे विषयो से अपने पार्थक्य को सतत् बनाये रखना है। उसके स्वरूप का समर्थन इसी पार्थक्य की मध्यस्थता से होता हे इसीलिए वह निर्विशेष नही हो सकता।

अत जब विचार ज्ञातरूप से भी विमुक्त हो जाता है तब यह अपने यथार्थ तात्विक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। जिससे वह अभी तक अनभिज्ञ था। इसी मे ही उसकी स्वतन्त्रता है क्योकि वह समस्त प्रक्षेपित सत्ताओ से विमुक्ति की स्थिति है।

सक्सेना डॉ (श्रीमती) लक्ष्मी (स०)– समकालीन भारतीय दर्शन उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान लखनऊ डॉ० लक्ष्मी 'सक्सेना का निबन्ध कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य' पृ०-207

प्रो० भटटाचार्य द्वारा प्रतिपादित सेद्धान्तिक चेतना के उपर्युक्त चार आयाम को निम्नलिखित तालिका द्वारा सुस्पष्ट किया जा सकता है -

	अ	ब	स
	सैद्धान्तिक चेतना	चेतना के विषय	स्पीकेबिल्टी
1	आनुभविक विचार	तथ्य	स्पोकेन आफ
2	शुद्धवस्तुगत चेतना	स्वत निर्भर	स्पोकेन
3	आध्यात्मिक विचार	रियल्टी (आई)	स्पोकेन एज सिम्बोलाइज्ड
4	पारमार्थिक विचार	सत् (निरपक्ष) (Truth)	प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति

सैद्धान्तिक चेतना के उपर्युक्त चार स्तरो मे से प्रथम विज्ञान से सम्बन्धित है शेष दर्शन से। इस प्रकार दार्शनिक ज्ञान त्रिविध स्तरीय होता हे। उल्लेखनीय है कि दर्शन के उक्त तीनो स्तर एक दूसरे से सर्वथा पृथक नही हे। हर स्तर मे निहित उसकी तार्किकता उसे दूसरे स्तर मे उसका अयथार्थ बोध हो जाता है।

3 3 विषय का दर्शन -(Philosophy of Subject)

विज्ञान की विषयवस्तु 'तथ्य रूप विषय' का अतिक्रमण या निषेध करने के उपरान्त ही विषय के दर्शन की विषय वस्तु आत्मनिर्भर' तक पहुँचा जा सकता हे। जिस विषय से दर्शन का सम्बन्ध है वह तथ्यात्मक नही है। क्योकि दर्शन विचार है और इसका विषय 'तथ्य' नही हो सकता। बल्कि यहाँ इस विषय के सम्बन्ध मे यही कहा जा सकता है कि यह विचार की विषयपरकता मे स्पष्ट हुआ विषय है।यह कोई 'तथ्य' नही। कोई 'वस्तु' नहीं यह केवल वस्तुनिष्ठता का एक रूप है। दर्शन के इस स्तर मे विचार में विषय का आत्म से सम्बन्धित होने का अवबोध है

इस प्रकार विषय के दर्शन मे भी विचार' की प्रधानता खण्डित नही होती। यहाँ विषय से तात्पर्य कोई वस्तु' नही है। कोई अस्तित्ववान तथ्य नही है। अस्तित्व' के लिये हमारे विचारो से पृथक् वस्तु का स्वतन्त्र रूप मे रहना आवश्यक है। अर्थात् चाहे वस्तु हमारे विचारो का विषय बने या न बने तथापि उसकी स्वतन्त्र स्थिति सुरक्षित रहती है। किन्तु विषयकी विषयनिष्ठता के लिए यह आवश्यक शर्त नही है। विषयनिष्ठता के लिए आत्म से पूर्णतया स्वतन्त्र होना आवश्यक नही आत्म इसे अपने वैचारिक विषय के रूप मे जान लेता है।

काट का विचार है कि स्वलक्षण वस्तुये अज्ञेय है। इस स्थल पर **प्रो० कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य और इमैन्युअल काट मे असहमति स्पष्ट है।** वस्तुत काट ने **विषयनिष्ठता के इस स्वरूप को समझने मे भूल की थी।** उन्होने स्वलक्षण वस्तुओ को आत्मा से स्वतन्त्र कर दिया। वे 'स्वलक्षण' मे वस्तु को मात्र विषयनिष्ठा नही अस्तित्ववान भी मान लिये। यदि यह समझ लिया जाय कि - विषयनिष्ठता आत्म से सम्बन्धित होने मे भी सुरक्षित है तो इस प्रकार के विषयनिष्ठ विषय अज्ञात एव अज्ञेय नही रह जाते क्योकि आत्म को उनका अवबोध है।

अत विषय के दर्शन का सम्बन्ध उस विषय से है जिसकी अवगति का अनिवार्य अग उसका आत्म से सम्बन्धित होना है। यह विषयनिष्ठता की एक विशिष्ट परिभाषा है। जिसमे कुछ वस्तुपरक ढग से समझा जाता है जाना जाता है।

3 4 आत्म का दर्शन : (Philosophy of Spirit)

भट्टाचार्य का मन्तव्य है कि कोई तात्विक अवधारणा तब तक स्पष्ट नही हो सकती जब तक उसे आत्मा के सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य मे न देखा जाय। तात्विक विषय से क्या तात्पर्य है- उनसे कुछ ऐसा ही सूचित हो सकता है जिसकी आन्तरिक अनुभूति उनमे विश्वास का आधार है। वह कुछ ऐसा ही हो सकता है जिसमे विश्वास करने का आधार मात्र यही है कि उसे भोगा जा रहा है। इस उपयोगी अवबोध का क्या तात्पर्य है ? इसका तात्पर्य है कि यहाँ अवबोध 'विषय' की पृथकता ही समाप्त हो जाती है, वह आत्मा का 'अंग बन जाता है। इस प्रकार का ज्ञान जिसका अवबोध भोगकर, मूल्यानुभूत कर या आत्मसात् कर होता है आत्मा के दर्शन की विषय वस्तु है।

उपरोक्त विवेचन को स्पष्ट करने के लिए आत्मनिर्भर विषय तथा सत के भेद को स्पष्ट करना आवश्यक है। आत्म--अवस्थित विषय की चेतना विषयनिष्ठ अवस्थिति की चेतना है यहाँ विषयनिष्ठा से सम्बन्ध टूटा नही विचार की प्रकृति विषयपरक ही रहती है। किन्तु सत् की चेतना इस प्रकार की अभिवृत्ति से सभव नही। सत को तो विषय बनाकर जाना ही नही जा सकता उसके अवबोध के लिए उसे भोगना हे अनुभूत करना हे आत्मसात करना हे। यह क्रिया आत्मकेन्द्रित क्रिया हे जहाँ विषय की दूसरे विषय से सम्पर्क नही हे। यह एक उपभोगी चेतना हे ओर आत्मा के दर्शन का मूल सम्बन्ध इसी विषय से है। इस चेतना का केन्द्र 'मे हे ओर इसे अन्तर्निरीक्षण के द्वारा ही जाना जा सकता है। अन्तर्निरीक्षण मे 'विषय से या विषयपरकता से सम्बन्ध पूर्णतया टूट जाता है। यह ऐसा आत्मकेन्द्रन हे जिसके अवबोध मे विषय मान सर्वथा नही हे।

परन्तु इस अन्तर्निरीक्षण आधारित चेतना के भी तीन स्तर है जो क्रमिक भी है-

(क) प्रथमत मे की चेतना यह मे . आ शरीरधारी है।

(ख) पुन उस चेतना मे आत्म की चेतना हे। जिसमे अन्य आत्मो की चेतना भी उत्पन्न हो जाती है।

(ग) इस आत्मकेन्द्रित अन्तर्निरीक्षण मे एक परम आत्म की चेतना भी उत्पन्न हो जाती है। यही चेतना धार्मिक चेतना का आधार बन जाती हे। आत्मा के दर्शन मे इन तीनो स्तरो से सम्बन्धित समस्याओ पर विचार होता है।

3 5 सत्यता का दर्शन - (Philosophy of Truth)

सैद्धान्तिक चेतना के उपरोक्त स्तर (आत्मा का दर्शन) पर पूर्ण मुक्ति सभव नही हो पाती है। वास्तविक मोक्ष की स्थिति मे मे' की अनुभूति का भी बिलय हो जाता है। इससे भी उच्चतर आध्यात्मिक चेतना सम्भव है जहाँ उपरोक्त स्थिति की प्राप्ति सभव है। यह चेतना 'आत्म', 'विषय' आदि के भेद से ऊपर उठ जाती है, यह चरम या परम सत्य की चेतना है। जिसे निरपेक्ष सत् भी

कहा जाता है। इस चेतना में ... की भावना का निषेध हो जाता है। पूर्ण निरपेक्ष सत को भोगा नहीं जा सकता आत्म अपने में आत्मसात नहीं कर सकती है। इसमें विश्वास एक ऐसे अवबोध पर आधृत है जो निषेधों से संरचित है प्रतीकों में संकेतित है। यह सैद्धान्तिक चेतना का उच्चतम रूप है। इसी कारण इस चेतना को न आत्मपरक कहा जा सकता है और न विषयपरक। इसे पूर्णतया अनुभवातीत चेतना कहा जाता है। इसी अर्थ मे इस चेतना के विषय अनिर्वचनीय है पूर्णतया अनिर्धारित है। यही अनिर्वनीय परमसत सत्यता के दर्शन का केन्द्र है। इन्द्रियो की यहाँ तक पहुँच नहीं है। वाणी के द्वारा इसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

निरपेक्ष सत या ईश्वर की विशेषताओं के सम्बन्ध में पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा का मन्तव्य है कि परमसत का कोई निर्वचन शक्य नहीं है। क्योंकि निर्वचन करते ही बुद्धि समग्र को खड-खड कर डालती है वस्तुत निषेधात्मक निरूपण ही सर्वोत्तम निरूपण है। इसी तरह से प्रो० कृष्णचन्द्र भटटाचार्य का भी विचार है कि वस्तुत हम निषेध के माध्यम से ही निरपेक्ष सत् की अवगति या अवबोध तक पहुँच सकते है। कोई भी ज्ञात भाव या कोई ज्ञात अन्तर्वस्तु निरपेक्ष सत् का निरूपण करने मे असमर्थ है क्योंकि हर भावात्मक सम्बन्ध उसे कुछ हद तक सीमित कर देगा। यदि किसी प्रकार हम निषेध-प्रक्रिया को उसकी उच्चतम सीमा तक ले जा सके तो इसी रूप मे निरपेक्ष सत् की अवगति सम्भव है। अत निषेध को उनके दर्शन के आधार के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। 'निषेध' का अर्थ है किसी वस्तु की भ्रामकता के आधार पर निरसन। साधारण भ्रम के उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। जब हम रज्जु-सर्प के भ्रम मे सर्प की प्रतीति का खण्डन करते है तो हम 'निषेध' का स्पष्ट उपयोग करते है। रज्जु-सर्प के भ्रम मे सर्प भ्रामकता के कारण निषेधित हो गया। किसी भी वस्तु का निषेध करते समय भ्रामकता के निषेध की चार सम्भावनाये उभर कर सामने आती है —

(1) जो कुछ भी देखा गया है उसी का निषेध होता है।

(2) भ्रम मे जो दिखाई देता है वह भावात्मक तो है किन्तु तथ्य से भिन्न है और किसी प्रकार उस समय तथ्य से सम्बन्धित भी।

(3) जा भ्रम मे दिखाइ दता ह अर्थात जा निषाधित हाता है वह तथ्य ही है।

(4) जो निषेधित हाता ह वह काई सत्ता नही। यहा निषेध प्रक्रिया सभी सत्ताओ से ऊपर उठ जाती है।

उपर्युक्त वर्गीकरण को यदि ध्यान के विभिन्न भावात्मक एव अभावात्मक रूपो के साथ मिलाकर विचार किया जाय तो ध्यान के चार स्तर हाते है --

(1) पहले स्तर म ध्यान भावात्मक रूप म विषयवस्तु पर केन्द्रित होता है।

(2) दूसरे स्तर मे ध्यान क्रमश विषयी एव विषय दोनो पर केन्द्रित होता है।

(3) तीसरे स्तर म ध्यान विषयी - विषय दोनो पर एक साथ केन्द्रित होता है अर्थात् यहाँ ध्यान का केन्द्र विषयी - विषय का एक सगठित रूप हो जाता है।

(4) चतुर्थ स्तर निषेधात्मक ध्यान का स्तर है जहाँ एक प्रकार से विषयी - विषय से ध्यान का प्रत्याहरण हो जाता है ध्यान दोनो से परे हो जाता है।

प्रा० भट्टाचार्य का मत ह कि इस वर्गीकरण क आधार पर निषेध के विभिन्न ढगो तथा उनके अनुरूप दार्शनिक दृष्टियो का निर्धारण निम्नवत् किया जा सकता है —

(1) निषध का प्रथम स्तर ध्यान के उस प्रथम स्तर के अनुरूप है जिसमे ध्यान दृष्टिपथ / विचारपथ पर आए हुए सम्पूर्ण विषयो मे से किसी विषय पर केन्द्रित होता है उसके अलावा बाकी सब कुछ निषेधित हो जाता है। अत यहाँ उस वस्तु का निषेध हो रहा है जो विषय के रूप मे स्पष्ट नही होता। यहाँ विषय जो प्रदत्त है वह पूर्णतया विषयनिष्ठ है। यहाँ एक प्रकार की विषयनिष्ठता की अभिवृत्ति उत्पन्न होती है। अत इसके अनुरूप जो दार्शनिक दृष्टि सगठित होती है उसे सर्वबाह्यवाद या सर्वविषय निष्ठतावाद कहा जा सकता है।

(2) दूसरे स्तर पर ध्यान बारी-बारी से विषय तथा विषयी दोनो पर केन्द्रित होता रहता है। इसमे विषय तथा विषयी परस्पर विरोधी नही प्रतीत होते और न दोनो को भ्रामक ही कहा जा सकता है। अत कहा जा सकता है कि जब कम मे ध्यान ' विषय ' पर केन्द्रित होता है तो उस समय विषयी निषेधित हो जाता है। ओर जब विषयी पर ध्यान केन्द्रित हो जाता है उस समय विषय निषेधित हो जाता है। इस प्रकार विषय और विषयी क्रमश निषेधित होते रहते है। इस प्रकार के निषेध के अनुरूप जो दार्शनिक सिद्धान्त उभरता है उसे द्वैतवाद कहा जाता है।

(3) इस स्तर पर ध्यान विषयी और विषय पर एक साथ केन्द्रित होता है। ध्यान की इस विधा मे विषय-विषयी एक व्यवस्था के दो पक्ष के रूप मे स्पष्ट होते है। इस अवस्था की एक विशिष्टता यह भी है कि इसमे पूर्ण अनिश्चितता भी नही रहती साथ-साथ यह भी प्रतीत होता रहता है कि ध्यान की यह अवस्था अन्तिम अवस्था नही है। भट्टाचार्य कहते है- इस अवस्था मे विषयी भी विषय के रूप मे स्पष्ट हो सकता है तथा विषय भी विषयी के रूप मे स्पष्ट हो सकता है। इस प्रकार दोनो का भेद मिटता प्रतीत होता है। फिर भी साथ-साथ यह भी प्रतीत होता रहता है कि यह ध्यान की अतिम अवस्था नही है, इसमे एक सगठित व्यवस्था की प्रतीति होती है किन्तु साथ-साथ यह भी लगता रहता है कि ध्यान की विधाये समाप्त नही हुई।[1]

(4) इस स्तर मे ध्यान किसी भावात्मक बिन्दु पर केन्द्रित नही होता-न किसी आत्मनिष्ठ और न किसी विषयनिष्ठ बिन्दु पर इसका प्रारम्भ है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी प्रवृत्ति भी भावात्मक ही है। यहॉ प्राथमिक बिन्दु जिससे इस अवस्था का प्रारम्भ है, वह एक प्रकार की व्याघातकता की स्थिति हो जाती है जिसे अनुभवातीत निषेध कहा जा सकता है।

---

1 K C Bhattacharya—Studies in Philosophy edited by Gopi Nath Bhattacharya and Published by Motilal Banarsidass, Delhi Varanasi, p. 571

यहाँ हर प्रकार क अवधारक निषेधित हो जाते है। ध्यान की इस निषेधात्मक विधा मे क्या प्रकाशित हुआ यह निर्धारित नही होता किन्तु यह विधा ही एक प्रकार की निश्चितता के साथ स्पष्ट होती है। निरपेक्ष रात क अवबोध का यही आधार है। यह निषेध का तथा अभावात्मक ध्यान का पूर्ण विकसित रूप हे। जहाँ आत्म की चेतना मे 'आत्म' का ही निषेध हुआ रहता हे। इसीप्रकार की क्रिया से निरपेक्ष सत् का अवबोध सभव है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि निषधो के विभिन्न स्तरो के माध्यम से ही परमसत् या निरपेक्ष सत् की ओर उठने की प्रक्रिया चलती है। इसी अर्थ मे निषध को प्रो० कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के तात्विक विचारो का आधार कहा जा सकता है।

प्रो० भट्टाचार्य क अनुसार ब्रह्म के तीन रूप है- सत्, तत्व और मूल्य। वेदान्त के सूत्रो मे ब्रह्म को तत् त्वम् असि कहा गया हे। सर्वनामो का प्रयोग स्पष्टत प्रत्ययो के अभाव का एव ब्रह्म के अनिश्चित स्वरूप रहने का परिचायक है। सर्वनामो का पयोग इसलिए किया गया है कि ब्रह्म वर्णनातीत है। हम केवल यही कह सकते है कि 'त्वम्' सभी अनुभूतियो मे अन्तर्निहित ज्ञाता है, 'तत्' असीम तत्व के रूप मे ब्रह्म है तथा 'असि' ज्ञाता और ज्ञेय की अनिश्चित स्थिति मे 'मूल्य' है। असीम सत्ता के रूप मे ब्रह्म तत्व हे ज्ञाता के रूप मे वह 'आत्मा' है और ज्ञाता और ज्ञेय ये मुक्त रूप मे वह मोक्ष अथवा मूल्य स्वरूप-चरम-मूल्य है। प्रो० भट्टाचार्य के अनुसार ब्रह्म इन तीनो स्वरूपो का सश्लेषण नहीं है अपितु उसकी समष्टि है। मूल्य (मोक्ष) को तत्व या सत् मे परिणत नहीं किया जा सकता है। सत्, तत्व और मूल्य ब्रह्म के स्वतत्र रूप है जो एक दूसरे के साथ सम्बन्धित भी है।

3.6 विषयिनिष्ठता का भाव NOTION OF SUBJECTIVITY

विषयी एव विषय मे अन्तर

प्रो० भट्टाचार्य के अनुसार तत्त्वमीमासा मे दो प्रमुख पद है- एक विषयी तथा दूसरा विषय। इन्ही पदो को लेकर दर्शनशास्त्र में क्रमश प्रत्ययवाद और यथार्थवाद- दो दार्शनिक विचारधारायें

उभरकर सामन आयी है। परन्तु यथार्थवादी और प्रत्ययवादी किसी भी दृष्टिकोण द्वारा परमसत् क स्वरूप का अन्तिम निरूपण नही किया जा सकता क्योंकि इन परस्पर विरोधी धाराओ मे ज्ञाता और ज्ञय के द्वैत को अन्तिम मान लिया गया है। यथार्थवादी या वस्तुवादी दृष्टिकोण मे वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की जाती है। उसके अस्तित्व के लिए ज्ञाता का अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक नही। प्रत्ययवादी दृष्टिकोण चेतना के ज्ञाता स्वरूप का भी अन्तिम और मूल मान लेता है। किन्तु, परम सत् इन दोनो रूपो से भिन्न रूप मे अवस्थित है। इसलिए सम्बन्धात्मक चेतना के माध्यम से उसे अभिव्यक्त करना उचित नही। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक सब्जेक्ट एज फ्रीडम' मे प्रो० भट्टाचार्य विषय की परिभाषा देते हुए कहते है कि विषय वह है जिसे अभिप्रेत किया जा सके। इसे हम ह्वाट इज मीन्ट' कह सकते है। विषय की चेतना सदैव अर्थ चतना होती है। 'अर्थ चेतना' सदैव सम्बन्धो के बीच होती है। दूसरे शब्दो मे विषय चेतना वस्तुओ का क्या स्वरूप है? उसकी क्या विशेषताये है? एक विषय दूसर विषय से किस प्रकार सम्बधित है उनमे आपस मे समानता है या असमानता आदि तथ्यो से सम्बन्धित होती है। विषयी - चेतना सदेव अर्थ-चतना से भिन्न होती है। विषयी - चेतना विषय से अपने को अलग करने मे निहित है। विषयी एक ऐसी सत्ता है जो अर्थो के जगत् से पृथक् होते हुए भी एक अपूर्व अर्थ मे अर्थपूर्ण है। इस प्रकार के ज्ञान को अन्त अनुभूति की सज्ञा दी जाती है। यह अर्थ-चेतना नही है बल्कि स्वचेतना है। अर्थचेतना मे द्वैत का बोध रहता है किन्तु अन्तरतम की चेतना मे द्वैत का बोध नही रहता है।

एफ० एच० ब्रेडले का मत है कि विचारो के माध्यम से सत् की प्राप्ति नहीं की जा सकती। क्योकि विचार अस्तित्व और अन्तर्वस्तु के द्वेत से सयुक्त होता है। जबकि सत् मे इसका पूर्ण तादात्म्य पाया जाता है। कहने का तात्पर्य है कि सत् की प्राप्ति मे विचार को आत्महत्या करनी पडेगी। इस स्थल पर प्रो० भट्टाचार्य प्रसिद्ध फ्रासीसी दार्शनिक ब्रेडले से पूर्ण सहमति रखते है। अपनी पुस्तक 'आभास और सत्' मे ब्रैडले कहता है कि निर्विकल्प अनुभूति की अवस्था मे ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत समाप्त हो जाता है।

'निरपेक्ष तत्त्व दर्पण मे अपने प्रतिबिम्ब को नही देखता चाहता और न गिलहरी की तरह किसी पिजडे मे अपने पूर्णता के वृत्त की परिक्रमा ही करना चाहता है।[1] पूर्ण अवस्था की प्राप्ति पर

---

1 Bradley F H Appearance and Reality, p 152

गति के लिए कोई अवकाश नही रह जाता है। इस प्रकार की पूर्ण अवस्था मे उस अव्यवहितत्व का एक श्रेष्ठ रूप होगा जो अनुभूति मे पाया जाता है और इस पूर्णता म सारे विभाग विलीन हो जायेगे।

वह एक ऐसा पूर्ण अनुभव होगा जिसमे सारे तत्व समन्वित रूप मे होगे। वहाँ विचार एक श्रेष्ठ अनुभूति के रूप मे होगा सकल्प का वह रूप होगा जिसमे आदर्श यथार्थ हो चुका होगा और इस समस्त सिद्धि मे सौन्दर्य सुख तथा भावना सभी बनी रहेगी।

विषय की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति अग्रेजी शब्द दिस द्वारा की जा सकती है। कोई भी विषय दिस कहा जा सकता है। एफ० एच० ब्रडल ने भी दिस को विषय का सकेत सूचक माना है।[1]

विषयी की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति अग्रेजी शब्द आई' के द्वारा की जा सकती है। वह (He) तथा तुम (You) शब्द भी विषयी के लिए प्रयुक्त किये जा सकते है। परन्तु जहाँ तक विषयी की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का प्रश्न है विषयी की मे के रूप मे अभिव्यक्ति ही' तथा 'यू' से अधिक मोलिक प्रतीत होती है। आचार्य शकर के दर्शन म भी तत्त्वमसि' की अनुभूति के उपरात ही **'अह ब्रह्मास्मि** की अनुभूति होती है। एसा प्रतीत होता है कि आचार्य शकर भी **'अह ब्रह्मास्मि'** की अनुभूति को तत्त्वमसि की अनुभूति से अधिक मोलिक मानते है। अत इस स्थल पर भट्टाचार्य के विचार आचार्य शकर के ही विचारो का समर्थन करते है। विषय ओर विषयी के विवेचन को और सुस्पष्ट करते हुए भट्टाचार्य कहते है कि यह' शब्द का प्रयोग एक ही वस्तु के लिए एक साथ विभिन्न व्यक्तियो द्वारा तथा भिन्न-भिन्न वस्तुओ के लिए दिस' शब्द का प्रयोग करता है। तथा दूसरा वक्ता किसी भी दूसरी वस्तु के लिए दिस' शब्द का प्रयोग कर सकता है। वक्ता तथा श्रोता दोनो दिस' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं।

परन्तु 'आई' के साथ यह बात लागू नहीं होती है। यदि आई शब्द का प्रयोग मै करता हूँ तो मेरा अभिप्राय स्वय से है। यदि कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा प्रयोग करता है तो वह अपने सन्दर्भ मे करता है।

चूँकि विषय या वस्तुये भिन्न-भिन्न होती है अत विषय का प्रयोग व्यक्ति वाचक और समूह-वाचक दोनो रूपो मे किया जा सकता है। परन्तु विषयी को व्यक्ति वाचक या समूह वाचक नहीं कहा जा सकता है। कुछ सीमा तक कुछ अर्थो मे इसे व्यक्तिवाचक या समूह वाचक कह सकते है। इसे व्यक्तिवाचक कहते है क्योकि सभी व्यक्ति इसका प्रयोग अपने लिये करते है। इसे समूहवाचक इसलिए कहते है क्योकि सभी व्यक्ति इसका प्रयोग करते है।

कभी-कभी विषयी का विषय की तरह प्रयुक्त किया जा सकता है किन्तु विषय को कभी भी विषयी की तरह प्रयुक्त नही किया जा सकता है। यथा-यदि कोई व्यक्ति कहता है कि 'मै' नेता हूँ' तब यहॉ विषयी का वस्तुगत सन्दर्भ हो जाता है। यहॉ विषयी का अस्तित्व एक विशेष सन्दर्भ मे है। आई दिस' की तरह पतीत होता है। किन्तु कोई भी विषय विषयी की तरह प्रयुक्त नही किया जा सकता है।

पुन इन दोनो सत्ताओ की चर्चा करते हुए भट्टाचार्य कहते है कि ज्ञेय जगत की सत्ता के विषय मे सन्देह किया जा सकता है। उसका निराकरण सम्भव है किन्तु ' विषयी ' की सत्ता का निराकरण किसी भी स्थिति मे सभव नही है। भला जो समस्त विषयो के निराकरण का आधार है उसका निराकरण कैसे किया जा सकता है। सही बात तो यह है कि निराकरण शब्द की सार्थकता भी व्यावहारिक जगत (ज्ञेय जगत्) मे ही सम्भव है। ज्ञेय जगत के अन्तर्गत ही एक तथ्य का निराकरण अन्य तथ्यो के आधार पर सम्भव हो पाता है एक के निराकरण द्वारा दूसरे की सस्थापना होती है क्योकि दोनो सत्ताये एक जैसी ही है। किन्तु वह जो निराकरण की पृष्ठभूमि मे विद्यमान, निराकरण को सम्भव बनाने वाला आधारभूत तत्व है उसका निराकरण किस प्रकार और किसके द्वारा सभव है? पुन सामान्य विचार की भाषा में उक्त सत्ता अचिन्त्य कही जा सकती है। किन्तु ' वास्तव मे वह अचिन्त्य है यह कहना भी उपयुक्त नही। ' अचिन्त्य ' शब्द का प्रयोग उस सत्ता के लिए ही

किया जा सकता है जिसके निराकरण की कल्पना और प्रयास दोनो ही सभव है और जो उक्त प्रयास क बाद ही अचिन्त्य ठहराई गयी हो। किन्तु, विषयी तो एक ऐसी सत्ता है जिसके निराकरण की कल्पना और प्रयास दोनो ही असभव है। यह तो गूँगे द्वारा किया गया मीठे फल का रसास्वादन हे जिसकी अनुभूति तो वह कर सकता है परन्तु शब्दो के माध्यम से उसका वर्णन नहीं कर सकता। उपनिषदो मे इसी सत्ता का वर्णन करते हुए कहा गया है- **'यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'** प्रो० कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य शकराचार्य के इस मत से सहमत प्रतीत होते है कि ज्ञान के सभी साधनो की पूर्णता आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान मे पहुँचकर ही होती है।

चतुर्थ खण्ड

स्वातंत्र्योत्तर मूल्य-दर्शन का स्वरुप

अध्याय 1

सर्वोदयकारी मूल्य-दर्शन

महात्मा गॉधी एवं आचार्य विनोबा भावे

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के अग्रगण्य प्रणेता महामान्य गाधी एक दार्शनिक, राजनैतिक अथवा बौद्धिक विचारक ही नही थे वरन् तत्वत एक अनाशक्त कर्मयोगी थे। वे मूलत धार्मिक मानवतावादी, कर्मयोगी तथा अन्त प्रेरणा सपन्न पुरूष थे। मानव मात्र मे गहन अभिरूचि के कारण ही उन्होंने राजनीति मे प्रवेश लिया परन्तु राजनीति के आवरण मे वे एक धार्मिक पुरूष ही थे। अमेरिकी पादरी डा० जान हेन्स ने गॉधी जी को ईसा मसीह के बाद विश्व का सबसे महान पुरूष कहकर पुकारा था।[1] ईसा मसीह के बाद गॉधी जी ने इस पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य की परिकल्पना की थी। पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य से गॉधी जी का तात्पर्य सत्य, अहिसा तथा न्याय के शासन की स्थापना से है। जिसमे मानव द्वारा मानव के शोषण की समाप्ति निहित हो, एक सर्वोदयकारी समाज की स्थापना की आवश्यकता थी इसके लिए जीवन के वर्तमान मूल्यो का पुर्नमूल्याकन तथा नवीन मूल्यो का सृजन आवश्यक था। गॉधी जी के अनुसार सर्वोदय का अर्थ-आदर्श समाज व्यवस्था है और इसका आधार सर्वव्यापी प्रेम है।[2] गाधी जी युग पुरुष थे। वे क्रान्तिदर्शी[3] थे, बहुत दूर तक देख सकते थे, गाधी जी जानते थे कि स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् 'स्वराज्य' शब्द लोगो को प्रेरणा न दे सकेगा, न उत्साहित कर पायेगा। परिणामत उनकी सकल्प शक्ति क्षीण होती जायेगी। अत स्वराज्य प्राप्ति के

---

1 सूद जे० पी०-आधुनिक भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक विचार की मुख्य धाराये पृ० 4

2 गॉधी म० क०-सर्वोदय नवजीवन प्रकाशन मन्दिर अहमदाबाद पृ० 3

3 शाह कांतिभाई (सं०) गांधी जैसा देखा समझा विनोबा ने पृ० 15

बाद लोगो को कोई नया मूल्य चाहिए, नवीन विचार चाहिए नवीन साध्य चाहिए। अतएव पुराना साध्य चरितार्थ हो इसके पूर्व ही उन्होने नया ध्येय लोगो के समक्ष रख दिया। पुराना शब्द सार्थक होने से पूर्व ही दूसरा शब्द दे देना चाहिए, यह विचार कर उन्होने शब्द दिया-'सर्वोदय'।[1] स्वराज्य का काम भी सर्वोदय के अन्तर्गत था[2], क्योकि जब तक देश दूसरे के पजे मे पडा था उसका उदय होना सम्भव न था।

सर्वोदय अर्थात सबका उदय। जब तक सर्वोदय नहीं होता, तब तक शोषण कायम रहता है। शासन की पकड कायम रहती है। इसलिए स्वराज्य भी यथार्थ रूप मे लाने के लिए सर्वोदय की आवश्यकता है। सर्वोदय का यह सकल्प देश मे धीरे-धीरे जाग रहा है। विनोवा के अनुसार इस प्रकार के सकल्प एकदम नही जागते। "जो विचार चिरकालीन महत्व के होते है वे धीरे-धीरे उत्पन्न होते हे जबकि जो चिरकालीन नही होते, वे घास की तरह उगते है और वैसे ही जल्दी-जल्दी क्षीण हो जाते है। बापू का बोया बीज आज अकुरित हो रहा है, आवश्यकता है, सत्यता पूर्वक कार्य करके उसे पोषित करते रहने की।[3]

1 1 सर्वोदय सिद्धान्त

शिवमस्तु सर्वजगत परहित निरता भवन्तु भूतगणा ।

दोषा प्रयान्तुनाम, सर्वत्र सुखी भवन्तु लोक ।।

जीवन मात्र सुख की आकाक्षा है।[4] हमारा उदय या हमारा विकास ही जीवन है। ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से भी सुख प्रसार की झलक मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य का

---

1 उपर्युक्त पृ० 26

2 भावे विनोबा-सर्वोदय और स्वराज्य शास्त्र पृ० 80

3 शाह कातिभाई-गाधी-जैसा देखा समझा विनोबा ने (सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी पृ० 11

4 महाभारत शातिपर्व सर्वस्य सुखमीप्सितम्।

व्यक्तित्व समाज के नानात्व मे मिश्रित है। व्यक्तिगत सुख-भाव सामाजिक सुख-भाव से विलग नही रह सकता। यह समाज सम्बन्ध इतना बढा कि निरा स्वार्थ परार्थ की अवहेलना नही कर सका।[1] कुछ भी हो मनुष्य निरा स्वार्थ से स्वार्थ प्रधान परार्थ की ओर और फिर परार्थ प्रधान भौतिक सुख-नीति की ओर बढा है। अर्थात् स्वार्थ और परार्थ मे विरोध की स्थित उत्पन्न होने पर परार्थ को ही प्रधानता दी जाये। यही विश्व सुख-भावना के विकास की पृष्ठभूमि है जो सर्वोदय का सिद्धान्त दर्पण है।

सर्वोदय अर्थात् सबका उदय, उत्कर्ष, विकास। नि सदेह सर्वोदय शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग गॉधी जी ने किया था, किन्तु सर्वोदय की भावना, उसका आदर्श नवीन नही है। सर्वोदय की उपर्युक्त भावना भारतीय सस्कृति के मूल मे निहित है। भारत के प्राचीन धर्म-शास्त्र सर्वोदय की भावना से ओत प्रोत है। भारत वर्ष का तो यह परम पुनीत, पुरातन आदर्श है

सर्वे भवन्तु सुखिन , सर्वे सन्तु निरामया ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दु खमाप्नुयात्।।

महाभारत के इस श्लोक मे सर्वोदय का भाव ही छिपा है। वेद सभी प्राणियो के उदय की बात[2] करता है। गीता के 'आत्मवत् सर्व भूतेषु', 'सर्व भूत हितेरता', वसुधैव कुटुम्बकम् आदि उद्‌गारो मे वस्तुत सर्वोदय की ही भावना है। यही नही उपनिषद, वेदान्त और गीता मे 'आत्मौपम्य', 'साम्य' या एकत्व' की भावना मे सर्वोदय की झलक मिलती है। बौद्ध सस्कृति मे भी 'सघ और बोधिसत्व' की कल्पना का आधार भी सर्वोदय की भावना है।[3] ईशोपनिषद के प्रथम श्लोक[4] मे गॉधी जी को सर्वोदय के मूल तत्व की प्राप्ति हुई। परन्तु यह उल्लेखनीय तथ्य है कि वैदिक तथा प्राचीन बौद्ध वागमय मे सर्वोदय की भावना भले ही रही हो लेकिन सर्वोदय शब्द का व्यवहार नहीं मिलता है।

---

1 सिह नारायण मार्क्स और गॉधी का साम्य दर्शन हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। पृ० 11

2 भावे विनोबा सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र चतुर्थ सस्करण पृ० 89

3 सिह रामजी-गॉधी दर्शन मीमासा (बिहार हिन्दी ग्रथ अकादमी पटना

4 विनोबा-ईसावास्य-वृत्ति

1 2 सर्वोदय का अर्थ

सर्वोदय एक ऐसा अर्थवान शब्द है जिसका जितना अधिक चितन और प्रयोग करते जाये उतना ही अधिक अर्थ उससे प्राप्त करते जायेगे। सारा अर्थ एकदम नही धीरे-धीरे सूझेगा।[1] सर्वोदय का प्रयाग एवम् अर्थ उसके व्यापक चिन्तन मे निहित है। **सर्वोदय का शाब्दिक अर्थ है 'सबका उदय'[2], 'सब प्रकार से उदय' और सबके द्वारा उदय।** सब लोग जिये और एक दूसरे के साथ जिए। शास्त्रीय परिभाषा मे जीवन का विकास ओर जीवन का अधिकतर विस्तार[3] ही सर्वोदय का लक्ष्य है उद्देश्य है। हमने जीवन को परम मूल्य माना है। प्रत्येक वाद के अनुसार यही परम मूल्य हो सकता है। दुनिया मे जीवन का विस्तार और विकास करना। इस विषय पर चाहे आस्तिक हो या नास्तिक, अर्थवादी हो भौतिक विज्ञानवादी हो या राजनीतिज्ञ, किसी को कोई आपत्ति नही होगी। सभी इसे स्वीकार करेगे। 'सर्वे अपि सुखिन सन्तु'[4] सबका उदय ही सर्वोदय का सकल्प है। सब प्रकार स उदय इसकी विशिष्टता है और सबके द्वारा उदय इसका साधन है। परन्तु सब प्रकार से उदय का तात्पर्य यह कदापि नही है कि निकृष्ट सुखवादी निकृष्ट सुख की प्राप्ति सर्वोदय का लक्ष्य मान सकते है। सब प्रकार से उदय का तात्पर्य नैतिक व धार्मिक दृष्टि से है, जिसके अन्तर्गत लोकिक, पारलौकिक उत्थान शास्त्रीय भाषा मे अभ्युदय व नि श्रेयस सिद्धि दोनो का समावेश हे। अत सर्वोदय मे लौकिक, पारलौकिक दोनो प्रकार के मूल्यो की सिद्धि का आदर्श है।

आचार्य विनोबा सर्वोदय का सरलतम अर्थ बताते है "प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की फिक्र रखे और अपनी फिक्र ऐसी न रखे जिससे दूसरे को तकलीफ हो। परिवार मे यही भावना रहती है। परिवार का न्याय समाज पर लागू करना कठिन नही सरल होना चाहिए। इसी को सर्वोदय कहते है। विनोबा कहते हे कि जब ईश्वर ने विश्व मे मानव समाज का निर्माण किया है तो उसकी यह इच्छा कदापि

---

1 भावे विनोबा-सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र पृ० 39

2 गाँधी म० क०-सर्वोदय प्रस्तावनपा पृ० 8 हिन्दी नवजीवन

3 दादा धर्माधिकारी पृ० 14 9-12-56

4 भावे, विनोबा सर्वोदय [illegible] शास्त्र पृ० 8!

नही हो सकती कि मानव का परस्पर विरोध हो। अथवा एक का हित दूसरे के विरूद्ध हो। कोई पिता नही चाहता कि अपने एक पुत्र का हित दूसरे के विरूद्ध करे। अत लडको मे विचार भेद तो हो सकता है लेकिन हित विरोध नहीं। विनोवा के अनुसार "भिन्न-भिन्न विचार हो तो ऐसे अनेक विचार मिलकर एक पूर्ण विचार बन सकता है क्योकि किसी एक व्यक्ति को पूर्ण विचार सूझे यह सम्भव नही है। एक को एक अग सूझेगा दूसरे को दूसरा तो तीसरे को तीसरा। इस तरह मिलकर एक पूर्ण विचार होगा। इसलिए विचार भेदो का होना आवश्यक है इसमे दोष नही गुण ही है। परन्तु हितो मे विरोध नहीं होना चाहिए।[1] परन्तु हमने अपना जीवन ऐसा बना लिया है कि एक के हित मे दूसरे के हित का विरोध पैदा होता है। धन आदि जिन चीजो को हम लाभकर मानते है। उनका सग्रह हम सामने वाले के हितो को आहत करके भी करते है। विनोवा के अनुसार हमने प्रेम से अधिक मूल्य स्वर्ण को दे रखा है। विश्वव्यापी स्वर्णमाया का परिणाम है कि परस्पर जो मेल या समन्वय सरल होना चाहिए था कठिन हो गया है। उसमे या समन्वय के शोध मे कई राजकीय, सामाजिक और आर्थिक शास्त्र बन गये है।[2] परन्तु एक सादी सी बात समझ ले तो सब कुछ सध जायेगा। इन दो उपायो से सबका भला हो सकता है। इससे प्रेरणा मिलती है कि हमे अपनी कमाई का खाना चाहिए। दूसरे की कमाई का नहीं खाना चाहिए। हमे अपना भार दूसरे पर नही डालना चाहिए। दूसरे का धन किसी प्रकार ले ले। इसे अपनी कमाई नही कहा जा सकता है। कमाई का अर्थ है, प्रत्यक्ष पैदाइश। उपर्युक्त नियमो के पालन से ही 'सर्वोदय समाज' का प्रचार प्रसार विश्व मे हो सकेगा।[3] गॉधी जी भी शरीर श्रम अनिवार्य मानते है। गॉधी जी के अनुसार गीता का तीसरा अध्याय कहता है कि यज्ञ का अर्थ है मुख्यत परोपकार के लिए शरीर का उपयोग।[4] यज्ञ किये बिना जो मनुष्य खाता है वह चोरी का अन्न खाता है।

---

1 विनोबा व्यक्तित्व एव विचार पृ० 347

2 भावे, विनोबा सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र पृ० 39-40

3 भट्ट कृष्ण दत्त बाबा विनोबा पृ० 112

4 भट्ट कृष्ण दत्त बाबा विनोबा, पृ० 112

आज जिस अर्थ मे सर्वोदय हमारे समक्ष प्रस्तुत है उसका प्रयोग सर्व प्रथम गॉधी जी ने रस्किन के अन टू दि लास्ट' के सक्षिप्त गुजराती छायानुवाद मे किया है। गॉधी जी ने लिखा है कि 'इस पुस्तक का उद्देश्य सबका उदय है अत मैने इसका नाम सर्वोदय रखा है।[1] इस पुस्तक के समस्त विचारो मे गॉधी जी ने सर्वोदय का ही भाव देखा है। उन्होने सर्वोदय के विचारो को तीन वाक्यो मे सूत्र-बद्ध किया है--

१ सबकी भलाई मे अपनी भलाई है।

२ वकील और नाई दोनो के काम की कीमत एक सी होनी चाहिए। क्योकि प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यवसाय द्वारा अपने जीवकोपार्जन का समान अधिकार है।

३ मजदूर किसान और कारीगर का जीवन ही सच्चा और सर्वोत्कृष्ट जीवन है।

गॉधी जी के अनुसार 'केवल मानसिक अर्थात बौद्धिक श्रम आत्मा के लिए होता है। उस श्रम का कोई पारिश्रमिक नही मागना चाहिए। आदर्श स्थिति मे डॉक्टर, वकील, और ऐसे ही दूसरे लोग केवल समाज के लाभ के लिए काम करेगे, न कि अपने लिए। शारीरिक श्रम का कानून मानने से समाज की रचना मे एक मूल क्राति होगी। मनुष्य की विजय जीवन सग्राम के स्थान पर परस्पर सेवा के सग्राम की स्थापना करने मे होगी। पशु धर्म की जगह मानवधर्म ले लेगा।[2] वर्तमान सामाजिक व्यवस्था व्यक्ति के पारस्परिक हितो मे विरोध का निर्माण करती है। सर्वोदय वर्तमान समाज रचना मे, जीवन मूल्यो मे क्राति की भावना का आह्वान करता है। अत कौटुम्बिक या पारिवारिक जीवन मूल्यो का विनियोग सामाजिक जीवन मे करने की साधना कर रहा है।[3]

गॉधी जी उपर्युक्त सिद्धान्तो के आधार पर आदर्श समाज व्यवस्था-सर्वोदय समाज की स्थापना करना चाहते थे। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अपने सपनो के नवीन समाज की

---

1 गॉधी, म० क० सर्वोदय नवजीवन अहमदाबाद पृ० 8

2 गॉधी म० क० सर्वोदय पृ० 22-23

3 सिह डा० रामजी, गॉधी दर्शन, मीमासा पृ० 45

स्थापना के लिए वे न रहे। उनके अधूरे पडे कार्यो को उनके अग्रगण्य शिष्य आचार्य विनोवा भावे ने जारी रखा। गॉधी के मानस पुत्र अथवा आध्यात्मिक उत्तराधिकारी विनोवा मे वैसी ही सरलता अन्तर्दृष्टि व मौलिकता पायी जाती थी जैसी गॉधी जी मे थी।

1 3 सर्वोदय और उपयोगितावाद

सर्वोदय का सिद्धान्त उपयोगितावादियो के अधिकतम व्यक्तियो के 'अधिकतम सुख' के सिद्धान्त से भिन्न है। उपयोगितावादी विचारक बेन्थम ने स्वहित वाद को मनुष्य के समस्त कार्यो की कसोटी माना है। बेन्थम के बाद मिल ने बेन्थम के सिद्धान्त मे सशोधन किया और सुख के मात्रात्मक मापदण्ड को अस्वीकार कर गुणात्मक मापदण्ड को स्वीकार किया। क्योकि मिल के अनुसार व्यक्ति मे परार्थ की भावना भी होती है। अत उनके विद्वान अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम हित को स्वीकार तो करते है परन्तु सर्वोदय उनके लिए कल्पनातीत है। रस्किन की पुस्तक 'अन टू दि लास्ट' के इस प्रथम सूत्र—समष्टि के श्रेय मे व्यक्ति का श्रेय निहित है—के सत्य को न समझ पाने के कारण ही, सर्वोदय का आदर्श हमे स्वप्नचारी ओर काल्पनिक प्रतीत होता है। अधिकाश व्यक्तियो के अधिकाश सुख मे तो सघर्ष की स्थिति आ सकती है किन्तु सर्वोदय मे नही। सर्वोदय उपयोगितावाद से आगे है 'इसलिए उपयोगितावाद सर्वोदय के अन्दर समाहित हो जाता है'[1]। गॉधी जी के अनुसार 'अहिसा का पुजारी उपयोगितावाद का समर्थन नहीं कर सकता। वह तो सर्वभूतहिताय अर्थात सबके अधिकतम हित के लिए प्रयत्न करेगा और इस आदर्श की प्राप्ति मे मर जायेगा। इस प्रकार वह इसलिए मरना चाहेगा कि दूसरे जी सके[2]। दूसरो के साथ-साथ वह अपनी सेवा भी आप मरकर करेगा। सबके अधिकतम सुख के भीतर अधिकाश का अधिकतम सुख भी मिला हुआ हे और इसलिए अहिसावादी और उपयोगितावादी अपने रास्ते पर कई बारे मिलेगे किन्तु अन्त मे ऐसा भी अवसर आयेगा जब उन्हे अलग-अलग रास्ते पकडने होगे और किसी न किसी दिशा मे

---

1 गॉधी म० क०—हिन्दू धर्म पृ० 209

2 गॉधी, म० क० हिन्दी नवजीवन 9-12-1926

एक दूसरे का विरोध भी करना होगा। तर्क सगत बने रहने के लिए उपयोगितावादी कभी अपने को बलि नही कर सकता है । अहिसावादी सदैव मिट जाने के लिए तैयार रहेगा।"[1]

अधिक से अधिक लोगो का अधिक से अधिक सुख हो, वास्तव मे इसी मे बहुसख्यको के झगडे का बीज निहित है लेकिन सर्वोदय की दृष्टि जैसा कि गीता ने कहा है "सर्वभूतो के हितो मे रत होने की है।"[2] ज्ञानदेव ने तो लिखा है कि लिखने या बोलने का ढग ऐसा होना चाहिए, जिससे एक को लक्ष्य करके कहते हुए भी वह सबके हित का हो। अर्थात वह कथन सर्वोपयोगी, सर्वोदयकारी हो।[3] उपयोगितावाद का दृष्टिकोण "उपयोगिता का होता है, सर्वोदय की दृष्टि त्याग ओर बलिदान की है। उपयोगिता की दृष्टि मे हम युद्ध और हत्या को भी नैतिक मान सकते हे, किन्तु सर्वोदय विचार मे इसको कभी भी समर्थन नहीं मिल सकता है। 'यही कारण है कि सर्वोदय बहुसख्यक और बहुमत के प्रमाद मे नहीं पडता है। वहा अत्योदय से कार्य प्रारम्भ होता है"[4]

सर्वोदय की धारणा सुखवाद की धारणा से भिन्न है। सुखवाद के अनुसार अधिक से अधिक भौतिक सुखो की प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है। अत जिस कार्य से सुख मिलता है वह उचित और जिससे दुख मिलता है वह अनुचित है। विनोवा के अनुसार सुख और दुख मे आपस मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे एक दूसरे के जनक है।[5] अर्थात सुख से दुख उत्पन्न होता है और दुख से सुख। अतिशय सुख भी दुख का कारण है। क्योकि इससे उन सुखो को सुरक्षित रखने की चिन्ता बनी रहती है जो दुख का कारण है। इसी प्रकार दुख से भी सुख की प्राप्ति होती है क्योकि कठिन समस्या के बाद ही त्याग और फल की प्राप्ति होती है। अत सर्वोदय का लक्ष्य धनवानो के सुखो

---

1 गॉधी म० क० सर्वोदय पृ० 4

2 भावे विनोबा—सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र

3 उपरोक्त पृ० 83

4 उपरोक्त पृ० 47

5 भावे विनोबा—सर्वोदय और साम्यवाद (सर्व सेवा संघ प्रकाशन पृ० 4

ओर गरीबो के दुखो का आपस मे बटवारा करना है। सर्वोदय सारे समाज का हित चाहता है।[1] सर्वोदय आन्दोलन की एक अन्य विशेषता भी उल्लेखनीय है जो न तो फेबियनवाद मे और न ही ग्रीन की सामान्य हित की धारणा मे है जो कि सर्वोदय के आदर्श के बहुत निकट है, इस बात को कोई मान्यता नही दी गयी हे कि व्यक्ति से अपने आपको सामान्य हित के लिए बलिदान करने का अनुरोध किया जा सकता है, जैसे सर्वोदय इस बात का आग्रह करता है,—अहिसा का पुजारी सबके अधिकतम हित के लिए प्रयास करेगा और इस आदर्श की प्राप्ति के प्रयास मे अपने प्राणो को उत्सर्ग कर देगा।[2]

1 4 सर्वोदय तथा साम्यवाद

सर्वोदय और साम्यवाद परस्पर विरोधी सिद्धान्त है। यद्यपि दोनो का ही लक्ष्य शोषण विहीन समाज रचना है। अत कुछ लोग गॉधीवाद को हिसा-वर्जित-साम्यवाद भी कहते है। परन्तु विनोवा के अनुसार इन दोनो विचारो का कभी मेल नही हो सकता, इनका विरोध अत्यन्त मूलगामी है।[3] मार्क्सवाद की महत्वपूर्ण मान्यता 'वर्ग सघर्ष' का सिद्धान्त है। "अब तक के समाज का इतिहास वर्ग सघर्ष का इतिहास है और समाज का प्रत्येक रूप शोषक और शोषित वर्गो के विरोध पर आधारित हे ।[4] इसके विपरीत गॉधी जी के अनुसार वर्ग सिद्धान्त बुनियादी तौर पर गलत है। उन्होने कहा हे— 'भारत वर्ष की मूलभूत प्रकृति के लिए 'वर्ग सघर्ष' अग्राह्य है और वर्ग सघर्ष का विचार मुझे बिल्कुल नही जॅचता"[5] उन्होने लिखा है—पश्चिम का समाजवाद और कम्युनिज्म कुछ ऐसी मान्यताओ पर आधारित है, जो हमारी मान्यताओ से बुनियादी तौर पर भिन्न है। विनोवा के शब्दो मे गॉधी विचार

---

1 उपरोक्त पृ० 33

2 गॉधी म० क०—सर्वोदय पृ० 4 हिन्दी नवजीवन 9-2-26

3 भावे विनोबा—सर्वोदय और साम्यवाद पृ० 14

4 कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो (194) ग्रेट पालिटिकल थिकर्स पृ० 691-697 मे उद्धृत

5 दीक्षित गोपीनाथ—गॉधी जी की चुनौति कम्युनिज्म को पृ० 12

के चारो तरफ एक आध्यात्मिक तेज-पुज दिखाई देता है। जबकि साम्यवाद के पीछे शास्त्रीय परिभाषा का जबरदस्त पृष्ठबल दिखाई देता है।[1] विनोवा साम्यवाद को आसक्ति (रागद्वेषात्मक) का विचार[2] कहते है। विनोवा के अनुसार मार्क्सवादी सभी वस्तुओ मे सघर्ष ही देखते है शायद वे बच्चो द्वारा मॉ के स्तनपान मे भी एक महान सघर्ष देखेगे।[3]

सर्वोदय या साम्ययोग मानव-२ मे भेद नही करता बल्कि मानव आत्मा तथा प्राणी मात्र की आत्मा मे भी बुनियादी भेद नहीं मानता। इतना अवश्य मानता है कि मानव की आत्मा मे जो विकास सम्भव है वह दूसरे प्राणियो की आत्मा मे नहीं हो सकता। साम्यवाद आत्मा की इस एकता को नहीं मानता जबकि साम्ययोग मानता है।[4]

उपयोगितावाद, सुखवाद, मार्क्स के वर्ग सघर्षवादी सिद्धान्तो के विरुद्ध सर्वोदय की मान्यता है कि सबका उदय कोरा स्वप्न या आदर्श मात्र नही है। सर्वोदय का उच्च आदर्श न तो अप्राप्त है और न ही असाध्य वरन् प्रयत्न साध्य है। सर्वोदय का आदर्श है अद्वैत और उसकी नीति है-समन्वय। समन्वय साधन हैं अद्वैत साध्य है। यह मानव-कृत विषमता का निराकरण और प्राकृतिक विषमता को घटाना चाहता है। सर्वोदय की दृष्टि मे जीवन विज्ञान भी है और कला भी। प्राणी मात्र के लिए समादर प्रत्येक के प्रति सहानुभूति ही सर्वोदय का मार्ग है। जीव मात्र के लिए सहानुभूति का यह अमृत जब जीवन मे प्रवाहित होता है तो सर्वोदय की लता मे सुरभिपूर्ण सुमन खिल उठते है समाज मे इन्ही मानवीय मूल्यो की स्थापना के लिए सर्वोदय है।[5]

डार्विन ने मत्स्य-न्याय को प्रकृति का नियम बताया। उसके अनुसार जो सबसे अधिक सक्षम हे वही जीवन सग्राम मे बचेगा लेकिन मनुष्य बाघ, सिंह हाथी, घोडे आदि के समक्ष तो एक अत्यन्त

---

1 भावे विनोबा—साम्ययोग और साम्यवाद, पृ० 10

2 भावे विनोवा-सर्वोदय और साम्यवाद पृ० 13

३ भावे विनोवा-साम्यायोग और साम्यवाद पृ० 11

4 उपर्युक्त पृ० 26

अक्षम जीव है इसलिए हक्सले ने दूसरो को खा कर जियो के स्थान पर जियो और जीने दो का सिद्धान्त दिया। अर्थात सर्वाधिक सक्षम ही नही वरन् जो दूसरो को जीने देते है वे जीते है। सर्वोदय हक्सल से भी एक कदम आगे जाकर कहता है 'दूसरो को जिलाने के लिए जियो।[1] सर्वोदय का आदर्श उत्कृष्ट है। यह जीवन के शाश्वत और व्यापक मूल्यो की स्थापना करना चाहता है ओर ...क मूल्या का निराकरण। यह कार्य न तो विज्ञान द्वारा सम्भव हे ओर न सत्ता द्वारा।

गॉधी जी के मतानुसार सर्वोदय का अर्थ आदर्श समाज व्यवस्था है और इसका आधार सर्वव्यापी प्रेम है।[2] सर्वोदय ऐसे वर्ग-विहीन जाति-विहीन और शोषण-विहीन समाज की स्थापना करना चाहता है जिसमे पत्येक व्यक्ति व समूह को अपने सर्वागीण विकास के साधन और अवसर मिलेग। आहिसा सत्य अपरिग्रह के द्वारा ही यह क्राति सम्भव है सर्वोदय इसी का प्रतिपादन करता है।

सर्वोदय जिस क्राति का प्रतिपादन करता है उसके लिए जीवन मूल्यो मे परिवर्तन करना होगा। हम द्वेत स अद्वेत की ओर, भेद से अभेद की ओर बढना होगा 'सर्वखल्विद ब्रह्म' की अनुभूति करनी होगी। प्राणी मात्र मे जगत के कण-२ मे एक ही सत्ता के दर्शन करने होगे 'सोऽहम' और तत्वमसि के हमारे आदेशो मे सर्वोदय की भावना ही भरी पडी है। 'वसुधैव कुटुम्बकम' की भावना से ओत-प्रोत होने पर ही सर्वोदय के आदर्श की प्राप्ति होगी।

1 5 सर्वोदय दर्शन के आधार भूत सिद्धान्त

समाज विकास का एक प्रमुख सिद्धान्त है कि सघर्ष ही विकास को गति देता है। सघर्ष ही जीवन है, सघर्ष ही विकास का रहस्य है। इस जीवन सग्राम मे योग्यतम की उत्तरजीविता का ही नियम है। इसलिए प्राणीमात्र मे जीने की एक स्पर्धा एक प्रतियोगिता है। आर्थिक क्षेत्र मे प्रतिस्पर्धा

---

1 दादा धर्माधिकारी सर्वोदय दर्शन पृ० 26

2 उपर्युक्त पृ० [illegible]

आथिक विकास का अनिवार्य अग मानी गयी है। राजनैतिक क्षेत्र मे जनतन्त्र का सम्पूर्ण सिद्धान्त प्रतिस्पर्धा के सिद्धान्त का ही प्रयोग है। शैक्षिक जगत मे भी प्रतिस्पर्धा को शैक्षिक विकास मे सहायक माना जाता है। विशुद्ध सास्कृतिक स्तर पर यथा खेलकूद, नृत्य, सगीत आदि के विकास के लिए भी प्रतियोगिता को आवश्यक मान लिया गया। अर्थात जीवन के किसी भी क्षेत्र मे प्रतिस्पर्धा विकास की आवश्यक शर्त है। परन्तु सघर्ष को जीवन विकास तथा समाज के विकास का गति तत्व स्वीकार कर लेन का परिणाम भयकर हुआ। निश्चय ही सघर्ष से सघर्ष और प्रतिस्पर्धा से प्रतिस्पर्धा ही विकसित हुई। फलस्वरूप वर्तमान काल मे विरोधवाद, सघर्षवाद और सहारवाद सस्कृति पर हावी है।[1] और इसके दुष्परिणामो का सामना सम्पूर्ण मानव जाति को करना पड रहा है। फिर भी सघर्ष यदि जीवन सम्पन्न करने के लिए हे तो इसे सघर्ष भले ही नाम दिया जाय, वास्तव मे वह सहयोग ही है। दो पत्थरो के घर्षण से अग्नि निकली, इस प्रकार हर योग और सयोग को सघर्ष कहना मनोभाव भले ही हो सकता हे, सत्य नही। दो वस्तुओ के सयोग से तीसरी वस्तु निकलती है तो उसे सयोग कहे ना कि सघर्ष।[2] पुनश्च वस्तुस्थिति और आदर्श मे अन्तर होता है। वस्तुस्थिति जीवन का सिद्धान्त नही बन सकती है, वस्तुस्थिति की सिद्धान्त की दिशा मे प्रगति ही सस्कृति है।[3] अत सघर्ष को यदि जीवन की वास्तविकता स्वीकार कर लिया जाय तो भी इसे हम आदर्श कदापि नहीं मान सकते। प्रतिस्पर्धा और सघर्ष के आधार पर कोई स्वस्थ मूल्य-दर्शन एव समाज रचना सम्भव नही। वास्तव मे प्रतिस्पर्धा की भावना ही एक अस्वस्थ सामाजिक मनोभावना है जिसे हम मत्स्य-न्याय या जगल का कानून कहते है।[4] डार्विन ने कहा था कि जो सबसे अधिक सक्षम है वही जीवन सग्राम मे बचेगा, हक्सले ने दूसरो को खाकर जिओ के स्थान पर 'जियो और जीने दो का सिद्धान्त दिया। 'सबसे सक्षम ही नही जीता, वे ही लोग जीते है जो दूसरो को जीने देते हैं-यह सह-अस्तित्व का सिद्धान्त

---

1 सिह, डॉ० रामजी-गॉधी दर्शन मीमासा पृ० 4

2 उपरोक्त पृ० 48

3 दादा धर्माधिकारी- सर्वोदय-दर्शन, पृ० 18

4 सिह, डा० रामजी गांधीदर्शन मीमासा पृ 49

हे[1] यदि अक्षम को सक्षम विपन्न को सम्पन्न और असमर्थ को समर्थ बनाने का प्रयास नही करते है तो हमारे लिए समाजवाद, साम्यवाद या सभ्यता तथा सस्कृति आदि की बात करना ही मात्र प्रवचना है। फिर मनुष्य की योग्यता उसकी पशुता मे नहीं बल्कि उसकी आध्यात्मिक शक्ति, उसकी सर्वभूत हित-साधन की मूल्यवत्ता मे है।[2] मानव समाज मे पशु बल का नही नीति एव धर्म बल का महत्व है।

आर्थिक विकास का आधार प्रतिद्वन्द्विता है यह पूजीवादी चिन्तन का विश्लेषण है। समाजवादी अर्थ व्यवस्था मे प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहकार' ही आता है। राजनीति जिस दिन भ्रातृत्व को भूलकर सघर्ष की दासी बन जाती है। वह भ्रातृ-युद्ध एव गृह-युद्ध का रगमच हो जाती है। शिक्षा और सस्कृति विज्ञान और उद्योग यानी मानवीय सभ्यता के सभी अलकरण परस्पर सहकार के ही फल है। प्रेम और सहयोग केवल नैतिक दृष्टि से ही आवश्यक नही, वे तो प्राणीशास्त्र के बुनियादी सिद्धान्त है। इस विकास क्रम मे वे ही प्राणी टिके है जिनमे परस्पर सहयोग है।[3] ऐशले मॉटेग्यू ने अपनी पुस्तक आन बीइग ह्युमेन' मे बताया है कि सघर्ष या होड नही, 'सहयोग ही प्रगति का सिद्धान्त है। विलर ने भी सोसल लाइफ आफ इनसेक्ट्स' मे बताया है कि प्रकृति मे सबसे प्रबल प्रवृत्ति पायी जाती है सहजीवन-सहयोग की। सह अस्तित्व प्रकृति का नियम है। इसलिए डार्विन के अनुसार यदि सक्षमतम की विजय माने तो सक्षमतम वह जाति या समुदाय माना जायेगा, जो सहयोग की कला मे पारगत हो।

सम्भव है कि सभ्यता के आरम्भिक दौर मे मनुष्य की प्राथमिक सुख भावना-पशुओ के समान केवल इन्द्रिय सुख के लिए ही सकुचित रूप से ही रही होगी। और वह मूलत स्वकेन्द्रित भी रहा होगा। किन्तु चूँकि मनुष्य का व्यक्तित्व समाज के नानात्व में अन्तर्निहित है, अत व्यक्तिगत सुखभाव, सामाजिक सुखभाव से सर्वथा अलग नहीं रह सकता है। फिर भी अन्तरव्यक्तिवाद इतना प्रबल है कि

---

1 दादा धर्माधिकारी-सर्वोदय दर्शन पृ० 19

2 चोधरी मनमोहन- भूदान यज्ञ साप्ताहिक 3-8-1956

3 सिंह डा० रामजी-गांधी-दर्शन मीमांसा 49

हम यह भूलकर समष्टि को भुलाकर, व्यक्ति के व्यामोह मे पड जाते है। यह एक भ्रामक विचार है। व्यक्तिवाद के साथ पूजीवाद चल सकता है लेकिन समाजवाद या साम्यवाद नहीं चल सकता, क्योकि व्यक्तिवाद व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता का समर्थक है। नैतिक जीवन मे सहजीवन अपने आप मे बडा मूल्य है। नैतिकता का सर्वप्रथम नियम कि जो व्यवहार हम खुद चाहते है वही दूसरो के साथ करे'—सह जीवन पर ही अवलम्बित है। आध्यात्मिक जीवन मे भी सामूहिक साधना, समाधि एव सामूहिक मोक्ष की बाते होने लगी है। जो धर्म असामाजिक है वह व्यर्थ है। अत भक्ति और मुक्ति भी अब सामूहिक होगी। अब भक्ति का रूपान्तर सर्वोदय मे होगा। वस्तुत मोक्ष अकेले पाने की वस्तु नहीं है। मे' के आते ही मोक्ष भाग जाता है।[1] परमार्थ साधना मे भी अब व्यक्ति सत्ता और सकुचिता, व्यक्तिवाद और स्वार्थवाद नही चल सकता। इसलिए अब 'समसर्वेषुभूतेषु' की भावना से साम्ययोग रचना होगा।[2]

1 6 साम्ययोग

साम्य योग का मानना है कि प्रत्येक मानव मे एक ही आत्मा समान रूप से बसती है। साम्ययोग मानव-मानव मे भेद नही करता है,[3] बल्कि उसकी मान्यता है कि व्यक्ति का कल्याण समष्टि के कल्याण मे निहित है। सह-जीवन परमार्थ का कोई सूत्र नहीं वरन् जीवन का आधार है। लेकिन सह-जीवन की साधना साम्ययोग के बिना सम्भव नही। सामाजिक रचना एक व्यूह के समान है। इसमे विभिन्न प्रकार के व्यक्ति अपनी अभिरूचियो एव कुशलताओ से समान रूप से इसके रक्षण मे लगे है। अत सबो का मूल्य भी समान होगा। समाज के लिए शिक्षण और रक्षण, कृषि, वाणिज्य या सेवा अपने-अपने स्थान पर सब समान रूप से महत्वपूर्ण है। इसलिए सर्वोदय विचार की यह मान्यता है कि 'चाहे वकील का काम हो या नाई का, दोनो का मूल्य बराबर है। इसका एक कारण यह भी है

---

1 विनोबा भावे—आत्मज्ञान और विज्ञान सर्वसेवा सघ प्रकाशन 1964

2 सिह डा० राम जी गॉधी दर्शन मीमासा, पृ० 51

3 भावे विनोबा—साम्ययोग और साम्यवाद, पृ० 2

कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी जीविका चलाने का समान अधिकार है। आध्यात्मिक दृष्टि से सभी मे एक ही आत्मा का वास है, भले ही शरीर और देह अलग है। सब ईश्वर की ही सन्तान है। आर्थिक साम्य प्रत्येक व्यवहार मे सहायक होता है जैसा कि गॉधी जी कहते है कि—'आर्थिक समानता का अर्थ हमे यह नही मान लेना चाहिए कि प्रत्येक के पास समान धन रहेगा। परन्तु इसका यह अर्थ जरूर है कि प्रत्येक के पास रहने के लिए मकान, पहनने के लिए पर्याप्त वस्त्र (खादी) और भोजन के लिए पर्याप्त अन्न होगा। इसका यह भी अर्थ है कि जो घातक असमानता आज मौजूद है वह केवल अहिसक उपायो से ही नष्ट होगी।'[1] मानसिक साम्य से मन पर नियत्रण होता है, परन्तु परम साम्य जीवन का सार सर्वस्व है।[2] मानसिक-राम्य और परम-साम्य की प्राप्ति के लिए भी स्थूल जीवन को आर्थिक एव सामाजिक साम्य की साधना अपेक्षित है। विषमता और विद्वेष की प्रेरणा मानव समाज को सीधे अणुयुद्ध की शमशान भूमि तक पहुँचा देगी।[3] इसलिए सर्वोदय विचार मे मस्तिष्क से काम करने वाले एक वकील का मूल्य उतना ही है जितना हाथ से काम करने वाले एक बढई का।[4] बुद्धिजीवी एव श्रमजीवी का यह प्रतिष्ठाभेद भ्रामक है। गॉधी जी के अनुसार केवल मानसिक अथवा बौद्धिक श्रम आत्मा के लिए होता है और वह आत्म सतोष के लिए होता है। शारीरिक श्रम का कानून मानने से समाज की रचना मे एक मूल क्रान्ति होगी।[5] सर्वोदय की दृष्टि से, मजदूर किसान या कारीगर का जीवन ही सच्चा एव सर्वोकृष्ट है।[6] यदि शारीरिक श्रम के निरपवाद कानून को सब लोग माने, तो ऊँच नीच का भेद मिट जायेगा।[7] और वर्ण व्यवस्था भी दोषमुक्त होगी। श्रम विभाजन

---

1 हरिजन सेवक 17 अगस्त 1940 पृ० 225

2 भावे आचार्य विनोवा साम्यसूग सर्वसेवा सघ प्रकाशन, पृ० 9

3 पटवर्धन अच्युव -साम्ययोग का रेखाचित्र—सर्व सेवा सघ पृ० प्रस्तावना

4 रस्किन के अनुसार सर्वोदय का दूसरा मत्र

5 गाँधी म० क० सर्वोदय पृ० 22-2

6 रस्किन के अनुसार—सर्वोदय का दूसरा मत्र

7 गाँधी म० क०—मगल प्रभात नवजीवन प्रकाश अहमदाबाद 1949 पृ० 40

के नाम पर श्रमजीवी और बुद्धिजीवी ऐसे दो वर्गो मे समाज का अप्राकृतिक विभाजन अत्यन्त हानिकारक है।[1] श्रम करना मानव जीवन का एक आवश्यक नियम है। करोडपति भी अगर अपने पलग पर लोटता रहे तो वह भी ज्यादा समय तक नहीं खा सकता। उत्पादक दृष्टि से भले ही वह शारीरिक श्रम न करे किन्तु व्यायाम के लिए हवाखोरी हाथ-पैर हिलाना इत्यादि करना ही पडता है। जव हम सव मे हाथ-पाव और बुद्धि है तो हमे शारीरिक और मानसिक दोनो ही प्रकार के कार्य करन चाहिए। बोद्धिक श्रम शरीर श्रम से कई गुना श्रेष्ठ हो सकता है, परन्तु बौद्धिक श्रम कितना भी क्या न हो इससे शरीर श्रम की क्षतिपूर्ति नही होती। गॉधी जी के अनुसार पृथ्वी की उपज के बिना बुद्धि की उपज ही असम्भव हो जायेगी।[2] सर्वोदय दर्शन के अनुसार शारीरिक और मानसिक कार्य के मूल्य मे कोई पार्थक्य नही होना चाहिए। सर्वोदय मे सामाजिक एव आर्थिक साम्य की साधना अधिक फलवती होगी। व्यावहारिक दृष्टि से जीवन का आर्थिक क्षेत्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है लेकिन आज भी साम्यवादी देशो मे श्रमजीवी और बुद्धिजीवी के बीच पारिश्रमिक की भारी विषमता बनी है। अभी भी मजदूर और व्यवस्थापक नाम से दो वर्ग है। यही कारण है कि वहॉ वर्ग निराकरण कठिन प्रतीत हो रहा है। श्रम निष्ठा न केवल आर्थिक एव सामाजिक साम्य का मार्ग प्रशस्त करती है अपितु एक स्वावलम्बी, सत्याग्रही, रचनात्मक समाज निर्माण मे सहायक होती है। साथ ही इसमे उच्चतम सस्कृति के सभी गुण मिले है।[3] श्रम के आधार पर ही चातुर्वर्ण्य भी विकसित होता रहा और इसी के ऊपर आश्रम व्यवस्था भी बनायी गयी। श्रम निष्ठा के लोप से ही श्रम के साथ विवशता जुड गयी है, जो एक सामाजिक द्रोह है।[4] गॉधी जी के अनुसार वकील, डाक्टर, वैज्ञानिक, शिक्षक, शासक, व्यवसायी, उद्योगपति और इन सबके सहायक शारीरिक श्रम करने वाले नहीं कहे जा सकते, क्योकि वे शरीर की भौतिक आवश्यकताओ की सीधी पूर्ति नहीं करते। उनके अनुसार शरीर की

---

1 भडारी चारुचन्द्र भूदान यज्ञ क्या और क्यो सर्व सेवा सघ पृ० 243

2 गॉधी ग० क०--अहिंसक समाजवाद की ओर पृ० 19-20

3 भावे शिवाजी श्रमदान, सर्व सेवा सघ पृ० 51

4 सिह रामजी गॉधी दर्शन मीमासा पृ० 53

आवश्यकताए शरीर से ही पूरी होनी चाहिए अतएव प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक श्रम मे प्रतिदिन एक घटा अवश्य देना चाहिए। कायिक श्रम के नियम पालन से मानव की विजय जीवन-सग्राम के स्थान पर परस्पर सेवा के सग्राम की स्थापना करने मे होगी। पशु धर्म की जगह मानव धर्म ले लेगा।[1]

1 7 सर्वोदय का विविध स्वरूप

सर्वोदय एक समन्वयात्मक विचार-सर्वोदय तत्वज्ञान का सम्पूर्ण विचार समन्वयात्मक है अर्थात सभी विचारो का समन्वय करने और उन्हे एकत्र करने की शक्ति सर्वोदय विचार मे है। भारतवर्ष की सस्कृति की यह विशिष्टता है कि समन्वय उसके रोग-रोग मे आच्छादित है, और इसकी पूर्णता सर्वोदय विचार से ही हो सकती है। यद्यपि सर्वोदय का किसी भी विचारधारा के साथ विरोध होने का कोई कारण ही नही है तथापि उसका उन सभी विचारधाराओ से विरोध है जो यह मानते है कि सबका उदय न हो, कुछ थोडे ही लोगो का अथवा विशिष्ट जनो का हो। कुछ व्यक्ति, समुदाय, जातियॉ दूसरो से श्रेष्ठ है और उन्ही के हाथो मे सत्ता रहे, सर्वोदय इस धारणा के विरूद्ध है और यह विरोध ऐसा है जो किसी भी मूल्य पर नष्ट नही हो सकता है या तो 'यह' अथवा 'वह'। जो जातिवाद या पाथिक राज्य की कल्पनाए करते है, और वर्ग विशेष की उन्नति को ही प्रधान मानते है फिर वह वर्ग बहुसख्यक हो या अल्पसख्यक या जो दूसरो की परवाह न करके आवश्यक होने पर उनका अनुच्छेद करना भी उचित मान लेते है, सर्वोदय का उन सबसे विरोध है।[2] यदि सर्वोदय उनका विरोध न करे तो उसका प्रयोजन ही समाप्त हो जाता है। विनोवा के अनुसार 'यदि प्रकाश अधकार का विरोध न करे तो अपना ही उच्छेद कर लेगा। इसलिए इतना विरोध तो रहेगा ही। परन्तु शेष सभी विचार प्रवाह सर्वोदय मे समाहित हो सकते है क्योकि सर्वोदय का साध्य 'सर्वभूत हिताय' है। दूसरे शब्दो मे सर्वोदय का लक्ष्य सबके अधिकतम लाभ के लिए प्रयत्न करना है।[3] न कि कुछ व्यक्तियो, जातियो या अल्पसख्यको व बहुसख्यको का हित साधना।

---

1 गॉधी, म० क० सर्वोदय पृ० 22-23

2 भावे विनोवा सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र पृ० 77

3 हिन्दी नवजीवन 9-12-26 [illegible]

गॉधी जी ने सर्वोदय तत्व ज्ञान का पोषक रचनात्मक कार्यक्रमो का भी निर्देशन किया था। वर्तमान युग की आवश्यकता और सदैव की आवश्यकता दोनो ही दृष्टिकोणो से वह एक सुन्दर और परिपूर्ण कर्मयोग हे। विनोबा के अनुसार केवल तत्वज्ञान हवा मे रहता है, तो केवल कर्मयोग ऊँचा नही उठता हे इसलिए तत्वज्ञान युक्त कर्मयोग और कर्मयोग युक्त तत्वज्ञान का अर्थात आचार और विचार दोनो का जहा मेल हो, वहॉ मानवता का दर्शन होता है।[1] ये रचनात्मक कार्यक्रम ही गॉधी जी की स्वराज्य की कल्पना को समझने की कुजी है। यह उस अन्तिम व्यक्ति को भी बराबरी का हिस्सा देने वाले ईश्वरीय राज्य के अर्थात राम राज्य के अन्तिम लक्ष्य की ओर बढने का एक कदम है।[2] गॉधी जी ने पहले यह कार्यक्रम छोटा ही बनाया था परन्तु बढते-बढते उसकी अनेक शाखए कर दी। अव यह व्यवस्थित रूप मे हमारे समक्ष है। विनोवा के अनुसार कार्यक्रम अद्यतन यानी आज की आवश्यकताओ के अनुरूप चाहिए। यह निष्काम तथा निरहकार तभी हो सकता है, जबकि वह गतिमान प्रवाह के अनुरूप हो।[3] यदि आज कोई यज्ञयाग का कर्मयोग समाज के सामने रखे तो वह अट्ठहास पूर्ण, चालू प्रवाह से असगत और इसलिए अहकार मय होगा। कार्यक्रम आज की आवश्यकताओ के अनुरूप हो तो, निष्काम और निरहकार-बुद्धि से उस पर अमल किया जा सकता है उस समय मनुष्य निरहकार बुद्धि से कर्म करता है, यह आवश्यक नहीं है। यह तो उसकी जागृति पर निर्भर है, लेकिन करने की इच्छा हो तो ऐसे कर्मयोग मे वह सुविधा रहती है। इस कार्यक्रम मे ऐसी ही सुविधा हुई है, इसलिए यहॉ उसका दर्शन होना चाहिए। दृष्टि यह रहनी चाहिए कि यहॉ किसी न किसी कर्मयोग का यथाशक्ति सतत आचरण हो रहा है।[4]

---

1 भावे विनोबा सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र पृ० 77

2 काटोस्की डेट लैक—एक और सर्वोदय गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान नई दिल्ली—1954 पृ० 8

3 विनोवा व्यक्तित्व एव विचार पृ 345

4 भावे विनोवा—सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र पृ० 81

परन्तु केवल रचनात्मक कार्यक्रमो के सम्पादन से ही सर्वोदय सम्बन्धी समस्त विचार सम्पन्न नही होता। एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य है जिससे यह विचार परिपूर्ण हो जाता है। वह है जीवन शुद्धि की साधना-अहिसा सत्य अस्तेय, अपरिग्रह, अस्वाद, निर्भयता इत्यादि एकादश व्रतो की रचना गाँधी जी कर गये हे। विनोवा के अनुसार इसे 'जीवन शुद्धि की साधना', व्रतनिष्ठा' या चाहे तो 'सत्याग्रह निष्ठा' भी कह सकते हे। सारा कर्मयोग विशिष्ट निष्ठा पर रचा जाय, इसलिए इन ग्यारह व्रतो की योजना की गयी है। जीवन शुद्धि के लिए व्रतो की आवश्यकता की कल्पना वैसे नयी नहीं। लेकिन गाँधी जी ने इसे निश्चय पूर्वक रखा। भक्तिमार्ग का स्वरूप ही ऐसा होना चाहिए कि जीवन उत्तरोत्तर शुद्ध करते जाये। अवगुणो का विवेक पूर्वक निराकरण करे तथा सत्य निष्ठा बढाते जाय। प्रतिदिन प्रार्थना करने पर भी यदि चित्त से द्वेष भावना दूर नही होती तो भक्ति की कसौटीं पर सिद्ध हो जाता है कि वह सच्ची धार्मिकता से भरी नही है। उचित रूप से भक्ति करने मे व्रत निष्ठा सहायक होती हे। सही प्रार्थना तभी होती है जब आत्म परीक्षण द्वारा व्यक्ति अनुभव करता है कि अहिसा के परिपोषण का निरन्तर प्रयत्न करते हुए भी अवगुण रोडे, अटकाते है। उसके प्रयत्न असफल रहते है ओर सहायता के लिए वह भगवान के चरणो मे दौड जाता है। इसलिए गाँधी जी ने अहिसावादी व्रतो के पालन के साथ-साथ नाम स्मरण की भी आवश्यकता बतायी है। जीवन शुद्धि की यह साधना हमारे आचरण मे होनी चाहिए।[1]

निष्कर्षत हमारा तत्वज्ञान सर्वोदय कारी है, रचनात्मक कार्यक्रम हमारा कर्मयोग है, और नाम स्मरण तथा परमेश्वर की सहायता लेकर अहिसा आदि व्रतो का आचरण हमारा भक्ति मार्ग है। यह जीवन का सम्यक दर्शन है जिससे सम्पूर्ण विश्व पावन होगा। विनोबा के अनुसार उस सारी दुनिया का मध्य बिन्दु है' मे और मेरा जीवन। इसलिए मुझे फिक्र रखनी चाहिए कि मुझमे ये तीनो बाते हर रोज स्थिर होती जाये।[2]

---

1 विनोवा—व्यक्तित्व एव विचार पृ० 345

1 9 सर्वोदय सिद्धि का मार्ग

1 9(अ) खादी की मूल्यवत्ता

खादी गॉधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम का न सिर्फ भारतवर्ष के लिए, बल्कि सारी दुनिया के लिए केन्द्र है।[1] खादी देश मे सबकी आर्थिक स्वतत्रता एव समानता के प्रारम्भ का चिन्ह है। गॉधी जी के शब्दो मे खादी भारतीय मानव समाज की एकता, उसका आर्थिक स्वतत्रता और समानता का प्रतीक है और इसलिए अन्त मे वह जवाहर लाल नेहरू के काव्य मय शब्दो मे 'हिन्दुस्तान की आजादी की वर्दी है।[2] खादी मनोवृत्ति का अर्थ है जीवन के आवश्यक पदार्थो के उत्पादन और वितरण का विकेन्द्रीकरण। आचार्य विनोबा भावे के अनुसार सर्वोदय के विचार मे खादी का जो स्थान हे वह दूसरी किसी चीज का नही है।[3] किसी भी समाज या राष्ट्र के सर्वतोमुखी विकास के लिए रचनात्मक कार्यक्रमो की महत्ता तथा उपयोगिता को नकारा नही जा सकता है। रचनात्मक कार्यक्रमो के ही माध्यम से देश मे स्वराज्य तथा ग्राम राज्य का स्वप्न गॉधी जी ने देखा था। गॉधी जी की दृष्टि मे खादी और स्वावलम्बन पर्यायवाची थे।[4] विनोवा का विश्वास है कि गॉव वालो के रचनात्मक कार्यक्रमो के बिना सच्ची आजादी नही मिल सकती और रचनात्मक कार्यक्रम का केन्द्र बिन्दु है खादी। उनका पूर्ण विश्वास है कि चरखे मे हार्दिक श्रद्धा रखे बिना अहिसक प्रतिकार सम्भव नही।[5] यद्यपि दूसरे कार्य भी उपयुक्त है और उन्हे करना चाहिए, लेकिन वे हमारी विचारधारा के प्रतिनिधि नही कहे जा सकते, क्योकि उनके विरूद्ध कोई विचार खडा नही है उदाहरणार्थ सभी मानते है कि कुष्ठ रोगियो की सेवा होनी चाहिए। ग्राम सफाई की बात भी इसी तरह है। सभी उसे स्वीकार करते हे जबकि खादी के विरोध मे एक विचारधारा खडी है और खादी उसी विचारधारा के विरूद्ध एक

---

1 मशरुवाला, कि० ध० हरिजन 27-3-49

2 रचनात्मक कार्यक्रम नवजीवन प्रकाशन अहमदाबाद 1945 पृ० 2

3 भावे विनोवा सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र पृ० 43

4 कॉन्टोस्की, डेट लैक एक और सर्वोदय पृ० 9

5 गॉधी, मो० क० हरिजन सेवक 25-11-40 विनोवा के विचार भाग 1 पृ० 6-

बगावत है। सारी दुनिया यत्र विद्या मे इसे यत्र-युग कहते है। ऐसी स्थिति मे जब हम खादी की बात करते है तो स्पष्ट है कि दुनिया मे आज चलने वाली विचारधारा के विरूद्ध यह क्रान्ति का झडा है।

[1]विनोवा के अनुसार यदि हम खद्दर मे कामयाब नही होते तो गॉधी जी के प्रतिनिधित्व का दावा छोड देते और पराजय स्वीकार करते है। खद्दर मे पराजय स्वीकार करने के कारण दूसरी सेवाओ का परित्याग नही किया जा सकता तथापि वह सारी सेवा हमारे विचारो की दृष्टि से गौण हो जाती है। खादी के परित्याग को असत्य या हिसा का आचरण नही माना जा सकता है। फिर भी यदि खादी को अव्यावहारिक माना जाता है तो उससे सामाजिक अहिसा के विचार को निश्चय ही खतरा है।[2] क्योकि खादी विशेष रूप से शाति पूर्ण और अहिसक व्यवस्था का प्रतीक है। वह परिश्रमशीलता शरीरश्रम, अशोषण और आत्माभिव्यक्ति की सूचक है।[3] डा० कुमार स्वामी कहते है आवश्यकता बढाना सस्कृति का लक्षण नही, वरन् अपनी आवश्यकताओ को सुसस्कृत करना सस्कृति का लक्षण है।[4] खादी सादा रहन-सहन की प्रक्रिया अपनाकर हमे अपनी आवश्यकता को सीमित करना सिखाती है। वही पर पाश्चात्य सस्कृति हमारी आवश्यकताए बढाकर हमे विलासी बनाती है। वस्त्रो के सम्बन्ध मे खादी भारतीय सस्कृति की प्रतिनिधि है।[5] अन्तत विनोबा मानते है कि हिन्दुस्तान की आम जनता के लिए, जो देहातो मे रहती है खादी न सिर्फ आजादी की वरन् जिन्दगी की निशानी है।[6] गॉधी जी के अनुसार चरखे का सदेश उसकी परिधि से कही ज्यादा व्यापक है। वह सादगी, मानव सेवा व अहिसामय जीवन का तथा गरीब और अमीर, पूजी और श्रम, राजा और किसान के बीच अविच्छेद सम्बन्ध स्थापित करने का सदेश देता है।[7]

---

1 विनोवा व्यक्तित्व एव विचार पृ० 346

2 भावे विनोवा—सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र पृ० 44-45

3 मशरुवाला, कि० ध०—हरिजन 27-3-49

4 डा० कुमार स्वामी—आर्ट एड स्वदेशी पृ० 8

5 नई तालीम--अगस्त 1967 पृ० 72

6 उपरोक्त—मई जून 1967 पृ० 167

7 यग इडिया—17-9-1925 [illegible]

1 9(ब) सर्वोदय विचार

सर्वादय सिद्धि के लिए खादी के पश्चात् दूसरा महत्वपूर्ण विचार है—सर्वोदय विचार का परिपूर्ण अमल। उसका समग्र अमल कब होगा यह तो भविष्य के गर्त मे है लेकिन आज सामाजिक क्षेत्र मे जो एक महत्वपूर्ण कार्य किया जा सकता है वह है—छूआछूत का निवारण।[1] देहात का भगी-काम शहर की अपेक्षा सरल था किन्तु शहर का भगी-काम मनुष्यो के लायक नही। विनोबा के अनुसार इस गुलामी से उन्हे मुक्त करने के लिए हम सबको भगी बनना चाहिए या उस कार्य को ऐसा स्वरूप देना चाहिए जिससे हर कोई उसे कर सके।[2] यह कहा जा सकता है कि 'सर्वोदय' के स्थान पर अन्त्योदय शब्द का प्रयोग किया जाय। वास्तव मे सर्वोदय शब्द का मूल्य अन्त्योदय की कल्पना मे है। सर्वोदय मे सबसे नीची श्रेणी वालो, अन्त्यो का भी उदय है। अन्त्योदय सर्वोदय मे समाविष्ट है। केवल अन्त्योदय शब्द से भाव यह आता है कि शेष लोगो का उदय हो चुका है लेकिन ऐसा नही है। इस अभागी दुनिया मे उदय किसी का भी नहीं हुआ है। समाज के धनवानो का सूर्य तो कब का अस्त हो चुका है और जो दरिद्र नारायण है उनका तो अस्त है ही। धनवानो की बुद्धि जड धन की सगति से जड और निस्तेज बन जाती है। साराशत जड बने हुए लोगो और भूखो दोनो का ही उदय होना बाकी है अत शब्द तो 'सर्वोदय' ही उपयुक्त है लेकिन फिक्र अन्त्योदय की भी रखे।[3]

1 9(स) अपरिग्रह

सर्वोदय सिद्धि के लिए तीसरा अपरिहार्य तत्व है अपरिग्रह की अपरिहार्यता।[4] विनोबा के अनुसार हमारे देश की स्थिति ऐसी है कि अगर हम अपरिग्रह वृत्ति पर अमल न करे तो सघर्ष टल

---

1 भावे विनोवा—सर्वोदय बिचार और स्वराज्य शास्त्र पृ० 46

2 विनोवा—व्यक्तित्व एव बिचार पृ० 346

3 भावे विनोवा—सर्वोदय बिचार और स्वराज्य शास्त्र पृ० 48

4 गॉधी म० क०—[illegible] 1945 पृ० 23

ही नही सकता। हमारे पास धन नही होने मात्र से हम अपरिग्रही नही बन जाते। हमारे पास दूसरे प्रकार का सग्रह भी हो सकता है। प्रेस नही तो ऐसी पुस्तके जो सदैव आलमारी मे बद रहती हो यह भी एक तरह परिग्रह ही है।[1] विनोबा न केवल व्यक्तिगत परिग्रह का विरोध करते है अपितु सस्थाओ द्वारा किये गये परिग्रह के भी विरूद्ध है। उनके अनुसार दोनो ही परिग्रह समान रूप से बुरे है। उस आदमी की सी बात जो अपने लिए हिसा नही करता किन्तु किसी ध्येय के नाम से या देश के लिए हिसा करता है। गीता हमसे सब प्रकार का परिग्रह छोडने की बात कहती है। क्योकि यदि हम परिग्रह किसी भी रूप मे करते है तो हमे वे सारी बुराइया करनी पडती है जो व्यक्तिगत उद्देश्य से किये जाने वाले परिग्रह के साथ जुडी है।[2]

सर्वोदय की सम्पूर्ण विवेचना के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वोदय की मनोवृत्ति वसुधैव कुटुम्बकम की मनोवृत्ति है, **अय निज परोवेति गणना लघुचेतसाम।**

उदार चरितानाम्, तु वसुधैव कुटुम्बकम।।

सर्वोदय मे इच्छा यही रहती है कि पहले सबका उदय हो उसी मे मेरा भी उदय होगा। मॉ जिस तरह से अपने बच्चो का हित-चिन्तन करती है, सर्वोदय समाज मे प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का उसी प्रकार हित चिन्तन करेगा। अर्थात सब की भलाई के लिए त्याग करने के लिए तैयार रहना चाहिए। यही सर्वोदय का स्पष्ट अर्थ है[3] सर्वोदय विचार आत्मा को स्वभाव से दोष-मुक्त मानता है क्योकि इसकी दृष्टि मुख्यतया आध्यात्मिक है।[4] सर्वोदय गीता के फल निरपेक्ष कर्म के आदर्श को स्वीकार करता है। गीता के अनुसार जो कर्म आसक्ति के बिना हो ही न सके वे त्याज्य हैं।[5]

---

1 भावे विनोबा-सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र प ० 49

2 भावे विनोबा-हरिजन 10-4-49

3 विनोवा-व्यक्तित्व एव विचार प ० 348

4 सिह डा० रामजी-गाधी दर्शन मीमासा प 28

5 गाधी म० क०-अनासक्ति योग प ० 24

निष्काम कर्म करके ही सर्वोदय की स्थापना की जा सकती है। फलाशक्ति के अभाव मे न तो मनुष्य को झूठ बोलने का लालच हो सकता है और न ही हिसा करने का। क्योकि हिसा या असत्य के किसी भी कार्य के पीछे परिणाम की इच्छा रहती है। गीता के तीसरे अध्याय मे उल्लिखित है कि जो व्यक्ति बिना यज्ञ किये खाता है वह चोरी का अन्न खाता है।[1] यज्ञ का अर्थ है-परोपकार के लिए शरीर का उपयोग[2]। सबका सर्वागीण विकास उसका लक्ष्य है और प्राणीमात्र से तादात्म्य उसका साधन। सर्वोदय अमीर की शैतानियत और गरीब की हैवानियत को खत्म करके दोनो की इसानियत को बचाना और बढाना चाहता है[3]

सर्वोदय से सत्य, अहिसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और अस्वाद, सर्वधर्म समन्वय श्रेय की प्रतिष्ठा, अभय, स्वदेशी आदि व्रत स्वत स्फूर्त होते है। अभी तक इन व्रतो का स्थान व्यक्तिगत मूल्यो तक था। गॉधी जी ने सार्वजनिक जीवन व व्यक्तिगत जीवन की साधनाओ को एक मे मिलाकर इन व्रतो को सामाजिक-मूल्यो का रूप दिया। सर्वोदय के लिए मनुष्य मे केवल आसुरी वृत्ति का न होना ही पर्याप्त नही वरन् उत्तम मानवीय मूल्यो की साधना भी आवश्यक है।[4] सर्वोदय की भावना है कि-छोटे से छोटे मनुष्य के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा हम चाहते है कि दुनियॉ हमारे साथ करे।[5]

बापू ने सर्वोदय को जन्म दिया। आचार्य विनोवा ने विकसित किया। भूदान, ग्रामदान, सम्पत्तिदान, बुद्धिदान, श्रमदान, शान्तिसेना, आचार्य कुल आदि के रूप मे देश के कोने-२ मे सर्वोदय की यह पावन धारा प्रवहमान है। डा० राधाकृष्णन् के शब्दो मे-सर्वोदय अथवा भूदान आन्दोलन

---

1 गाधी म० क०-मगल प्रभात प ० 49

2 गाधी म० क०-अनाशक्तियोग प ० 26

3 देव शकरराव-सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र (अ० भा० सर्व सेवा सघ) प ० 2

4 भावे विनोबा-सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र प० 95

5 हरिजन-17-11-46

भारतीय जीवन पद्धति की मूल परम्पराओ के ऊपर आधारित है। यह इस धारणा को पुनर्जीवित करता ह कि समाज परिवार का ही बृहत रूप है। यह हमारे धार्मिक विश्वास को अपील करता हे कि आध्यात्मिक स्वतत्रता केवल उन्ही को प्राप्त हो सकती हे जो भोतिक सम्पदा म आसक्ति नही रखत।

अध्याय 2

एकात्म मानववादी मूल्य-दर्शन

पं० दीनदयाल उपाध्याय

2 1 सामान्य परिचय

दीनदयाल जी हिन्दू विचारधारा के अनुयायी थे। हिन्दू सस्कृति की विशेषता यह है कि वह सपूर्ण जीवन का, सपूर्ण सृष्टि का सकलित विचार करती है। उसकी दृष्टि एकात्मवादी है। वे कहते है कि उसका टुकडे-टुकडो मे विचार करना विशेषज्ञ की दृष्टि से उपयुक्त हो सकता है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से नही। उनका कथन है कि पश्चिम की समस्या का मुख्य कारण उनका जीवन के सबध मे टुकडो-टुकडो मे विचार और फिर उन सबको थेजली लगा-लगाकर जोडेने का प्रयत्न है।[1] व कहते है 'हम यह तो स्वीकार करते है कि जीवन मे अनेकता अर्थात् विविधता है किन्तु उसके मूल मे निहित एकता को खोज निकालने का हमने सदैव प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न पूर्णत वेज्ञानिक है। विज्ञानवेत्ता का यह प्रयत्न रहता है कि वह जगत् मे दिखनेवाली अव्यवस्था मे से व्यवस्था ढूढकर निकाले।"[2] इसप्रकार हम कह सकते है कि दीनदयाल जी के चिन्तन के लिए प्रेरणा हिन्दू ग्रन्थो से ही मिली। उनके प्रेरणा के स्रोत शकराचार्य मुख्य रूप से रहे हैं।

दीनदयाल जी को केवल हिन्दू साहित्य का ही गम्भीर ज्ञान नही था अपितु पश्चिमी साहित्य मे भी उनकी अद्‌भुत गति थी। उनका कथन था कि धर्म भारत के इतिहास मे महत्वपूर्ण नियामक सिद्धान्त रहा है। अत भारत का तत्व धर्म है। इसे वे हिन्दू ऋषियो की विशिष्ट देन मानते है तथा अपने दर्शन की नींव का निर्माण इसी पर करते है। धर्म मूल्यो का समन्वय और अनुभूतियो का सघटन है। उसका उद्‌देश्य मनुष्य के सपूर्ण व्यक्तित्व को प्रदीप्त करना है।

---

1 सागर कृष्णानन्द दीनदयाल उपाध्याय की वाणी, पृ० 14, नयी दिल्ली 1992

दीनदयाल उपाध्याय मानवतावादी चिन्तक है। वे अपने मानववाद को 'एकात्म मानववाद'' कहते है। एकात्म मानव-दर्शन का अर्थ है मानव जीवन तथा सपूर्ण प्रकृति के एकात्म सबधो का दर्शन।[1] एकात्ममानववाद मानव का सर्वांगीण विचार उसके सभी अगो यथा शरीर मन बुद्धि और आत्मा को ध्यान मे रखते हुए करता है। व्यक्ति के सर्वांगीण विकास मे उसकी भौतिक प्रगति के साथ-साथ नैतिक एव आध्यात्मिक उन्नति भी समाविष्ट है। दीनदयाल के अनुसार ''व्यक्ति-जीवन का सर्वांगीण तथा चारो पुरुषार्थो के अनुसार विचार करनेवाला, उसके लिए प्रयत्नशील रहनेवाला और साथ ही व्यक्ति से लेकर, विश्वमानव तक परिवार राष्ट्र आदि विविध एकात्म समूहो और उनसे भी परे जाकर परमेष्ठी से तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता रखनेवाला एकात्म मानव ही इस दर्शन का आदर्श है। मानव का इसप्रकार समग्र एव समन्वित विचार करते हुए—जीवन के सभी अगो का और व्यवस्थाओ का विचार कर सरचना की जाये तो सभवत राष्ट्रीयता, मानवता, विश्व-शान्ति आदि श्रेष्ठ आदर्शो की दिशा मे अन्तर्विरोध दूर होकर के एक-दूसरे के पूरक बनेगे और मानव को उद्देश्यपूर्ण सुखी जीवन प्राप्त होकर एकात्म मानव-दर्शन साकार होगा।''[2] वे आशा करते थे कि मानव चेतना सर्वव्यापक चेतना मे विकसित हो,। उनकी कल्पना एक पूर्ण सासारिक राज्य की थी जिसमे सभी राष्ट्रो एव सस्कृतियो का योगदान हो और एक मानव-धर्म की जो सारे धर्मो के योग से परिपूर्ण हो। वे कहते थे कि मानव मे जितनी अधिक चेतना विकसित होगी उतने ही उच्च और बडी प्रणाली से वह सबधित होगा। मानव चेतना के विकास के बिना कोई भी सामाजिक प्रणाली कितनी भी गुणसम्पन्न हो, इच्छित परिणाम नहीं दे सकती।

दीनदयाल जी का कथन है कि हिन्दू सस्कृति मे मानव के शरीर, मस्तिष्क, बुद्धि और आत्मा के एक ही साथ विकसित होने का योग निहित है। उसमे मानव के सपूर्ण विकास के लिए शरीर, मस्तिष्क बुद्धि और आत्मा चारो की आवश्यकता के लिए चार उत्तरदायित्वो का आदर्श हमारे सामने रखा है। वह आदर्श धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष है जिनका सम्मिलित रूप से पालन करना ही मनुष्य के जीवन का अन्तिम ध्येय है।

---

1 नेने विनायक वासुदवे प० दीनदयाल उपाध्याय, विचार–दर्शन खण्ड 2 पृ० 11

दीनदयाल जी के एकात्ममानव दर्शन का आधार वेद, उपनिषद, गीता एव अन्य प्राचीन भारतीय ग्रन्थ है। वे कहा करते थे कि ईशोपनिषद् का वह श्लोक[1] एकात्म दर्शन का साक्षात् कराता है जिसमे कहा गया है कि जो समस्त प्राणियो को अपने मे और अपने को समस्त प्राणियो मे देखता हे, वह किसी को घृणा या उपेक्षा का पात्र नही समझता। अर्थात् वह सबके हित मे ही अपने हित को समझता है। वे इसीप्रकार श्रृग्वेद के एक श्लोक को भी उद्घृत करते है **"तुम्हारे संकल्प एक समान हो, तुम्हारे ह्रदय एक से हो, मानसिक भाव एक से हो, जिससे तुम लोग अच्छी तरह से सुखपूर्वक समाज मे एक साथ रह सको।"**[2] इसी प्रकार अथर्ववेद मे भी कहा गया है कि **"तुम्हारी भजणाये समान हो, सभाये समान हो, चित्त के साथ मन भी समान हो।"**[3] इन ऋचाओ के द्वारा एकात्मता को ही दिखलाया गया है।

2 2 मानववाद

दीनदयाल उपाध्याय का मानवतावाद अन्य मानवतावादियो से भिन्न है। मार्क्स भी मानवतावादी हे। उनके अनुसार "मनुष्य का ध्येय उसकी अपनी मानवता और मानव-प्रकृति का पात्र है और इसका स्पष्ट निश्चित आदेश उन परिस्थतियो को नष्ट करना है जिनमे मनुष्य जलील, दास, लाचार, और घृणित जीव हो जाता है।" मार्क्स का कथन है कि जीवन चेतना से निर्मित नही होता वरन् चेतना जीवन से उत्पन्न होती है। मार्क्स का यह चिन्तन दीनदयाल जी के चिन्तन से बिल्कुल ही पृथक् है। वैज्ञानिक मानववाद[4] (मार्क्सवाद) मानव की व्याख्या उसकी इच्छाओ, आकांक्षाओ एव प्रेरणाओ के

---

1 यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्वययेवानुपश्यति।

सर्वभूतेषु चात्मान ततो न विजुगुप्तसते ।। (ईशोपनिषद्–6)

2 समानी व आकूभि समाना ह्रदयानि व ।

समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति ।। (ऋग्वेद)

3 समानो मन्त्र समिति समानी

समान मन सह चित्रमेषाम् ।। (अथर्ववेद)

4 वैज्ञानिक मानववाद का कथन है कि मनुष्य अपने भविष्य को स्वय रूप दे सकता है। वैज्ञानिक सफलताएँ मनुष्य में अपनी क्षमता के प्रति आत्म-विश्वास पैदा करा देती है।

आधार पर करता है। दीनदयाल जी के अनुसार इसप्रकार का मानववाद पूर्णरूप से इहलौकिकवादी हो जाता है।

दीनदयाल जी का मानवतावाद एम०एन० राय के मानवतावाद से भी भिन्न है। राय ने मानववाद के नाम पर सुखवादी नीव को मजबूत करने का प्रयत्न किया है। भौतिकवादी होने के कारण वे जीवन को ही साध्य मानते है। वे कहते है, "इच्छाओ की पूर्ति ही जीवन का आत्मसाक्षात्कार है, उपदेश देने के लिए किसी सिद्धान्त को गढने का कोई औचित्य नही है।"[1] राय हिन्दू चिन्तन की उस मुख्य परम्परा का विरोध करते है जो इच्छाओ को जीतने का उपदेश देती है। इस दृष्टि से राय का मानवतावादी चिन्तन एकाकी है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर एव राधाकृष्णन भी मानवतावादी चिन्तक है। टैगोर केवल भौतिक जगत् का ही नही अपितु ईश्वर का भी मानवीकरण कर देते है। वे कहते है कि मानववाद भावनाओ के साथ विश्व को अपनाता है तथा निकट से देखता है। उनका कवि हृदय विश्व के साथ मानवीय संबध स्थापित करता है। डॉ० राधाकृष्णन् धार्मिक मानवतावाद के प्रतिपादक हैं। उन्होने सामाजिक तथा नेतिक मूल्यो को प्रतिष्ठापित कर मानव एकता का समर्थन किया। उनका कथन है कि यूरोप के मानवतावादी चिन्तन तथा एशिया के धार्मिक विश्व-दर्शन के बीच समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए।[2] उनकी दृष्टि मे मानवतावाद मे धर्म एव विज्ञान का समन्वय आवश्यक है।[3] दीनदयाल जी उपरोक्त दोनो चिन्तको के मतो से कुछ अर्थो मे सहमति रखते हुए भी अपने मानवतावादी चिन्तन मे एकात्मकता जोडकर भिन्नता प्रकट करते है। दीनदयाल जी का एकात्म मानववाद प्रत्येक राष्ट्र को अपनी-अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार विकास करने की स्वतत्रता का पक्षपाती है। जिसप्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने गुण कर्म के अनुसार विकास कर, विकास का सपूर्ण फल समाज-पुरूष को

---

1 राय एम० एन० द प्राब्लम ऑफ फ्रीडम पृ० 61

2 एस० राधाकृष्णन् इस्टर्न रिलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थाट, पृ० 258–59

3 एस० राधाकृष्णन् इस्टर्न रिलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थाट, पृ० 2[illegible]

अर्पित करता है, उसी तरह प्रत्येक राष्ट्र अपने को मानवता का एक अग समझेगा। उनके मानवतावाद की सबसे बडी विशेषता यह है कि प्रत्येक राष्ट्र स्वायत्त रहते हुए अपने विकास के साथ-साथ विश्वात्मा का भाव मन मे रखने के कारण एक-दूसरे का पोषक एव समस्त मानवता का पोपक हे। उनकी इस एकात्मवादी कल्पना मे व्यक्ति का व्यक्तित्व विभक्त नही होता। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एव आध्यात्मिक क्षमताओ के अनुसार अपने जीवन का आदर्श चुनने का अवसर मिलता है।

2 3 चिति की अवधारणा (साधन-मूल्य)

उपाध्याय जी के अनुसार व्यक्ति की आत्मा की तरह राष्ट्र की भी आत्मा होती है। राष्ट्र की इसी आत्मा को उपाध्याय जी "चिति" कहते है। रवीन्द्रनाथ टैगोर इसे "चित्त" कहते है। "चिति" के प्रकाश से ही राष्ट्र का सर्वांगीण विकास होता है। "चिति" को लेकर ही प्रत्येक समाज पैदा होता है और उस समाज की सस्कृति की दिशा "चिति" ही निर्धारित करती है।[1] चिति से ही चेतना उत्पन्न होती है।[2] *मैक्ड्गल* के अनुसार किसी भी समूह की कोई innate nature होती है। वैसे ही चिति" किसी समाज की वह प्रकृति है जो जन्मजात है और ऐतिहासिक कारणो से नहीं बनी है।[3]

"चिति" ही राष्ट्रत्व का द्योतक है। इसी के कारण राष्ट्र मे एकात्मकता जागृत होती है। इसी एकात्मता के द्वारा समाज मे न्याय सभव है। उपाध्याय जी के अनुसार "चिति" की एकता ही सामान्य परम्परा, इतिहास और सभ्यता का निर्माण करती है। अत किसी भी राष्ट्र की एकता के लिए मूल कारण सस्कृति, सभ्यता, धर्म, भाषा आदि की एकता नही, ये सभी मूल कारण एक "चिति" के व्यक्त परिणाम है। अत उपर से प्रत्यन करके भी भिन्न-भिन्न "चिति" के लोगो मे भाषा, धर्म, सभ्यता

---

1 उपाध्याय एकात्म मनववाद पृ० 144

2 भारत चिति, पृ० 53, 1979.

3 भारत चिति, पृ० 34, भारत चिति सस्थान, लखनऊ।। फरवरी 1979

आदि की एकता के निर्माण करने पर भी राष्ट्रीय एकता नही हो सकती। राष्ट्र की सम्पूर्ण एकता, उसका समस्त जीवन राष्ट्र की आत्मा चिति के परिणामस्वरूप ही होती है।"[1] यह चिति राष्ट्र का केन्द्र-बिन्दु है।

चिति वह मापदण्ड है जिससे हर वस्तु को मान्य अथवा अमान्य किया जाता है। यही राष्ट्र की आत्मा है। इसी आत्मा के आधार पर राष्ट्र खडा होता है, और यही आत्मा राष्ट्र के प्रत्येक श्रेष्ठ व्यक्ति के अचारण द्वारा प्रकट होती है।

उपाध्यायजी के अनुसार, बिना "चिति" के ज्ञान के प्रथम तो हमारे प्रयत्नो मे प्रेरक शक्ति का अभाव रहने के कारण वे फलीभूत नही होगे द्वितीयत मन मे जो भारत के कल्याण की इच्छा है, उसके लिए जी तोड परिश्रम कर के भी हम भारत को भव्य बनाने के स्थान पर उसको नष्ट कर देगे। स्वप्रकृति के प्रतिकूल किये हुए कार्य के परिणामस्वरूप जीवन मे जो परिवर्तन दिखाई देता, है वह विकास के स्थान पर विनाश का घोतक है और इस प्रकार–

"विनायक प्रकुवीणो रचयामास वानरम्" की उक्ति चरितार्थ होती है।[2]

उपाध्याय जी का कहना है कि राष्ट्र की चिति के स्वरूप की व्याख्या असभव है। उसका साक्षात्कार ही सभव है। किन्तु जिन महापुरूषो ने राष्ट्रात्मा का साक्षात्कार किया, जिनके जीवन मे चिति का प्रकाश उज्जवलतम रहा, उनके जीवन की ओर देखने से, हम अपने चिति के स्वरूप की कुछ झलक पा सकते है।

जैसे राष्ट्र का अवलम्बन चिति होती है, वैसे ही जिस शक्ति से राष्ट्र की धारणा होती है उसे "विराट्" कहते है। विराट राष्ट्र की वह कर्मशक्ति है जो चिति से ही जागृत एव सगठित होती है। विराट् का राष्ट्र जीवन मे वही स्थान है जो शरीर मे प्राण का है। प्राण से ही सभी इन्द्रियो को

---

1 उपाध्याय राष्ट्र चिन्तन पृ० 119

2 भारत चिति पृ० 41.

शक्ति मिलती है बुद्धि को चैतन्य प्राप्त होती है और आत्मा शरीरस्थ रहता है। राष्ट्र मे भी विराट के सबल होने पर ही उसके भिन्न-भिन्न अवयव अर्थात् सस्थाए सक्षम और समर्थ होती है। अन्यथा सस्थागत व्यवस्थाए केवल दिखावा मात्र रह जाती है। विराट् के आधार पर ही प्रजातन्त्र सफल होता हे ओर राज्य बलशाली बनता है। इसी अवस्था मे राष्ट्र की विविधता उसकी एकता के लिए बाधक नही होती।[1]

सदा जागरुक चैतन्ययुक्त एव गतिमान रहना ही जीवन है तथा "चिति" सचालन प्रक्रिया का मूल है। इसे ही वेदो मे "चरैवेति-चरैवेति" कहा गया है। जिसका अर्थ है "कभी रूको नही, सदा चलते रहो चलते रहो"। दीनदयाल जी ने चिति का उल्लेख करते हुए कहा है कि "अतीत एक तथ्य है वर्तमान अस्थिर है और भविष्य अज्ञात। अज्ञात से कुछ लोगो को डर लगता है, इसलिए वे वर्तमान मे चिपके रहना चाहते है या बीते को वापस लाना चाहते है। प्रकृति के नियम और कालक्रम के विपरीत काम करने वाले सफल नहीं हो सकते। भविष्य से डरिये मत, बल्कि उसके निर्माण मे रुचि लीजिये।" यदि कृत युग का निर्माण करना है तो आर्य वचन को याद रखना होगा—

"कलि शयानो भवति सजिहानमस्तु आपर । अत्तिष्ठस्त्रेतायाम् कृतं सम्पद्यते चरन्।।"

वर्तमान समय मे उपाध्याय जी राष्ट्रीयता को कमजोर मानते है। इसका कारण वे यह बतलाते है कि राष्ट्र की चिति सुप्त है। सुप्त चिति के कारण ही राष्ट्रीय जीवन अस्त-व्यस्त है। उनका कहना है कि राष्ट्र जीवन की विकृति को समाप्त करने के लिए चिति को बलवान बनाना होगा। उनके ही शब्दो मे "हम अपने जातीय जीवन की चिति को पहचानकर उसको प्राकृत सस्कारो के द्वारा बलवती करने का प्रयत्न करे। इसी मे हमारे राष्ट्र का चरमोत्थान है। उसी के द्वारा हम मानवता की सेवा करने मे समर्थ हो सकेगे और तभी सफल होगा हमारा चिराकाक्षित ध्येय"—

"सर्वे भवन्तु सुखिन · सर्वे सन्तु निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।[2]

---

1 उपाध्याय दत्तोपन्त ठेगडी मा स गोलवलकर एकात्म मानव दर्शन पृ० 75 1991

2 उपाध्याय राष्ट्र-चिन्तन, पृ० 120

उपाध्याय जी राष्ट्र के विराट् को फिर से जगाना चाहते है क्योकि शक्तिशाली विराट् के रहने से ही राष्ट्र का चतुर्दिक विकास हो सकता है एव लोकतत्र सफल हो सकता है।

2 4 मानव ही सर्वोपरि

उपाध्याय जी के दर्शन का केन्द्र-बिन्दु मानव है। उनका चिन्तन "सम्पूर्ण मानव" को इकाई मानकर चलता है। वे कहते है कि पूजीवाद का आधार "आर्थिक मनुष्य" है तथा समाजवाद का आधार 'सामूहिक मनुष्य है। दोनो व्यवस्थाओ मे मनुष्य का विचार परिमाणात्मक आधार पर होता है, गुणात्मक आधार पर नही-होता है। दोनो व्यवस्थाओ मे मनुष्यता का विचार नही है। दोनो ने मनुष्य को व्यवस्था के निर्जीव यन्त्र का पुर्जा मात्र बना डाला। इन व्यवस्थाओ मे मानव की विविधताओ और विशेषताओ के लिए कोई स्थान नही है। उपाघ्याय जी कहते है कि ये व्यवस्थाये मनुष्य को ऊँचा उठाने के स्थान पर उसे मशीन का पुर्जा मात्र बना देती हैं। उसका अपना व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। मनुष्य का अमानवीकरण हो जाता है। इन दोनो व्यवस्थाओ ने मनुष्य को नगण्य माना है।

दीनदयाल जी के अनुसार उपर्युक्त दोनो व्यवस्था हमे अधोगामी मार्ग की ओर ले जानेवाली है। अत वे कहते है कि मानव की मर्यादा के लिए आत्मिक बल के प्रति आनुगत्य अपेक्षित है। प्रयास करने पर मनुष्य मानव से देवता बन सकता है। वे मानव-जीवन का विचार समग्रदृष्टि से करते है। उनका कहना है कि मानव-जीवन को टुकडे-टुकडे मे करके विचार नही करना चाहिए। इस प्रकार के विचार से मानव विकास सभव नही हो सकता[1]। उपाध्याय जी मानव का विचार सर्वागीण दृष्टि से करते हैं तथा अपने दर्शन का केन्द्र इसी मानव को मानते हैं।

2 5 आर्थिक लोकतत्र

आर्थिक लोकतत्र के स्वरूप को महात्मा गॉधी ने बताया है "Mass production by Masses" कि अधिक उत्पादन अधिक व्यक्तियो द्वारा। परन्तु प० दीनदयाल उपाध्याय ने इसी बात को दूसरी

---

1 उपाध्याय, दीनदयाल, राष्ट्र-जीवन की दिशा, पृ० 192

शब्दावली मे कहा है "Expansion of the Self-Employed Secter (ऐसे क्षेत्र का विस्तार जिसमे श्रम करने वाला ही उसका समान वितरण की व्यवस्था करे।) इसका व्यावहारिक स्वरूप सभव है। यह दुर्भाग्य की बात है कि आज के राजनीतिक दल आर्थिक लोकतत्र के सिद्धान्त मे ईमानदारी से विश्वास नही करते और न उसे कार्यान्वित करना चाहते है। अत आर्थिक लोकतत्र के आदर्श के प्रति यदि निष्ठावान ढग से कार्य किया जाय तो उसे कार्य रूप मे परिणत करना असम्भव न होगा।

2 6 साम्यवाद, पूँजीवाद एव एकात्ममानववाद

प० दीनदयाल उपाध्याय का आर्थिक चिन्तन भारतीय सस्कृति पर आधारित है। वे अपने आर्थिक चिन्तन द्वारा मानव का सर्वागीण विकास करना चाहते है जो उसकी समस्त आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके। उनका कहना है कि समाज मे व्याप्त आर्थिक विषमता को हटाने के लिए पश्चिम के चिन्तको ने साम्यवाद और पूजीवाद नामक दो प्रणालियो को जन्म दिया। दोनो आर्थिक प्रणालिया अर्थ और काम को ही केवल मानव जीवन का लक्ष्य मानती है। अत दोनो के दृष्टिकोण एकागी है।

अपने आप को समाजवादी या साम्यवादी कहलाना आजकल का फैशन बन गया है तथा राजनीतिक दलो मे समाजवादी बनने की होड सी लगी है। यह बताकर दीनदयाल जी ने कहा था यूरोप मे समाजवाद या साम्यवाद के अनेक प्रकार प्रचलित है। हिटलर, मुसोलिनी, स्टालिन, सभी अपने आपको समाजवादी कहते थे। भारत मे भी सभी प्रकार के समाजवादी हैं। कुछ नेता यूरोपीय साम्यवाद को भारतीय रूप देने की बात करते है। एम० एन० राय ने जीवन के अतिम चरण मे समाजवाद को त्याग दिया।[1]

पश्चिम मे औद्योगिक क्रान्ति के बाद यत्र युग के साथ ही पूजीवादी रचना प्रारम्भ हुई। जोसेफ शूम्पीटर ने अपने "पूजीवाद, समाजवाद" नामक अग्रेजी पुस्तक मे कहा है—"पूँजीवादी अर्थव्यवस्था स्थिर नही है और न कभी वह स्थिर हो सकती है। वह धीमी गति से विस्तार भी नही

---

1 उपाध्याय, विचारदर्शन, खण्ड 3 1960 पृ० 56

कर पाती। नये-नये औद्योगिक उपक्रमो के द्वारा उसमे भीतर से निरतर एक परिवर्तन होता जाता है क्योकि उपभोग की नयी वस्तुए बाजार मे आती रहती है। विद्यमान औद्योगिक रचना मे नये अवसर उपलब्ध होते है। किसी भी विद्यमान अवस्था मे उद्योग के नियमो मे लगातार परिवर्तन होता रहता है। एक अवस्था परिपूर्ण होने से पूर्व ही टूट जाती है। पूँजीवाद समाज मे आर्थिक प्रगति का अर्थ सर्वत्र गडबडझाला है।''[1]

उपाध्याय जी के अनुसार पूँजीवादी समाज-व्यवस्था मे उत्पत्ति, उपभोग, विनिमय और वितरण पर किसी प्रकार का नियत्रण न होने के कारण पूजीपति किसी भी वस्तु का उत्पादन अधिकतम लाभ की दृष्टि से करता है। इसका परिणाम यह होता है कि बडे उद्योगपति ही इस क्षेत्र मे शेष रह जाते है। इसप्रकार इस व्यवस्था मे एकाधिकार की स्थापना हो जाती है। इस व्यवस्था के कारण समाज मे पूजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग स्थापित हो जाते है। इनके हितो मे परस्पर विरोध पाया जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप उनमे निरन्तर सघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस व्यवस्था मे श्रमिको का स्थान गौण होता है। अत पूजीवादी अर्थव्यवस्था ''मानव का विकास करने मे असमर्थ सिद्ध हुई है।

पूजीवाद के विरोध मे समाजवादी-अर्थव्यवस्था आयी, किंतु वह भी मानव को उसकी प्रतिष्ठा नही दे पायी। उसने पूजी का स्वामित्व राज्य के हाथ मे देकर सतोष कर लिया। पूजीवाद और समाजवाद इन दोनो ही व्यवस्थाओ मे मानव के सही एव पूर्ण रूप को नहीं समझा गया।[2] एक मे उसे स्वार्थी, अर्थपरायण सघर्षशील, मत्स्यन्याय-प्रवण माना गया तो दूसरी मे व्यवस्थाओ और परिस्थितियो का दास अकिचन एव अनास्थामय माना गया है। शक्तियो का केन्द्रीकरण दोनो मे अभिप्रेत है। फलत दोनो का परिणाम अमानवीकरण मे हुआ है।[3]

---

1 ठगडी दत्तोपन्त, उपाध्याय विचार दर्शन खण्ड 9 पृ० 79—80, 1991

2 हम न समाजवादी चाहते हैं और न ही पूजीवाद वरन् मनुष्य की प्रगति और प्रसन्नता चाहते हैं। इन दोनों ही दर्शनो मे मनुष्य मात्र मुहरा बन कर रह जाता है। उपाध्याय ठेगडी दत्तोपन्त, गोवलकर, एकात्म मानबदर्शन 1991 पृ० 71—72

3 उपाध्याय, ठेगडी दत्तोपन्त, गोवलकर, एकात्म मानवदर्शन 1991 पृ० 71—72

जिलास (D Jilas) के अनुसार शोषको का पुराना वर्ग समाप्त हो चला है कितु नौकरशाही का नया शोषक वर्ग उत्पन्न हो रहा है। कार्लमार्क्स ने इतिहास का जो विश्लेषण किया, उसमे कम्यूनिज्म को पूजीवाद की स्वाभाविक परिणति माना है। पूजीवाद मे ही पूजीवाद के विनाश के बीज छिपे हुए हे यह उसका प्रतिपादन है।

दीनदयाल जी के अनुसार पूजीवादी अर्थव्यवस्था मनुष्य को एक अर्थलोलुप प्राणी मानकर चलती है। उसके सभी निर्णय आर्थिक दृष्टिकोण से होते है। मानव-श्रम क्रय-विक्रय की वस्तु है। इस व्यवस्था मे व्यक्ति का निजी व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। इस व्यवस्था मे भूखे और निर्धन की चिन्ता नही कि जाती हे सम्पन्न व्यक्तियो की ही चिन्ता की जाती है।[1] इसलिए उपाध्याय जी मानते है कि पूजीवादी व्यवस्था द्वारा मानव का विकास असम्भव है। वे समाजवादी अर्थव्यवस्था के प्रतिक्रियावादी मानते है, क्योकि इसका जन्म पूजीवाद के विरोध मे हुआ है।[2] साम्यवादियो का यह कथन है कि पूजीवादी अर्थव्यवस्था अधिकाधिक जनसख्या का एकत्रीकरण, उत्पादन का अधिकाधिक केन्द्रीकरण एव थोडे-से हाथो मे अधिकाधिक धन का सचयन करती है।[3] उपाध्याय जी समाजवादी और साम्यवादी अर्थव्यवस्था को भी नाना प्रकार के दोषो से युक्त मानते है। "पूजीवादी अर्थव्यवस्था ने तो केवल अर्थपरायण मानव का विचार किया तथा अन्य क्षेत्रो मे उसे स्वतन्त्र कर दिया। अत वह कुछ मात्रा मे अपने व्यक्तित्व का विकास कर सका। किन्तु साम्यवादी-व्यवस्था तो मात्र जातिवाधक मानव का ही विचार करती है। वहाँ व्यक्तिगत स्वतत्रता नाम की कोई चीज नहीं है।"[4]

उपाध्याय जी उपरोक्त दोनो व्यवस्थाओ के विरोधी है। क्योकि दोनों ही व्यवस्थ्काओ मे मनुष्य मात्र पुर्जा बनकर रह जाता है। वे कहते है, "हमे समाजवाद अथवा पूजीवाद नहीं, "मानव"

---

1 उपाध्याय एकात्ममानववाद पृ० 78

2 उपाध्याय एकात्ममानववाद पृ० 79

3 कम्युनिस्ट मैंनोफेस्टो

का उत्कर्ष चाहिए। 'मानव'' को दॉव पर लगाकर आज दोनो लड रहे हैं दोनो ने न तो मानव को समझा और न उन्हे मानव की चिन्ता है।''[1] उन्होने मनुष्य को एकात्म रूप मे देखा है। उनका एकात्म मानववाद जीवन के किसी भी पक्ष को नही छोडता। उनका कहना है कि जहॉ एकात्मवाद है, जिस सस्कृति मे 'सर्वम् खल्विद ब्रह्म'', नेह नानास्ति किन्चन'' एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ऐसी वेद-घाषणाए और एकात्मवाद के प्रचार विद्यमान है वहॉ रूसी साम्यवाद तो वाहरी वस्तु हो जाती है। पडित जी सम्पूर्ण मानवतावाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहते है कि यह ऐसा सिद्धान्त है जिसमे बुद्धि सार्वभौमिकता प्राप्त कर लेती है। जो सार्वभौमिक प्रकृति के हो, उनकी 'विचारधारा' वास्तव मे केवल मानव जाति तक ही सीमित नहीं रहती। वे आशा करते थे कि मानवीय चेतना सर्वव्यापक चेतना मे विकसित हो। उनकी कल्पना सम्पर्ण सासारिक राज्य की थी जिसमे सभी राष्ट्रो, सस्कृतियो का योगदान था और एक मानव धर्म जो सारे धर्मों के योग से परिपूर्ण हो। उनका कहना था कि एक मनुष्य का विभिन्न प्रणालियो से सबध केवल उसकी चेतना विकसित होगी उतने ही उच्च ओर बडी प्रणाली से वह सम्बन्धित होगा। उपाध्याय जी का ऐसा विचार है कि एक मनुष्य को भी एकात्मता के दृष्टिकोण से ही देखा जाना चाहिए, शरीर, मानस, बुद्धि और आत्मा को अलग-अलग नही समझना चाहिए।[2]

एकात्ममानववाद की प्रणाली मे शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा, समाज, राष्ट्र तथा धर्म, अर्थ काम और मोक्ष का सम्मिलित रूप से चिन्तन किया गया है। इसी प्रणाली के द्वारा समाज मे सतुलन बनाये रखते हुए आर्थिक न्याय सभव है। आर्थिक क्षेत्र की विविध समस्याओ का समाधान एकात्म मानववाद के द्वारा ही सभव है। उपाध्याय जी का मत है कि एकात्म मानववाद पर आधारित आर्थिक विकेन्द्रीकरण के द्वारा ही हम मानव को सुखी बना सकते हैं। हमारी सम्पूर्ण व्यवस्था का केन्द्र मानव होना चाहिए जो 'यत् पिण्डे तद्ब्रह्मांडे'' के न्याय के अनुसार समष्टि का जीवमान प्रतिनिधि एव

उसका उपकरण है। उसके अनुसार भौतिक उपकरण मानव के सुख के साधन है, साध्य नही। हमारा आधार एकात्म मानव है जो अनेक एकात्म समष्टियो का एक साथ प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखता हे। एकात्म मानववाद के आधार पर हमे जीवन की सभी व्यवस्थाओ का विकास करना होगा।[1]

2 7 विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था और उसकी विशेषताए

जब तक एक–एक व्यक्ति कि विशिष्टता एव विविधता को ध्यान मे न रखकर हम उसके विकास की चिता नही करेगे तब तक मानवता की सच्ची सेवा नहीं हो सकती। मानवता की सेवा मे ही रामाजिक एव आर्थिक न्याय है। आर्थिक न्याय विकेन्द्रित-अर्थव्यवस्था द्वारा ही सभव है, जिसकी निम्नलिखित प्रमुख विशेषताए है-

१- प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम जीवन स्तर की आश्वस्ति तथा राष्ट्र की सुरक्षा सामर्थ्य की व्यवस्था।

२- इस स्तर के उपरान्त उत्तरोत्तर समृद्धि, जिससे व्यक्ति व राष्ट्र को वे साधन उपलब्ध हो सके जिनसे वह अपनी चिति के आधार पर विश्व की प्रगति मे अपना योगदान कर सके।

३- स्वास्थ व्यक्ति को अभीष्ट रोजगार का अवसर देना तथा प्रकृति के साधनो को मितव्ययिता के साथ उपयोग करना।

४- राष्ट्र के उत्पादक उपादानो के विचार पर अनुकूल, प्रौद्योगिकी का विकास करना।

५- अर्थव्यवस्था "मानव" की अवहेलना न कर उसके विकास मे साधक हो तथा समाज के सास्कृतिक एव अन्य जीवन-मूल्यो की रक्षा करे।

६- विभिन्न उद्योगो आदि मे राज्य, व्यक्ति तथा उक्त सस्थाओ के स्वामित्व का निर्णय व्यावहारिक आधार पर हो।

प० दीनदयाल जी का आग्रह रहता था कि 'ऐसे विकेन्द्रित लघु यत्राधिष्ठित छोटे उद्योगो की व्यापक नीव को आधारशिला मानकर उसके लिए आवश्यक उत्तम से उत्तम यत्रो मध्यम स्तरीय प्राविधियो (तकनीको) और विद्युत शक्ति का उपयोग करना चाहिए।"[1]

उपाध्याय जी विकेन्द्रकरण की कसौटी को उद्योग एव खेती जैसे प्रमुख उद्योगो पर लागू करना चाहते थे। वे बडे-बडे उद्योगो को भारत के विकास की दृष्टि से अनुपयुक्त मानते थे। उनका कथन था कि बडे-बडे उद्योग समस्याओ को सुलझाने के स्थान पर, पैदा अधिक कर देते है।[2]

बडे उद्योगो मे सदैव एक स्थान पर केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति रहती है जिससे सार्वदेशिक एव विस्तृत विकास के मार्ग मे बाधा पहुचती है।[3] बडे-बडे उद्योग विकेन्द्रीकरण तथा समान वितरण के विरोध मे जाते है जिसके द्वारा समाज मे शक्ति के केन्द्रीकरण एव विषमता की वृद्धि होती है। राजनीति मे व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को भारी पैमाने पर किया गया उद्योगीकरण नष्ट करता हे। ऐसे उद्योग मे व्यक्ति स्वय भी मशीन का एक पुर्जा बनकर रह जाता है। इसलिए तानाशाही की भॉति ऐसा उद्योगीकरण भी वर्जनीय है।[4] गॉधी जी भी लिखते है, मै नही समझता कि किसी भी देश के लिए किसी भी अवस्था मे बडे कल कारखानो का विकास करना आवश्यक है।"[5]

2 8 अन्त्योदय

उपाध्याय जी आर्थिक प्रगति का मापदण्ड समाज के सबसे नीचे के स्तर पर विद्यमान व्यक्ति से करते है वे यह मानते है कि यदि भूखे, नगे, लोगों का जीवन-स्तर नहीं उठता है तो इसका

---

1 उपाध्याय विचार दर्शन खण्ड 4 1991 पृ० 45

2 बडे उद्योग मे मानव एक बडी भारी मशीन का हृदयहीन समष्टि का पुर्जा मात्र बन जाता है। यह मानव के लिए उपयोगी ही है। भारत की सस्कृति मे कभी मानव को हटाकर विचार नही किया गया। गॉधी जी भी अपने चिन्तन मे मानव को ही विशेष महत्व देते हैं।

3 हरिजन 1 सितम्बर 1946

तात्पर्य है कि उस समाज मे आर्थिक प्रगति नही हो पा रही है। ऐसे ही लोगो के जीवन-स्तर को उठाने के लिए वे नाना प्रकार के छोटे-छोटे उद्योगो को स्थापित करना चाहते है।

उनका कथन है कि उन्हे भगवान् ने हाथ तो दिए है, परन्तु वे स्वत उत्पादक नही बन सकते। उनके लिए शासन से पूजी का सहयोग आवश्यक है। श्रम और पूजी के सहयोग से उसका जीवन-स्तर उन्नत हो सकता है। वे यह मानते है कि जैसे प्रकृति और पुरूष के सम्बन्ध से सृष्टि हाती है उसी प्रकार उनके श्रम और पूजी के सयोग से उनके सुखमय जीवन की भी सृष्टि हो सकती है।[1] वे कहते हे कि हमारी उपलब्धियो का मानदण्ड वही मानव है, जो अनिकेत और अपरिग्रही है। वे मानते है कि शासन आर्थिक सरचना की रूपरेखा तैयार करते समय उन लोगो को ध्यान मे नही रखता। अत शासन द्वारा उनको पक्के, सुन्दर घर बनाकर देने चाहिए ताकि उनके बच्चो ओर स्त्रियो को शिक्षा की भी व्यवस्था करनी चाहिए। उन्हे हमे उद्योगो और धन्धो की शिक्षा दकर उनकी आय को ऊँचा उठाने को प्रयत्न करना चाहिए। जब तक हम उनके जीवन को उन्नत नही कर पायेगे तब तक आर्थिक विषमता बनी ही रहेगी। उनका दृष्टिकोण है कि स्वदेशी एव विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के द्वारा ही उनके जीवन को सुदृढ और समृद्ध बनाया जा सकता है।

2 9 मानव और मशीन

उपाध्याय जी के अनुसार प्रौद्योगिकी का सम्बन्ध मशीन से है। अत इसका चुनाव सही ढग से विचारपूर्वक करना चाहिए। योग्य मशीन रहने पर ही श्रमिक को श्रमिक की सज्ञा देकर उसे उत्पादक बना सकते है नहीं तो वह केवल उपभोक्ता बनकर ही रह जायगा। जो बैल हल के लिए उपयोगी है वे ही ट्रेक्टर का प्रयोग करने पर निरर्थक सिद्ध होगे। अत देश मे उपलब्ध उत्पादन-उपकरणो के साथ मेल खानेवाली मशीन का ही प्रयोग करना चाहिए। श्रम और शक्ति, पूजी और

---

1 उपाध्याय जी का चितन सांख्यदर्शन से प्रभावित लगता है। साख्य का मत है कि प्रकृति और पुरूष के सम्बन्ध से सृष्टि होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपाध्याय जी ग्राम रूपी प्रकृति और पूजी रूपी पुरूष के सम्बन्ध से जीवन की सृष्टि करना चाहते हैं। उनका कथन है कि इनमे से किसी की भी उवहेलना नहीं की जा सकती।

प्रबन्ध माल और माग ये सभी मशीन के स्वरूप को निश्चित करने वाले होने चाहिए। मनुष्य ने इनके बदलते हुए स्वरूप के साथ मशीन का आविष्कार किया। **ऐसा कहा जाता है कि ''आवश्यकता आविष्कार की जननी है''। किन्तु आज मशीन के लिए मनुष्य को ही बदलने पर विवश किया जा रहा है। सम्पूर्ण उत्पादन प्रणाली एक मशीन पर केन्द्रित हो गयी है और आविष्कार आवश्यकताओ का निर्माण कर रहे है।**[1]

उनके विचारो मे मशीन एक ओर श्रम बचत का माध्यम बनकर मनुष्य को बेकार बनाती है तो दूसरी ओर श्रम की उत्पादन क्षमता बढाकर उसे वास्तव मे कमजोर बनाती है। बिना मशीन यदि मनुष्य बेकार रहता है तो वह कुछ मशीनो के सहारे अर्ध बेकार रहता है। अर्थ बेकारी को पूरा काम देकर यदि उसकी आय मे परिवर्तन कर दिया जाय तो बढी हुई आय से वह औरो को भी काम दे सकेगा। अत एक विकासशील अर्थव्यवस्था को गति देने के लिए मशीनो का प्रयोग कर उत्पादकता बढाना नितान्त आवश्यक है।

किन्तु उपाध्याय जी का कहना है कि जब मशीन के प्रयोग से मजदूरो की छटनी होती है अर्थात् उनकी मात्रा घटाकर कम की जाती है तथा वे बेकार होकर समाज पर भार बन जाते है, या फिर से खेती लगाकर खेती का विपणनीय अतिरेक कर देते है तो एक ओर गल्ले का दाम बढ जाता है तथा दूसरी ओर किसान की मशीनो से बने माल की मॉग कम हो जाती है। अत मॉग के कम होने के कारण उन्हे भी अधिक उत्पादकता होने के बाद भी उत्पादन माल की कम खपत होने से अपना उत्पादन कम करना पडता है। इस प्रकार वे भी एक प्रकार से अर्ध बेकार हो जाते है। इस प्रकार मशीन के सुधार के कारण जब छटनी होती है तो उससे अर्थव्यवस्था मे एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाता है।[2]

इन उपर्युक्त कारणो से आज देश मे जहॉ कुछ लोग मशीन के पक्ष मे है तो वही दूसरी ओर कुछ ऐसे लोग भी हे जो मशीन को अपना कट्टर दुश्मन मानते है। एक मशीनो के अभिनवीकरण क अभाव को ही भारत की गरीबी का कारण मानकर चलते है तो दूसरे अमानवीकरण और यन्त्रीकरण का ही देश के विनाश के लिए जिम्मेदार ठहराते है। परतु उपाध्याय जी कहते है कि **''मशीन न तो मनुष्य का शत्रु है और न मित्र।** वह एक **साधन है तथा उसकी उपादेयता समाज की अनेक शक्तियो क्रियाप्रतिक्रिया पर निर्भर करती है।''**[1]

किसी भी नयी मशीन के कारण अर्थ-व्यवस्था को गति प्राप्त हो सकती है यदि -

1 बढी हुई उत्पादकता से प्राप्त आय का श्रमिको और पूजी लगाने वालो मे ठीक-ठीक वितरण हो सके।

2 इस आय का कुछ-न-कुछ अश चित्तसचय तथा उपभोग दोनो के काम आये।

2 देश मे पूजी निर्माण की गति इतनी हो कि नई मशीनो को खरीदने मे व्यय करने के बाद भी वह इतनी बची रहे कि केवल छटनी किये हुए मजदूर को ही नहीं, अन्यो को भी काम देने के लिए उद्योग धन्धे प्रारम्भ किये जा सके।

स्पष्ट है कि दीनदयाल जी मशीन को काल सापेक्ष मानते है। मशीन को आर्थिक आवश्यकताओ के अनुकूल होना चाहिए। अगर मशीनीकरण हमारे सास्कृतिक एव सामाजिक मूल्यो का पोषक नही है तो कम-से-कम अविरोधी अवश्य होना चाहिए।

अध्याय 3

समाजवादी मूल्य-दर्शन

3 1 सामान्य परिचय

बीसवी शताब्दी के पहले सात दशको मे विश्व के विभिन्न भागो मे राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समाजवादी आदर्शो से प्रभावित होकर अनेक राजनैतिक आन्दोलनो, सघर्षो तथा क्रान्तियो का सचालन किया गया। इस सभी राजनैतिक गतिविधियो का उद्‌देश्य एक ऐसी न्यायोचित सामाजिक-व्यवस्था की स्थापना थी जिसमे सभी लोग शोषण, दमन, अनुचित, पक्षपात, उत्पीडन तथा कूरता की स्थितियो से मुक्त होकर बिना किसी भय और विवशता के अपनी रूचियो तथा क्षमताओ का सम्पूर्ण स्वतन्त्रता से रचनात्मक विकास कर सके। 'यह सिद्धान्त अथवा समाजवादी आदर्श इतनी तजी से अपना स्थान विभिन्न राष्ट्रो के लोगो के दिलो-दिमाग मे बैठने लगा कि इन सात दशको मे लगभग पचास देश जिनमे सोवियत सघ, युगोस्लाविया, चीन अनेक पूर्वी यूरोपीय देश, उत्तरी कोरिया, क्यूबा, वियतनाम, अगोला इत्यादि शामिल है, अपनी राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओ को समाजवादी घोषित करने मे गर्व का अनुभव करते थे। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी आन्दोलनो मे व्याप्त तीव्र विवादो तथा विरोधो का सकेत आपसी दोषारोपणो तथा भर्त्सनाओ मे स्पष्ट झलकता था। यदि अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति इतनी विवादास्पद दिलचस्प तथा भ्रामक थी तो सविधान सशोधन द्वारा समाजवादी सामाजिक व्यवस्था को सवैधानिक लक्ष्य घोषित कर देने के बाद हमारे देश मे भी किसी किस्म के देशी रूपान्तरित सस्करणो की कोई कमी नही रही है। हमारे यहॉ भी समाजवाद का शोर इतना बढा कि वैदिक तथा सिक्ख समाजवाद से लेकर गाधीवाद, नेहरूवाद, लोहियावादी, आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण के अनुयायी इत्यादि सभी समाजवाद की परिभाषा अपने-अपने विचारो के माध्यम से प्रगट करने लगे।

सामाजिक सदर्भो मे मानवतावादी, उदारवादी दृष्टिकोण को यथार्थपरक व्यावहारिक रूप देते हुए उत्पादन साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर सामूहिक स्वामित्व को प्रस्तावित किया गया

ताकि काई भी व्यक्ति या सामाजिक वर्ग दूसरे व्यक्तियो या वर्गो पर अपने सम्पत्ति के कारण प्रभुसत्ता स्थापित कर मनमानी न चला सके। इसप्रकार एक ऐसे समाज की कल्पना की गई जिसका मुख्य उद्देश्य उत्पादन शक्तियो के समुचित योजनाबद्ध विकास द्वारा मानवीय श्रम को अपमानजनक विवशतापूर्ण स्थितियो से निकालकर श्रम की उपलब्धियो के विवेकपूर्ण न्यायोचित वितरण की व्यवस्था के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्थान पर सामूहिक सम्पत्ति की स्थापना करना होगा। धीरे-धीरे इस कल्पना की सुस्पष्ट तथा व्यवस्थित अभिव्यक्ति एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के लक्ष्य मे हुई जिसमे उत्पादन वितरण तथा उपभोग का सयोजन पूजीपतियो के लाभ के हितो द्वारा निर्धारित न होकर मानवीय आवश्यकताओ द्वारा निर्धारित होगा। यह भी सभी समाजवादियो की मान्यता बन गई कि उत्पादन की ऐसी व्यवस्था सिर्फ सामूहिक सम्पत्ति पर सामाजिक नियन्त्रण के माध्यम से ही सभव है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के रहते हुए समाजवाद के आदर्श की सिद्धि लगभग असम्भव है। इस प्रकार पूजीवाद तथा समाजवाद को मूलत विरोधी व्यवस्थाएँ स्वीकार करते हुए एक ही शक्ति को दूसरे के लिए सकटदायी माना गया।

3 2 सास्कृतिक समाजवाद के स्तम्भ आचार्य नरेन्द्रदेव

सिद्धान्त रूप मे आचार्य नरेन्द्र देव मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्त, इतिहास की आर्थिक व्याख्या तथा वर्ग सघर्ष के सिद्धान्त से सहमत थे और इसप्रकार विचारधारा की दृष्टि से मार्क्सवादी थे। वे यह स्वीकार करते थे कि मार्क्स ने सामाजिक विकास के लिए जिन नियमो को प्रस्तुत किया वे प्राचीन काल से ही समाज मे प्रचलित रहे है। समाज मे आर्थिक ढॉचे मे परिवर्तन के साथ समाज की रचना मे भी परिवर्तन होता रहा है। यह परिवर्तन द्वन्द्वात्मक ढग से वर्ग सघर्ष के साथ जुडा हुआ है तथा मार्क्सवादी के रूप मे आचार्य नरेन्द्र देव ने भौतिकवाद के सम्पूर्ण दर्शन को कभी स्वीकार नही किया। नैतिक-मूल्यो की प्राथमिकता मे उन्हे विश्वास था, इसी लिए समाजवाद के मानववादी स्वरूप पर उनका सदैव आग्रह रहा। अचार्य जी ने समाजवाद को एक राजनीतिक आन्दोलन के साथ ही एक सास्कृतिक आन्दोलन भी माना।

आचार्य नरेन्द्र देव की धारणा है कि "**मनुष्य रोटी, शांति एवं स्वतन्त्रता तीनों चाहता है और ये सब बातें सच्चे समाजवाद की स्थापना द्वारा ही प्राप्त हो सकती है।**"[1] उनके विचार मे "जब

---

1 मुकुंट बिहारी लाल नरेन्द्रदेव युग और नेतृत्व पृ 474

समाज के हित के लिए उद्योग व्यवसाय का सगठन होगा और उत्पादन के सारे साधन व्यक्तियो की मिलकियत न होकर समाज की मिलकियत बन जॉएगे तो समाज अपने साधनो के अनुसार जीवन की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए इतने परिमाण मे वस्तुओ का उत्पादन करेगा कि समाज के प्रत्येक सदस्य को पूरी स्वतन्त्रता के साथ अपनी शक्तियो के विकास का अवसर मिलेगा।"[1] आचार्य जी का कहना है कि समाज के हाथ मे जब उत्पन्न वस्तुओ का वितरण और विनिमय होगा तो समाज मे दरिद्रता और शान्ति के स्थान पर तुष्टि-पुष्टि और शाति विराजेगी।"[2]

आचार्य नरेन्द्रदेव खेती के व्यवसाय को राजकीय उद्योग मे बदलने के पक्ष मे नहीं थे। वे तत्कालीन सोवियत रूस मे प्रचलित सामूहिक खेती के भी विरुद्ध थे। उनका विश्वास "सहकारी कृषि की प्रथा मे था जिसमे सबकी जमीन एक साथ जोती–बोई जाए तथा फसल काटने के वक्त रकम ओर क्षेत्रफल के हिसाब से पैदावार बॉट ली जाए।"[3]

आचार्य नरेन्द्रदेव जी यह स्वीकार करते है कि समाजवादी समाज मे भी विभिन्न प्रकार के कार्यो को सुचारू रूप से सम्पन्न करने के लिए विभिन्न तरह के पेशे रहेगे अत **पूर्ण समता स्थापित करना सम्भव नहीं है।**"[4]

3 3 क्रान्ति का अर्थ

आचार्य नरेन्द्र देव सामाजिक परिवर्तन के कारक के रूप मे क्रान्ति को परिभाषित करते है। आप के अनुसार हिसा और मारकाट क्रान्ति नही कहला सकता बल्कि सामाजिक आर्थिक सरचना मे बुनियादी परिवर्तन ही क्रान्ति है। आचार्य जी कहते है कि साम्यवादी रूस, साम्यवादी चीन वियतनाम, कपूचिया, क्यूबा तथा पूर्वी योरोप के तथा कथित साम्यवादी राज्य इसके स्पष्ट उदाहरण है। क्यूबा

---

1 मुकुट बिहारी लाल नरेन्द्रदेव युग और नेतृत्व, पृ 474-75

2 वही नरेन्द्र देव जीवन और सिद्धान्त पृ 190

3 मुकुट बिहारी लाल नरेन्द्रदेव युग और नेतृत्व पृ 475

4 वही, पृ 476

ओर चीन को छोडकर सभी देश जनतन्त्र की और बढ रहे है। आचार्य जी का कहना है कि-' **क्रान्ति हनुमान चालीसा नहीं है कि उसका नित्य पाठ किया जाय। क्रान्तिकारी समाजवादी की क्रान्ति दूध के उफान की तरह नहीं है जो पानी का छींटा पडते ही तुरन्त शान्त हो जाता है।''**[1] नरेन्द्र देव जी ऐसे क्रान्तिकारियो को निरर्थक मानते थे जो सर्वत्र सुधारवाद की गध पाते है। उनके लिए जनतन्त्र भी सुधारवाद का एक अग है तथा सास्कृतिक आन्दोलन और रचनात्मक कार्यक्रम भी सुधारवादी है।[2]

आचार्य नरेन्द्र देव का स्पष्ट मत था कि यदि हम प्रत्येक कार्य का यह कहकर तिरस्कार करेगे कि यह सुधारवादी है और क्रान्ति के आसरे बैठे रहेगे तो हमारे लिए क्रान्ति की घडी कभी नही आयेगी। आचार्य जी का कहना है कि क्रान्तिकारी की दृष्टि पैनी और व्यापक होती है कोई भी अच्छा काम उसके लिए त्याज्य नही होता। ''लोकशिक्षा के जितने भी काम है, वह सब क्रान्ति के अन्तर्गत ही आते है।[3] क्रान्तिकारी ध्येय को सदा सामने रखकर ही चलता है।

आचार्य जी का कहना है कि ''विशुद्ध साविधानिकता और सशस्त्र विद्रोह दोनो ही निन्दनीय ह।' उनके अनुसार जनतात्रिक साधन और सवैधानिक ससदीय साधन सर्वथा एक नही है। वे कहते हे कि जनतात्रिक साधनो मे हडताल और सत्याग्रह जैसे शान्तिमय सघर्षो का भी समावेश है। आचार्य जी कहते है कि ''आतकवादी कर्म तथा षड्यन्त्रात्मक हिसा, अराजकतावाद और हताशा की बचकानी विकृतियॉ है। दुनिया मे कही भी लोकतन्त्र ने समाजवादी प्रकार के सशस्त्र विद्रोह के आगे घुटने नहीं टेके। उनके अनुसार समाजवादी क्रान्ति का हित जनतात्रिक शक्तियो को मजबूत करने मे है।[4]

---

1 भारतीय राष्ट्रीयता का सवाल-नरेन्द्र देव पृ 296

2 वही पृ० 298

3 प्रेम गसीन भारत मे सामाजिक-सास्कृतिक परिवर्तन, पृ० 49

आचार्य जी सामाजिक क्रान्ति के तैयारी के विषय मे कहते है कि हमे बराबर जनतान्त्रिक और तदनुकूल शातिमय तथा अहिसक रहना होगा और लोकतान्त्रिक मनोभाव के भारतीयो को यह आश्वासन देना होगा कि हम लोकतान्त्रिक समाजवाद के हामी है तथा तानाशाही लादने का हमारा कोई इरादा नहीं है। हम अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए लोकतान्त्रिक साधनो का प्रयोग करेगे।[1] इस सन्दर्भ मे उन्होने शिक्षा, सगठन, रचना और सघर्ष को महत्वपूर्ण माना है।

आचार्य नरेन्द्रदेव का कहना है कि क्रान्ति अनैतिक नही है। यह नीति-निरपेक्ष या निर्नैतिक भी नही है। क्रान्ति को अनेतिक या निर्नैतिक साधनो से आगे नहीं बढाया जा सकता। उनका कहना है कि क्रान्तिकारियो को अपनी नैतिक उत्कृष्टता को उद्‌भाषित करना होगा और उन्हे जनता को यह विश्वास दिलाना होगा कि यह लोग नीतिपूर्ण समाज की स्थापना करेगे जिससे भेदभाव, दमन, और शोषण इत्यादि निषिद्ध होगे।[2]

आचार्य नरेन्द्रदेव का कहना है कि क्रान्तिकारी की अवज्ञा की भावना को आत्मानुशासन से तथा ध्येय के प्रति निष्ठा द्वारा सतुलित करने की जरूरत होती है।[3] उनका विचार है कि जनता के व्यापक विश्वास वाले दल के अभाव मे सफल सघर्ष असम्भव है और वह दल जनता का विश्वास नही प्राप्त कर सकता-जिसके कार्यकर्ता अन्याय के विरूद्ध विद्रोह की भावना रखने के साथ ही समर्पित, साहसी, आत्मत्यागी, ईमानदार और गहन मानवीय सहानुभूतिवाले न हो। सक्रिय कार्यकर्ताओ मे इन गुणो को लाना होगा। उन्हे यह भी समझाना होगा कि अच्छे उद्‌देश्य के साथ-साथ साधन भी आवश्यक रूप से अच्छे होने चाहिए। आचार्य जी का विचार है कि **"अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कुछ निश्चित मानव-मूल्यों और सदाचार को अपनाना होगा।"**[4]

---

1 नरेन्द्र देव ट्रान्जिशन टू सोशलिज्म पृ० 34

2 टुवडर्स सोशलिस्ट सोसायटी पृ० 133

3 प्रेम भसीन भारत मे सामाजिक सास्कृतिक परिवर्तन पृ० 52

नरेन्द्रदेव के अनुसार देश के आर्थिक और सामाजिक ढॉचे मे मूलभूत परिवर्तन क्रान्ति द्वारा ही हो सकता है। लोहिया यह मानते है कि बिना "विचार-दर्शन" के समाज मे क्रान्ति नही हो सकती है। नरेन्द्रदेव के अनुसार समाज मे परिवर्तन हिसा द्वारा नही हो सकता। नरेन्द्रदेव इस बात को पहले ही कह चुके थे कि सोवियत सघ लोकतन्त्र की ओर बढ रहा है। आज नरेन्द्र देव का वह कथन सत्य सिद्ध हो गया है। नरेन्द्रदेव तथा लोहिया, दोनो ही क्रान्ति के सन्दर्भ मे नैतिकता पर बल देते है। लोहिया जनतन्त्र को गतिशील स्वीकार करते थे और वे एक लक्ष्य की पूर्ति के बाद दूसरे लक्ष्य की ओर अग्रसर होते थे।

महात्मा गाधी के समान अचार्य नरेन्द्रदेव ने भी अहिसा एव नैतिकता को अपने चिन्तन का आधार बनाया वे समाजवादियो से बार-बार यह आग्रह करते है कि दलित और शोषित वर्ग के प्रति आदर तथा सम्मान का भाव रखना चाहिए तथा जनता की सेवा एक सेवक के समान करना चाहिए तभी सच्चे अर्थो मे समाजवाद की स्थापना हो पाएगी।

आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपने विचारो को गाधी के समान ग्रामो की शोषित जनता के इर्द-गिर्द केन्द्रित किया है। वे कहते है कि "सामाजिक और आर्थिक विषमता को दूर कर, मनुष्य को मानवता से विभूषित कर आत्मोन्नति के लिए सबको ऊँचा उठाकर, जाति-पाति और सम्प्रदाय के बधनो को तोडकर ही हम अहिसा की सच्चे अर्थो मे प्रतिष्ठा कर सकते है।"[1] इसप्रकार यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि नरेन्द्रदेव जी गाधी के अहिसावादी सिद्धान्त से बहुत ही गहराई तक प्रभावित है। वे कहते भी है कि "**गाधीजी का जीवन अहिंसा का एक उपदेश था।**"[2]

आचार्य नरेन्द्रदेव, शोषण विहीन समाज की स्थापना के लिए वर्गसघर्ष को अनिवार्य मानते है और यहॉ महात्मा गाधी से थोडा अलग दिखाई पडते है। गाधीवादी सत्य, अहिसा हृदय-परिवर्तन के द्वारा अहिसक क्रान्ति से समाज में सुधार लाना चाहता है परन्तु नरेन्द्रदेव दास कृषक, श्रमजीवी

---

1 नरेन्द्र देव राष्ट्रीयता और समाजवाद पृ० 473

2 वही पृ० 476

आदि के विद्रोहो का विवरण देते हुए वर्गसघर्ष को अनिवार्य मानते है। उनका कहना है कि समाज मे विकास उसकी आन्तरिक असगतियो के जरिए होता है।" यह असगतियॉ जब जब अपनी चरम सीमा पर पहुॅच जाती है तो क्रान्ति घटित होती है। समाज की तरक्की एक मजिल से दूसरी मजिल पर ले जानेवाली कोई रहस्यमयी शक्ति नही हे बल्कि यही सामाजिक-क्रान्ति होती है। यह क्रान्ति वर्गसघर्ष की चरम सीमा पर ही घटित होती है।"[1]

आचार्य नरेन्द्रदेव का कहना है कि बिना सामतशाही वर्ग के शोषण को खत्म किए, किसानो की आमदनी नही बढायी जा सकती और न ही उद्योग-धन्धो के विकास के लिए ही रास्ता साफ होगा। उनका कहना है कि उत्पादन के साधनो पर व्यक्तिगत सम्पत्ति और उससे उत्पन्न होनेवाले सामाजिक शोषण को बनाए रखने वाले पूजीपति वर्ग और सामन्तवादी वर्ग दोनो एक हो जाते है। इसे ध्यान मे रखते हुए आचार्य जी वर्गसघर्ष का समर्थन करते है उनका कहना है कि "ऐसी स्थिति मे पूजीवादी वर्ग के खिलाफ लडकर ही शोषित वर्ग प्रजासत्तात्मक क्रान्ति को सफल बनाते है, क्रान्ति को सफल बनाने का काम श्रमजीवी वर्ग दूसरे शोषितो के साथ मिलकर करता है।"[2]

वर्गो की चर्चा करते हुए आचार्य नरेन्द्रदेव ने क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतिपादन किया हे। उनका विचार है कि मजदूरो की राजनीतिक शिक्षा का कार्य गैर मजदूर श्रेणी के समाजवादी बुद्धिजीवियो द्वारा होता है और मजदूरो मे क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी वर्ग के द्वारा यह चेतना लायी जा सकती है।

आचार्य नरेन्द्र देव का मत है कि इतिहास एक गतिमान प्रवाह है जिसे केवल गत्यात्मक पद्धति के द्वारा ही समझा जा सकता है। आचार्य जी का कहना है कि समाजवादी व्यवस्था को लागू करने के लिए आर्थिक-सामाजिक क्रान्ति से काम लिया जाना चाहिए। इसके लिए आचार्य नरेन्द्रदेव वर्गसघर्ष की अनिवार्यता पर जोर देते है। इस सदर्भ मे वे पूजीवाद के दुष्परिणामो की ओर ध्यान

---

1 नरेन्द्र देव राष्ट्रीयता और समाजवाद पृ० 293

2 वही पृ० 297

आकृष्ट कराते हुए कहते है कि पूजीवादी प्रजातन्त्र की स्थापना से आज की दुनिया मे आजादी कायम हो गयी है किन्तु श्रमजीवियो के लिए यह आजादी पूजीपतियो की शर्त पर अपना आत्मसमर्पण करने या बदले मे भूखो मरने की ही आजादी है। आचार्य जी का कहना है कि आज की सामाजिक-व्यवस्था ऐसी है कि मेहनत करे कोई और खाये कोई दूसरा। उनका कहना है कि आज की दुनिया की लूट-खसोट तथा शोषण की इस प्रणाली का नाम है पूजीवाद। उनका कहना है कि आज एक तरफ तो वो लोग हे जो कल-कारखानो, जमीनो, औजारो व उत्पादन के साधनो के मालिक है ओर दूसरी तरफ वे असख्य है, जिनके पास कोई सम्पत्ति या उत्पादन के साधन बिल्कुल नही है- वे मजदूरो के रूप मे भाडे पर काम करने को मजबूर है।"[1]आचार्य जी का कहना है कि वे मजदूर उत्पादन के साधन से वचित होने के कारण जीवन-निर्वाह के सामान्य साधनो से भी वचित हे उनके पास अपना श्रम बेचने के सिवा कोई दूसरा रास्ता भी नहीं है।

आचार्य नरेन्द्रदेव, मार्क्स की इस बात को स्वीकार करते थे कि वर्ग-सघर्ष राजनीतिक एव आर्थिक दोनो है। उनका यह भी मानना था कि पूजीवादी युग मे कल-कारखानो का मजदूर ही मुख्य क्रान्तिकारी वर्ग है औद्योगिक क्रान्ति उसी से हो सकती है।"[2]

आचार्य नरेन्द्रदेव पूजीपतियो और श्रमजीवियो के मध्य विषमता का कारण, पूजीपतियो का उत्पादन विनिमय तथा वितरण के साधनो पर उनके एकाधिकार को मानते है। उनका कहना है कि उत्पादन के इन साधनो पर, मिल कारखाने बैक आदि मे काम करने वालो का कोई अधिकार नहीं है। उनका कहना है कि आजकल बडे पैमाने पर पैदावार होती है पर उत्पादन के साधनो पर समाज का या उनमे काम करने वाले व्यक्तियो का कोई अधिकार न होकर व्यक्तिगत पूजीपतियो का अधिकार होता है तात्पर्य यह है कि पूजीवाद का परिणाम न सिर्फ समाज के लिए ही बल्कि पूजीपतियो के लिए भी घातक होता है। वे कहते हैं कि चूँकि समाज का बहुसख्य भाग इन परिश्रम

---

1 नरेन्द्र देव राष्ट्रीयता एव समाजवाद पृ० 274

2 नरेन्द्र देव राष्ट्रीयता एव समाजवाद पृ० 235

करने वालो का है जिनकी क्रयशक्ति दिन-ब-दिन घटती ही चली जाती है, इसलिए पूजीपतियो को अपना माल बेचना मुश्किल हो जाता है। उनका कहना है कि यूँ तो पैदावार न होने के कारण पूजीवादी-व्यवस्था आर्थिक सकट मे आ ही जाती है लेकिन श्रमजीवियो की क्रयशक्ति के हवस के फलस्वरूप यह सकट स्थायी रूप धारण कर लेता है और इस प्रकार उत्पादन की शक्तियो और विनिमय के बीच घोर असगतियाँ उत्पन्न हो जाती है। आचार्य नरेन्द्र देव कहते है कि समाजवाद का उद्देश्य इन्ही असमानताओ और विसगतियो को दूर करना है।"[1]

आचार्य नरेन्द्र देव चेतना के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहते है कि शोषक वर्गो यानि जमीदार और पूजीपति तथा शोषित वर्गो अर्थात् किसान, मजदूर व दूसरे सताये हुए तबको के बीच हमेशा सघर्ष बना रहता है लेकिन आज के सदर्भ मे यह सघर्ष सिर्फ मजदूरी बढाने, काम के घण्टे बढाने इत्यादि के लिए ही नही होनी चाहिए बल्कि यह लडाई लडनी पडेगी, जिसमे मौजूदा शोषणकारी आर्थिक व्यवस्था का ही अन्त हो तथा एक ऐसी नयी आर्थिक प्रणाली की स्थापना हो जिसमे उत्पादन के साधनो पर किसी एक वर्ग विशेष का ही अधिकार न हो। आचार्य नरेन्द्रदेव कहते है कि ऐसे ही नए समाज मे हम युगो से चले आ रहे शोषक और शोषित के वर्गविभेद का अन्त कर सकेंगे और समाज के हर एक परिश्रमी सदस्य को उसके व्यक्तित्व के विकास का उचित अवसर मिल सकेगा।

3 4 वैयक्तिक एव सामाजिक क्रान्ति

आचार्य नरेन्द्र देव एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते है, जिसमे समष्टि एवं व्यक्ति का सामजस्य हो, व्यक्ति समाज के महत्व और मर्यादाओ को स्वीकार करे, प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास और अभिव्यक्ति की समान रूप से समुचित सुविधा और स्वतन्त्रता प्राप्त हो तथा समाज के अधिकार और साधनो का प्रयोग, मानव हित की पुष्टि मे हो।"[2]

---

1 वही पृ० 236

2 यग इण्डियन विशेषाक के पी श्रीवास्तव +स०/ पृ० 12

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत् नियम है। यह अपने गुण के अनुसार व्यक्ति, समाज एव विज्ञान राभी क्षेत्रो मे दिखलायी पडता है। यह परिवर्तन समाज मे कभी शुभ के प्रतीक होते है तो कभी अशुभ के। परिवर्तन की क्रिया सदैव चलती रहती है। आचार्य नरेन्द्र देव जी के विचार मे समाज भी इस परिवर्तन की प्रक्रिया से बच नही सकता।

आचार्य नरेन्द्रदेव के अनुसार समाज मे विकास उसकी आन्तरिक असगतियो के जरिए होता हे। यह असगतियॉ जब अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है तो सामाजिक क्रान्ति घटित होती है। समाज को तरक्की की एक मजिल से दूसरी मजिल पर ले जाने वाली कोई रहस्यमयी शक्ति नही, बल्कि यही सामाजिक क्रान्ति होती है।[1] यह क्रान्ति वर्गसघर्ष की चरमसीमा पर पहॅुचने पर ही घटित होती है।"[2]

आवार्य नरेन्द्रदेव मार्क्स के वर्गसघर्ष का समर्थन करते हुए कहते है कि वर्ग-सघर्ष ही सामाजिक प्रगति का आधार रहा है। उनके अनुसार वर्ग सघर्ष को समाजवादी लोग पैदा नही करते बल्कि उनका उद्देश्य एक ऐसा सगठन बनाना है जिसमे परस्पर विरोधी वर्गो और उनमे निरन्तर चलनेवाले सघर्षो का अन्त हो जाय।"[3] उनका कहना है कि वर्ग-सघर्ष के बिना शोषण और आधिपत्य से छुटकारा मिलना सम्भव नही है और इसी से समाज का विकास हुआ है। इसलिए उनका कहना हे कि प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह शोषित वर्गो को सचेत और सगठित करे और उनमे ऐसी चेतना पैदा करे जिससे कि शोषित वर्गो की लडाई आर्थिक न रहकर राजनीतिक हो जाय। आचार्य जी की ये धारणा थी कि पूजीवादी युग मे, कल-कारखानो का मजदूर ही सामाजिकक्रान्ति का कर्ता-धर्ता है तथा उसका सगठन तथा उसकी चेतना और क्षमता ही सामाजिक क्रान्ति का मूल

---

1 नरेन्द्र देव राष्ट्रीयता एव समाजवाद, पृ० 293

2 वही

3 वही पृ० 297

आधार है। आचार्य नरेन्द्रदेव मजदूरो के साथ-साथ एक "बुद्धिजीवी क्रान्तिकारी वर्ग" की भी आवश्यकता महसूस करते है।"[1] उनके अनुसार इस वर्ग का कार्य, अशिक्षितो को शिक्षित करना तथा उनमे क्रान्ति के लिए चेतना पैदा करना है।

आचार्य नरेन्द्रदेव के अनुसार-समाज मे मौलिक परिवर्तन होना और राज्य शक्ति का एक वर्ग के हाथ से निकलकर दूसरे वर्ग के हाथ मे जाना ही क्रान्ति है तथा एक ऐसे वर्गविहीन समाज की रचना करना जिसमे न कोई शासक है और न कोई शासित-यही सामाजिक क्रान्ति का लक्ष्य है।

आचार्य नरेन्द्रदेव जनतात्रिक उपायो के अभाव मे क्रान्ति के लिए सगठित सशस्त्र सघर्ष का समर्थन करते है परन्तु प्रत्येक परिवर्तन मे सशस्त्र क्रान्ति को आवश्यक और लाभप्रद नही समझते है। एगिल्स की तरह आचार्य जी बालिग-मताधिकार को "क्रान्तिकारी सिद्धान्त" मानते है तथा इसे सामाजिक विकास की ओर एक क्रान्तिकारी कदम समझते है तथा इस बात से सहमत है कि बालिग मताधिकार पर आधारित जनतन्त्र मे जनतात्रिक ढग से सामाजिक क्रान्ति को आगे बढाया जा सकता है।

3 5 डॉ० राममनोहर लोहिया

3.5(अ) समाजवाद की व्याख्या

डॉ० लोहिया ने समाजवाद को न तो मार्क्सवाद का पर्याय माना और न ही गॉधीवाद का। वे रामाजवाद को न तो वैज्ञानिक समाजवाद कहना चाहते है और न ही लोकतात्रिक समाजवाद। उनका कहना है कि समाजवाद, समाजवाद है, वैज्ञानिक समाजवाद कहे या कोई और विशेषण लगाए—वह "समाजवाद" से ज्यादा और क्या होगा।'[2]

डॉ० लोहिया के समाजवादी विचारो पर भारतीय दर्शन एव सस्कृति, जर्मन एव अमेरिकन राजनैतिक घटनाएँ तथा मार्क्स एव गाधी के विचारो का प्रभाव है, परन्तु वे मार्क्स की अपेक्षा गॉधी के अत्यधिक निकट दिखाई पडते है। उनके अनुसार समाजवाद का सारतत्व दो शब्दो मे निहित है- **समता और सम्पन्नता**''। उनका विचार था कि वर्तमान विश्व मे तीन प्रकार की विचारधाराएँ है- पूँजीवाद साम्यवाद तथा समाजवाद। उनका कहना है कि पूँजीवाद तथा साम्यवाद दोनो ही भारत सहित विकासशील देशो के लिए अनुपयुक्त है क्योकि ये दोनो व्यवस्थाएँ प्रचुर पूँजी, उन्नत, तकनीक वाले देशो के लिए है जबकि भारत सहित विकासशील देशो की प्रमुख समस्या है कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था मे कम पूजी तथा सीमित साधनो के द्वारा उत्पादन मे वृद्धि, अत ऐसे देशो की रामस्याओ का समाधान केवल समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ही सभव है।

डॉ० लोहिया के विचार मे समाजवाद के प्रमुख सिद्धान्त है-अधिकतम सभव समता, सामाजिक रवामित्व कम पूजी के प्रतिष्ठानवाली छोटीमशीन योजना, चौखम्भा शासनव्यवस्था तथा विश्व ससद एव विश्व सरकार की कल्पना। इसके अतिरिक्त वे लोकतात्रिक मूल्यो के प्रति भी पूर्ण सजग है। जनतन्त्र के साथ ही उनका समाजवाद पूर्णता को प्राप्त होता है। उन्होने व्यक्ति के अधिकारो एव स्वतन्त्रता को महत्वपूर्ण माना और हर प्रकार के अन्याय का विरोध करने के लिए सिविल नाफरमानी का शस्त्र दिया।

डॉ० लोहिया के अनुसार सम्पूर्ण समता की विशिष्टता उसकी समग्रता और सम्पूर्णता मे है। यह व्यक्ति तथा समाज के जीवन के किसी एक क्षेत्र तक सीमित नहीं है वरन् उनकी समता व्यक्ति तथा समाज के जीवन की सम्पूर्ण विविधताओ एव समस्त क्षेत्रो मे व्याप्त है। यह केवल एक राष्ट्र से नही अपितु विश्वराज्य, विश्व सरकार एव विश्व सस्कृति के विचार से पोषित है।''[1]

डॉ० लोहिया के अनुसार समता की तीन दिशाएँ हो सकती है—भौतिक, दिमागी तथा मानसिक। भौतिक बराबरी के दो रूप है—देश के भीतर अन्दरूनी बराबरी और दुनिया के देशो के बीच बराबरी। अन्दरूनी बराबरी का मुख्य पक्ष है—लोगो की आय और दूसरी आर्थिक सुख-सुविधाओ की प्राप्ति के बीच रामानता।''[2] उनके अनुसार विश्व के विभिन्न देशो के मध्य जब तक आर्थिक समता नही लायी जाएगी

---

1 लोहिया समाजवाद का सगुण रूप आर० एम० लोहिया स्मृति केन्द्र (प्रकाशन वर्ष अकित नहीं) पृ० 1

2 लोहिया नया समाज · नया मन, नवहिन्द प्रकाशन, 1956, पृ० 10

तब तक राष्ट्रो के मध्य भावात्मक एकता भी असम्भव है। दिमागी समता को वे सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते है। उनका कहना है—जब लोक एक दूसरे को दिमागी तौर से बराबर समझे, एक दूसरे से बातचीत करने को तैयार हो, वह होती है असली बराबरी।''[1] उनका कहना है कि विषमता दूर करने के लिए समाज ही नही शासन-पद्धति ही नही, पहले अपने मन को बदलना पडेगा।''[2] तीसरी समता उनके अनुसार मानसिक समता है जिसके अन्तर्गत यह माना जाता है कि मनुष्य को सुख-दु ख, गर्मी-सर्दी खुशी-रज इत्यादि सभी अवस्थाओ मे समभाव रखना चाहिए।

डॉ० लोहिया के अनुसार देश मे समाजवाद की स्थापना के लिए जातिप्रथा का विनाश अति आवश्यक हे क्योकि बिना जाति को समाप्त किए, वर्गहीनता की स्थिति नही आ सकती। उनका कहना है कि 'अगर आप **चाहते हो कि कोई एक सुखी न हो वरन् सभी सुखी हो, तो फिर इस जाति के चक्र को तोडना होगा।''**[3]

सामाजिक क्षेत्र से जाति-प्रथा हटाने के लिए डॉ० लोहिया ने अन्तर्जातीय विवाह तथा अन्तर्जातीय सहभोज को आवश्यक बताया। उनका कहना है कि-''जिस दिन प्रशासन एव फौज मे भर्ती के लिए और बातो के साथ-साथ शुद्र एव द्विजो के बीच विवाह को योग्यता एव सहभोज के लिए इन्कार करने पर अयोग्यता मानी जाएगी उसी दिन जाति पर सही हमला शुरू होगा।''[4]इसी प्रकार उन्होने राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रो से भी जाति प्रथा को हटाने की बात कही। राजनीतिक क्षेत्र मे पिछडो को ऊपर उठाने के लिए उन्होने ''विशेष अवसर'' सिद्धान्त अपनाने पर बल दिया। उनका कहना है कि ''जो राजनीतिक दल, पहले योग्यता, फिर अवसर की बात करते है वे गलत सोचते है इससे जाति प्रथा कभी नही टूट सकती, क्योकि हजारो वर्षो से दबे लोगो के सस्कार

---

1 लोहिया भारत चीन और उत्तरी सीमाएँ नवहिन्द प्रकाशन 1963, पृ० 234

2 लोहिया बहुआयामी व्यक्तित्व, मुख्तार अनीस, विजय कान्त दीक्षित [संपादक] धर्मवीर भारती समता [स्वतन्त्रता [सौन्दर्य=लोहिया, पृ० 15 आर एम लोहिया स्मारक समिति लखनऊ 1984

3 लोहिया जातिप्रथा पृ० 103

4 लोहिया जातिप्रथा, पृ

बदलने के लिए उन्हे बराबरी की दौड मे लाने के लिए उन्हे सहारा देना होगा।"[1] आर्थिक दशा सुधारने के लिए उन्होने भूमि स्वामित्व की सीमा 6½ एकड निर्धारित करने, कृषि की मजदूरी मे वृद्धि करने, बेमुनाफे की खेती से लगान समाप्त करने तथा अधिकतम और न्यूनतम आय की सीमा निर्धारित करने पर बल दिया।

इस प्रकार "समता एव सम्पन्नता" इन दो शब्दो मे ही डॉ० लोहिया के समाजवाद का सार है। समता को वे सत्य एव सौन्दर्य की तरह एक सार्वभौम मूल्य के रूप मे प्रतिष्ठित करना चाहते है। उनकी दृष्टि मे सृष्टि का हर अश उस पूर्ण का एक अश है अत पूर्ण के गुणो से युक्त भी है, इसलिए विषमता अस्वाभाविक और मानवकृत है तथा समता स्वाभाविक एव प्राकृतिक है। उनके समता का दर्शन केवल सम्पत्ति के बराबर बटवारे या भौतिक समता तक ही सीमित नही अपितु इसके लिए मानवीय अस्मिता को भी सबमे समान बाटना है। उनके अनुसार विषमता दूर करने के लिए केवल समाज एव शासन पद्धति का ही बदलाव आवश्यक नही अपितु मन का बदलना जरूरी है।

समाजवाद का आधारभूत सिद्धान्त "हर व्यक्ति से उसकी योग्यता के अनुसार एव हर व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार" मे थोडे बहुत परिवर्तन के बाद, इस सिद्धान्त को प्राय हर समाज मे मान्यता मिली है। इन परिवर्तनो को हम देश-काल एवम् परिस्थितिजन्य परिवर्तन मान सकते है। हिन्दुस्तान मे भी कुछ विचारको ने इस सिद्धान्त को पूर्णत अशत या कुछ परिवर्तित रूप मे व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। आचार्य नरेन्द्र देव एवम् डॉ० लोहिया के समाजवादी चिन्तन मे हम स्वतन्त्रता पर विशेष बल पाते है। डॉ० लोहिया समाजवाद को अधिक व्यापक ढग से लेते है तथा विश्व ससद एव विश्व सरकार को आदर्श रूप मे देखते है। आचार्य नरेन्द्र देव के अनुसार समाज मे विभिन्न पेशे रहेगे अत उन सब पेशो को समान दर्जा प्रदान कर पाना समाज मे सभव नही है अत वह समान अवसर प्रदान करने की बात कहते है। डॉ० लोहिया भौतिक, दिमागी और मानसिक क्षमता की बात कहकर अपने आदर्श रूप के और समीप पहुँचना चाहते है। डॉ०

ग्रिया जाति के आधार पर वर्ग के आधार पर, आर्थिक आधार पर बटे हुए समाज को सहभोज एव अन्तर्जातीय विवाह जेसे मार्ग बताते है जिस पर चल कर यह समाज अपने आदर्श रूप को प्राप्त करेगा।

3 5(ब) क्राति (Revolution) की धारणा

डॉ० लोहिया का कहना है कि 'क्रान्ति के लिए विचार-दर्शन की जरूरत होती है।[1] उनके अनुसार यही विचार दर्शन स्कूल और इस तरह की दूसरी सस्थाओ के लिए उद्देश्य बनाती है। लेकिन डॉ० लोहिया के अनुसार यह विचार-दर्शन उस समय निरर्थक हो जाता है, जब हासिल करने के दौरान मे व्यक्ति ऐसे तरीके इस्तेमाल करे, जो चरित्र निर्माण के खिलाफ पडते है।"[2] डॉ० लोहिया सच कर्म और चरित्र को क्रान्ति के बाद की चीज नही समझते। डॉ० लोहिया का विचार है कि सच, कर्म ओर चरित्र का क्रान्ति के साथ-साथ चलना चाहिए।

वास्तव मे डॉ० राम मनोहर लोहिया पडित नेहरू की तरह क्रान्तिकारी नहीं थे। वे मूलत अस्वीकारवादी थे ओर जब वे निरन्तर सत्याग्रह की बात करते थे तो उनका यह उद्देश्य स्पष्ट था कि वह जनतन्त्र का ठहरा हुआ किताबी रूप नही देना चाहते थे।"[3]वह हर लक्ष्य के बाद दूसरे लक्ष्य की कल्पना करते थे इसलिए उन्हे उपलब्धि से तुष्टि नही मिलती थी और जो कुछ उनका अर्जित लक्ष्य होता था उसी के बीच से अकुरित होते हुए, दूसरे लक्ष्य को देखने की क्षमता रखते थे।

डॉ० लोहिया क्रान्तिकारी एव अस्वीकारवादी मे मौलिक अन्तर बताते हुए कहते है कि 'क्रातिकारी एक प्रारूप के लिए लडता है और जब उस प्रारूप की प्राप्ति हो जाती है तो वह सतुष्ट हो जाता है और उसकी क्रान्तिकारिता समाप्त हो जाती है। लेकिन अस्वीकारवादी किसी भी प्रारूप (ब्लू प्रिन्ट) को अन्तिम सत्य नही मानता बल्कि एक प्रारूप के बाद दूसरे प्रारूप की ओर देखता है

---

1 लोहिया, सच कर्म प्रतिकार और चरित्र निर्माण, पृ० 12

2 वही पृ० 13

3 नवभारत टाइम्स, 21.3.93—सुन

भा[illegible]ात मे और लोकतन्त्र के नितान्त ही कोमल पक्षो को विकसित करता है।"[1] वे कहते है कि धर्मों के सिद्धान्त की सीमाऐं जब 'जड' हो जाती है तो वह सिद्धान्त और आदर्श सडने लगता है। उनके अनुसार क्रान्तिकारिता भी जब सीमाओ मे बध जाती है तो जड हो जाती है-उसका विकास नही होता।

डॉ० लोहिया का विचार है कि "क्रान्तिकारी बहुधा अपनी शुरूआत के उद्देश्य भूल जाते है। उनके अनुसार अपनी कौम या मनुष्य जाति मे सच, कर्म और उदारता के गुण उभारने के लिए 'क्रान्ति' की आवश्यकता की उनकी दिमागी तैयारी शायद हो जाती है और परिवर्तन करने की आवश्यकता भी वे महसूस करते है लेकिन डॉ० लोहिया के अनुसार जब वे राजनीतिक आर्थिक या सामाजिक क्रान्ति करने मे वे लग जाते है तो उन बुनीयादी उद्देश्यो को जो उन्हे प्रेरित करते है भूल जाते है।"[3] डॉ० लोहिया के अनुसार सच्चे तरीके के ठीक विपरीत तरीके अपनाने पर उन्हे सफलता हासिल करने की सभावना दिखायी पडती है। डॉ० लोहिया कहते है कि राजनीतिक सफलता अक्सर एस लोगो को मिलती है जो सच के साथ झूठ को मिलाना जानते है और जिनके लिए उदारता ओर सहयोग के साथ-साथ अलगाव और निर्ममता का व्यवहार आदर्श है।"[4]

डॉ० लोहिया कहते है कि अन्याय का विरोध करने वाले, मन मे भविष्य मे न्याय और भला करने की बात सोचते है। उनके अनुसार ये लोग चेतन या अचेतन अवस्था मे यदि आराम नही तो रूतबा प्राप्त करने के इच्छुक होते हे और उनकी रूतबे के लिए भूख प्राय भला करने की तबियत के बराबर होती है।"[5] डॉ० लोहिया कहते है कि आदमी का भला करने की व्यक्ति निरपेक्ष तबियत रूतबा प्राप्त करने की व्यक्तिगत तबियत से मिल जाती है, जो सिविलनाफरमानी करने वालो और

---

1 वही

2 वही

3 लोहिया सच कर्म प्रतिकार एव चरित्र निर्माण पृ० 12

4 वही पृ० 12

सत्ता नारी दोनो की ही विशेषता है, डॉ० लोहिया कहते है कि इसके बिना सिविलनाफरमानी मे दम नही रहेगा तथा उसका तारतम्य भी टूट जाएगा और वह खत्म भी हो सकता है।"[1]

3.5(स) सिविलनाफरमानी

डॉ० लोहिया सिविलनाफरमानी" के जरिए ही किसी भी प्रकार की "क्रान्ति" करने की सलाह देते है। डॉ० लोहिया का कहना है कि "क्रान्ति" या सिविलनाफरमानी अहिसक तरीके से होनी चाहिए। डॉ० लोहिया की मान्यता थी कि "षड्यन्त्र और हथियार से निरन्तर क्रान्ति की बात असगत है।"[2] उनके अनुरार सिविलनाफरमानी के जरिए निरन्तर क्रान्ति की सभावना निश्चित है और यह सत्ता के दूसरे पहलू ऐयाशी और रूतबे की भूख, जो हिसा को भी बढावा देते है, उसकी एकमात्र दवा है।

डॉ० लोहिया कहते है कि [क्रान्तिकारी] आदमी को, हिसा, अन्याय और अत्याचारपूर्ण रूतबे से लडने के लिए हमेशा तैयार रहना होगा। उनका कहना है कि क्रान्ति करने वाले को अन्याय का विरोध करने की आदत बना लेनी चाहिए। इसके लिए उसे इतिहास से मुँह मोडना होगा।"[3] डॉ० लाहिया कहते है कि ऐसे क्रान्तिकारी आवे जो आदतन गलत अधिकार का विरोध करे। उनका कहना है कि अवज्ञा की आदत सभव है परन्तु हिसा की आदत असम्भव।"[4] उनका कहना है कि क्राति के दौरान यदि हिसा का प्रयोग होने लगा तो, जो हमारा लक्ष्य होगा या जो प्रारूप होगा उराकी प्राप्ति असम्भव हो जाएगी। इसीलिए डॉ० लोहिया कहते है कि हिसात्मक क्रान्ति आदतन सम्भव नही है क्योकि इसके लिए किसी भी ग्रुप मे इतनी आध्यात्मिक और भौतिक सामर्थ्य नहीं होगी। उनका कहना है कि गलत अधिकार और अत्याचारी शासन के खिलाफ आदतन "अवज्ञा" राम्भव है, क्योकि इराके लिए चौडी छाती के अलावा और किसी हथियार की जरूरत नही है। वे

---

1 वही पृ० 16

2 लोहिया सच, कर्म प्रतिकार एव चरित्र निर्माण पृ० 15.

3 वही

4 लोहिया, सच, कर्म, प्रतिकार, एव चरित्र निर्माण, पृ० 15

कहत हे कि सिविल नाफरमानी ' करने वालो की स्थिति रिले-रेस जैसी होनी चाहिए ताकि एक के थकन पर दूसरा उसका स्थान ले सके।"[1] डॉ० लोहिया ने इतिहास के हाली-एजेण्डा पर एक बडा सवाल खडा किया है कि क्या मनुष्य जाति समर्थ होगी ऐसे क्रान्तिकारी पैदा करने मे जो आदतन सिविल नाफरमानी करे ?

डॉ० राम मनोहर लोहिया क्रान्ति सम्बन्धी अपनी विचारधारा को हर जगह कार्य रूप देने की कोशिश करते हे और उसे विभिन्न आन्दोलनो से जोडते है। उनका कहना है कि "समाजवादी लोग जब तक कडे दिल से यह फैसला नहीं करते है कि हमे नीचे की जनता की, किसान, मजदूर, विद्यार्थी की राजनीति चलाना है, मजदूर आन्दोलन, खेत-मजदूर किसान आन्दोलन, महिला आन्दोलन जाति तोडो आन्दोलन दाम बाधो आन्दोलन इत्यादि चलाने है, तब तक कुछ नही होगा।"[2] इस सम्बन्ध मे उनका कहना है कि दुनिया के करीब-करीब हर हिस्से मे यह लडाई लडी जा रही है। वे गेर बराबरी और नाइन्साफी के खिलाफ लडते-जूझते ऐसे समाज की कल्पना करते हे जिससे आन्तरिक शक्ति और बाहरी या भरा पूरा समाज हो।"[3]

इस प्रकार डॉ० लोहिया अन्याय और असमानता के विरूद्ध क्रान्ति करना चाहते है। वे चाहते है कि गरीबी-अमीरी का फर्क दूर हो, ऊँची-नीची और छोटी जाति का, रग भेद का, नर-नारी असमानता का अन्त हो तथा पूजीवाद द्वारा पैदा की गयी आर्थिक असमानताएँ एव हर प्रकार के साम्राज्यवाद का भी विरोध हो जिसमे हथियारो का विरोध भी शामिल है।

3.5(द) जनशक्ति और राजशक्ति

डॉ० लोहिया जनशक्ति द्वारा प्राप्त राजशक्ति की प्राप्ति मे विश्वास करते है। "[4]वे राजशक्ति का उपयोग महान् सामाजिक परिवर्तन के लिए करना चाहते है इसलिए वे उसे जनशक्ति के द्वारा

---

1 वही पृ० 15

2 लोहिया क्रान्तिकरण पृ० 40

3 लोहिया सात क्रान्तियाँ पृ० 29

4 जन, मार्च 68, [लोहिया अक], पृ.

प्राप्त करना चाहते है। उनके अनुसार जनशक्तिविहीन राजशक्ति से सामाजिक परिवर्तन नहीं हो सकता।[1] वे राजशक्ति का उपयोग जनशक्ति बढाने मे करना चाहते है वे ऐसी राजशक्ति के विरोधी है जो जनशक्ति को कुठित करती है।

डॉ० लोहिया ने एक नई सभ्यता की कल्पना की, उस कल्पना के केन्द्र मे था मनुष्य का पूर्ण और समग्र व्यक्तित्व जिसमे विचार ओर कर्म का मेल हो, जो निरन्तर सक्रिय होने के साथ-साथ सतुलित और मर्यादित हो ओर इसके साथ ही उसमे मानवीय करूणा का समावेश हो। उनके अनुसार ऐसे व्यक्तित्व का विकास मनुष्य के बीच अधिकतम सभव समता पर आधारित व्यवस्था मे ही हो सकता है।"[2]

मानवीय करूणा के साथ-साथ सन्तुलित कर्म के लिए डॉ० लोहिया ने गाधी जी के सत्याग्रह का सिविल नाफरमानी के रूप मे अपनाया। उनका कहना है कि हिसा केवल अपने से दुर्बल शत्रु के विरुद्ध ही कारगर होती है।"[3] **सिविल नाफरमानी को लोहिया ने "बल" के रूप मे रखा।** इससे समाज को किसी प्रकार की क्षति भी नही पहुँचती और इसके जरिए सामाजिक क्रान्ति भी आसान हो जाएगी।

डॉ० लोहिया की धारणा है कि "आज विश्व मे ऐसी परिस्थितियॉ मौजूद है जिनमे मनुष्य वर्णो की जड विषमता, वर्गो की लचीली विषमता और दोनो ही स्थितियो मे अन्याय और शोषण क्षेत्रीयता और हिसा के चक्र को तोडकर एक विश्व सभ्यता का निर्माण कर सकता है, जो सभी प्रकार के शोषण से मुक्त हो, जिसमे मनुष्य स्वतन्त्र, समृद्ध और मन से सुखी हो और अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास कर सके।"[4]

---

1 वही पृ० 17

2 जन मार्च 68 [लोहिया अंक] पृ० 36

3 वही

३ 5(य) पूँजीवाद का अन्तर्विरोध

डॉ० लोहिया का कहना है कि पूजीवाद अपने जन्म से ही साम्राज्यवाद से जुडा हुआ है। उनके अनुसार यदि तीसरी दुनिया के देशो की लूट से प्राप्त पूजी पश्चिमी देशो को नहीं मिली होती और इन देशो को बाजार नही मिलता तो पूजीवाद का जन्म ही नही होता। "[1]डॉ० लोहिया का ख्याल हे कि जिरा प्रोद्योगिकी का विकास पूजीवादी देशो मे हुआ है वह मूलत शोषण-मूलक प्रोद्योगिकी है। उनका कहना है कि बडे पैमाने पर उत्पादन की आवश्यकता पूजीवादी देशो को तभी हुई थी जब उन्हे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मिला और डॉ० लोहिया के अनुसार यह एक वास्तविकता है कि यदि उनके पास उपनिवेश न होते तो न बडे पैमाने पर उत्पादन की जरूरत होती और न ही बडी मशीनो का विकास होता।"[2]

डॉ० लोहिया का विचार है कि पूजीवादी समाज का पहला और महत्वपूर्ण लक्षण पूजी का निरन्तर बढते रहना है जो इस व्यवस्था की एक अनिवार्य जरूरत भी है। डॉ० लोहिया के अनुसार चूँकि पूजी का अस्तित्व इस समाज मे व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप मे होता है, इसलिए पूजीपतियो मे पूजी के सचय की होड हमेशा लगी रहती है। इस होड के चलते ही वे ऐसी मशीनो का इस्तेमाल करते रहते है जिनसे बडे पैमाने पर बाजार के लिए सस्ती वस्तुएँ तैयार की जा सके। डॉ० लोहिया कहते हे कि यह एक तथ्य है कि श्रम की उत्पादकता जितनी बढेगी, पूजीपतियो को उतना ही ज्यादा अतिरिक्त मूल्य प्राप्त होगा और फलस्वरूप वे अधिक पूजी का सचय कर सकेगे।"[3]

डॉ० लोहिया कहते है कि इस प्रक्रिया से उत्पादन और खपत का सतुलन बिगड जाएगा। अधिक पूजीवाली मशीनो के लगने से श्रम की उत्पादकता जरूर बढ जायेगी, बडी तादातमे वस्तुओ का उत्पादन भी होने लगेगा, पर मजदूरो की तनख्वाह, स्थिर बनी रहेगी। डॉ० लोहिया कहते है कि

---

1. रमेश चन्द्र सिह राजनीतिक और साहित्य, पृ० 54

2 वही पृ० 54

बाजार म सामान ज्यादा हो जाएगा परन्तु खरीदने वाले कम होगे। इससे मदी तो आएगी ही, इस मदी के चलते बेरोजगारी भी बढेगी। डॉ० लोहिया कहते है कि इस मदी से उबरने के लिए पूजीपति उत्पादन का बढाने की बजाए घटाने लगते है इससे पूजीपतियो के मुनाफे की दर घटने लगती है। इसका परिणाम यह होता है कि कम पूजी वाले छोटे-छोटे व्यापारी इस दोड मे टिक नहीं पाएगे और जिस तरह बडी मछली छोटी मछली को निगल जाती है उसी तरह उन्हे बडी पूजी वाले उद्योगपति निगल जाएगे, इस तरह डॉ० लोहिया के अनुसार औद्योगिक पूजीवाद का स्थान एकाधिकारवादी पूजीवाद ले लेगा। **इसे मार्क्स ने पूजी के केन्द्रीकरण का सिद्धान्त कहा है।**

डॉ० लोहिया कहते हे कि 'पूजी के केन्द्रीकरण का मतलब ही होता है श्रमजीवियो का अधिकाधिक शोषण। इस शोषण के फलस्वरूप न केवल श्रमिको की गरीबी बढती जाएगी, बल्कि सारा समाज दो भागो म बट जाएगा।"[1] इस प्रक्रिया के फलस्वरूप वे कहते है कि मजदूरो मे स्वाभाविक रूप से सगठित प्रतिरोध की चेतना आएगी। कल-कारखानो मे एक जगह काम करने के कारण उनमे एकता आएगी और वे धीरे-धीरे अन्याय के प्रतिकार की दिशा मे आगे बढेगे। उनके विचार मे **इसे ही मजदूरो के समाजीकरण का सिद्धान्त कहा जाता है।"[2]**

डॉ० लोहिया कहते है कि इस तरह स्वत पूजीवाद का सारा ढॉचा विकसित होते हुए उस बिन्दु पर पहुॅच जाएगा जहॉ उत्पादन की शक्तियो को बाधित करने वाले उत्पादन सम्बन्धो का टूटना अनिवार्य होगा। डॉ० लोहिया कहते है कि चूॅकि पूजीवाद मे उत्पादन की प्रक्रिया का चरित्र वैयक्तिक न रहकर सामाजिक होता जाता है, परन्तु नियन्त्रण का चरित्र वैयक्तिक न रहकर सामाजिक होता जाता हे, परन्तु नियन्त्रण इस पर व्यक्ति का ही रहता है इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि इस सम्बन्ध को बदल दिया जाय। डॉ० लोहिया कहते है कि क्रान्ति के द्वारा यह काम मजदूरो का तबका पूरा करता है। उनका कहना है कि यह वर्ग पूजीपतियों के स्वामित्व को खत्म कर सर्वहारा

---

1 रमेश चन्द्र सिंह राजनीति और साहित्य पृ०

का आधिपत्य समाज पर कायम करता है और इस तरह पूजी का समाजीकरण हो जाता है और यही औद्योगिक क्रान्ति कहलाती है।

डॉ० लोहिया कहते है कि पूजीवाद का आम सकट तब पैदा होता है, जब मदी और समृद्धि की पडुमनुमा गति से लगातार गुजरते हुए यह व्यवस्था एक ऐसे दोर मे पहुँच जाती है जब साम्राज्यवादी युद्धो के फलस्वरूप इसमे आगे बढने की शक्ति बिल्कुल नही रह जाती तब दुनिया के मजदूर सगठित होकर इस ढॉचे को ध्वस्त कर देते है और विश्व क्रान्ति लाने मे सफल होते है। डा० लोहिया कहते है कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित पूजीवाद के विकास का सिद्धान्त महज इतना है कि पूजी का सचय ओर केन्द्रीकरण जहॉ होगा, वही श्रमिको की गरीबी बढेगी और जहॉ गरीबी बढेगी वही मजदूरो मे एकता आएगी और सगठित प्रतिरोध की चेतना भी जागेगी, इसका फल डॉ० लोहिया बताते है कि वर्ग सघर्ष तीव्रतर होता हुआ क्रान्तिकारी परिवर्तन का कारण बनेगा।

स्पष्ट है कि नरेन्द्रदेव तथा लोहिया पूजीवादी अर्थव्यवस्था के घोर विरोधी है। दोनो ही विचारक पूजी के केन्द्रीयकरण का विरोध करते है। दोनो विचारक यह स्वीकार करते है कि पूजीवादी व्यवस्था मे पूजीपति के पूंजी मे निरन्तर वृद्धि होती है तथा श्रमिक वर्ग आर्थिक पतन के रास्त पर बढते है। इससे अधिसख्यक श्रमिक वर्ग की क्रयशक्ति का ह्रास होने लगता है और बाजार म उत्पादित वस्तुओ की अधिकता होने लगती है। इस स्थिति मे पूजीपतियो के सामने मदी की स्थिति उत्पन्न होती है तथा छोटे व्यापारी पूजी उत्पादन के दौड मे पीछे रह जाते है। नरेन्द्र देव तथा लोहिया दोनो समाजवादी विचारक यह स्वीकार करते है इससे पूजी का एक सीमित क्षेत्र मे केन्द्रीयकरण होगा। परिणाम स्वरूप मजदूरो का शोषण बढेगा। दोनो ही चिन्तक सर्वहारा वर्ग द्वारा क्रान्ति की उद्घोषणा करते है, जिसमे पूजी का सामाजीकरण होता है और यही औद्योगिक क्रान्ति है। स्पष्ट है कि नरेन्द्रदेव तथा लोहिया आर्थिक क्षेत्र मे मार्क्स के क्रान्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करते है। नरेन्द्र देव के अनुसार पूजीवादी अर्थव्यवस्था मे मजदूरो को अपना श्रम बेचने के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं मिलता है। लोहिया के अनुसार विकासशील देशो के आर्थिक ससाधन के दोहन तथा माल बेचने के लिए विशाल बाजार मिलने के कारण ही पश्चिमी पूजीपति देशो मे पूजीवाद का जन्म हुआ है। नरेन्द्र देव का मत है कि श्रमिकों को मात्र मजदूरी बढाने इत्यादि जैसे कार्यो के लिये

ही नही लडना चाहिये बल्कि शोषणकारी आर्थिक व्यवस्था को समाप्त करने की लडाई लडनी चाहिए। लोहिया के अनुसार मजदूरो मे स्वाभाविक रूप से, शोषण के फलस्वरूप, पूजीवादी व्यवस्था का विरोध करने की चेतना जागृत होगी। नरेन्द्र देव श्रमिको के व्यक्तित्व के विकास पर जोर देते है

अध्याय 4

वेदान्तिक मूल्य-परम्परा के आधुनिक-स्तम्भ अभिनव शंकराचार्य स्वामी करपात्री

इस धराधाम पर जब नास्तिकवाद अपनी चरम् सीमा पर था, सनातन वैदिक धर्म एव यज्ञ-यगादि कर्म उपेक्षित हो गये थे लोग वेदशास्त्रो के प्रतिकूल अपनी व्यवस्थाये देने लगे थे, वर्णाश्रम व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही थी, ऐसे मे श्रद्धालु सनातनी जन चिन्तानिमग्न हो कहने लगे थे, 'कोवेदा**नुध्यरिष्यति**'। एसे दुर्दान्त समय मे सनातन वैदिक धर्म के उद्धार हेतु भगवान शकराचार्य इस धराधाम पर अवतरित हुए थे। उसके लगभग, हजार वर्ष बाद जब सनातन वैदिक-धर्म पर पुन क्रूर-झझावात आया राजनीति मे स्वेच्छाचार, अनाचार, दुराचार बोलबाला हो गया, धर्माचरण मे कमी आने लगी गौ-हत्या होने लगी आग्ल-शासन से देश जर्जर हो गया, पाश्चात्य दार्शनिको से शकर की तुलना करायी जाने लगी, देश-काल परिरिथति मे वेदो को ढालने का प्रयास किया जाने लगा, गाडपाद, शकराचार्य उद्भट द्वारा सुपुष्ट वैदिक अर्थो को नकारते हुए आधुनिक अर्थो का प्रतिपादन किया जाने लगा तो पुन एक बार आस्तिक जन चिन्तानिमग्न हो कहने लगे '**कोवेदानुध्यरिष्यति**' ऐसे समय मे गगा-जमुना की धरती पर एक शक्ति अवतरित होकर पदातिभ्रमण कर रही थी जिसे लोग स्वामी **हरिहरानन्द सरस्वती** उपाख्य स्वामी करपात्री जी के नाम से जानते है।

4 1 धर्मसघ

सनातन धर्म के प्रचार हेतु स्वामी जी ने सनातनी जनो का एक मच अखिल भारतीय धर्मसघ नाम से गठित किया। सन् 1940 मे विन्ध्याचल के यज्ञ मे अखिल भारतीय धर्मसघ की स्थापना निश्चय किया गया और ज्योतिष्पीठ के जगद्गुरू शकराचार्य स्वामी कृष्णनबोधाश्रम के महाराज को इसका अध्यक्ष नियुक्त किया गया।

धर्मसघ के द्वारा शिक्षा के प्रचार-प्रसार हेतु स्वामी जी ने धर्मसघ शिक्षामडल नाम सस्था की भी स्थापना की जिसमें विशुद्ध वैदिक रीति से अध्ययन और अध्यापन की व्यवस्था है। सम्प्रति इसके

अधीन पूरे देश मे इस समय पचीस विद्यालय सचलित हो रहे है। सन् 1967 मे अखिल भारतीय धर्मसघ के तत्वाधान मे गोहत्या के विरोध मे ऐतिहासिक प्रदर्शन किया गया था। धर्मसघ की परिभाषा बताते हुए स्वामी जी ने बताया था कि धर्मसघ का अर्थ है धर्म के लिए'-**'धर्मायसघ धर्मसघ '**। धर्मसघ का उद्‌घोष आज सम्पूर्ण देश मे प्राणिमात्र के सुख पर है-**''धर्म की जय हो'', ''अधर्म का नाश हो'', ''प्राणियो मे सद्‌भावना हो'', 'हर-हर महादेव''।**

स्वामी करपात्री जी ने धर्म वीरो के लिए धर्मयुद्ध मे पालनीय आवश्यक अनुशासनो पर जोर दिया ओर अपने भाषण मे **''हमे अपने धर्म सग्राम मे भगवान कृष्ण की भाति प्रहार सहन करने होगे, माफी नहीं मागनी होगी। भोजन मे कडा आग्रह रखना होगा कि जेल मे किसी अन्य का पकाया आहार न लिया जाये, और वही बैठक निरन्तर पूजा पाठ-जारी रखी जाय, आवश्यक होने पर अनशन का आश्रम लिया जाय।''** महाराणा प्रताप आदि धर्मवीरो का आदर्श, सामने रखकर युद्ध मे अवतीर्ण हो अनुशासन का पूर्णतया पालन करे, बिना अनुशासन के कोई युद्ध नही चल सकता। हम किसी की हानि नही चाहते हम तो केवल यही चाहते है कि हमारे साथ भी न्याय का बर्ताव किया जाये। हमारी इच्छा तो विश्व के कोने-कोने मे शन्ति एव सद्‌भाव का प्रसार करना है।''[1]

4 2 करपात्र विचारधारा का मूल्यात्मक विवेचन –

कार्य मात्र के प्रति कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है। जैसे,-पुत्र के जन्म मे माता-पिता कारण है, वैसे ही पुत्र का जीवनादृष्ट भी उसके जन्म मे कारण हैं। इसी कारण चिन्ता मे बडे-बडे महर्षियो ने विभिन्न दर्शनो की रचना की और परवर्ती विद्वानो ने उन पर विभिन्न प्रकार की टीकाए भी की। इन टीकाओ के भेद मे उन-उन आचार्यो का अपनी साधना का प्रकार ही नियामक था। एक आचार्य ने जिन श्रुतियो को अर्थवाद माना, दूसरे आचार्य ने उन्हे मुख्य, अर्थ मे मान लिया, यही कारण है कि एक वस्तु के विवेचन मे एकत्ववाद और द्वैतवाद का जन्म हुआ। आचार्य भर्तहरि ने कहा है–

तस्यार्थवादरूपाणि निश्चित्य स्वविकल्पजा ।

एकत्विना द्वैतिनान्च प्रवादा बहवो मता ।।[1]

ठीक यही स्थिति वेदान्त-सूत्र के भाष्यो मे भी भेद का कारण बनी और अनेक आचार्यो ने उनकी व्याख्याये की जबकि रामानुजाचार्य सविशेष ब्रहम को अहपद का वाच्यार्थ मानते है वही भगवान शकराचार्य अह ब्रह्मास्मि' मे अहपद का निर्विशेष ब्रहम को लक्ष्यार्थ मानते है। इस पर दोनो आचार्यो, मे मतभेद हे ओर दोनो की आराधना पद्धति भी भिन्न-भिन्न है। दोनो प्रकार के आराधक सदगति प्राप्त करते होगे,। इधर देखा जाता है कि ईसा से लेकर अब तक जितने विदेशी धर्माचार्य हुए व अपने विरुद्ध सम्प्रदाय वालो के प्रति अशिष्ट शब्द का प्रयोग करते रहे, इसका प्रभाव भारत पर भी दिखाई पडता है। कतिपय सम्प्रदायो के लोग अन्य सम्प्रदायो से तथा उनके देवमदिरो से भी घृणा और द्वेष का वातावरण बनाते रहे। इस पर शकराचार्य से लेकर तुलसीदास तक ने सघर्ष मिटाने का प्रयास किया किन्तु एकत्ववाद मे विश्वास न करने वाले लोगो ने न तो सुनी ओर न उन पर आक्षेप करने से बाज आये।

मार्क्सवाद के खण्डन मे स्वामी करपात्री जी ने 'मार्क्सवाद और रामराज्य' नामक ग्रन्थ लिखा है, जिसमे दर्शनो की और उनके भेदो की सामान्यत चर्चा की है। इसके खण्डन मे राहुल साकृत्यायन ने रामराज्य और मार्क्सवाद'' पुस्तक की रचना की जिसमे वैष्णव समुदाय द्वारा शकराचार्य के मत के खण्डन का प्रश्न उपस्थित किया गया। जिसका खण्डन श्री स्वामी जी ने राहुल की भ्रान्ति' नामक पुस्तक मे केवल शकराचार्य के पक्ष का समर्थन करने की दृष्टि से वैष्णवो के पक्षो का उपस्थापन तथा शकराचार्य के पक्ष का प्रतिपादन किया। इस पर बिहार मे भ्रमण करने वाले त्रिदण्डी स्वामी श्री विश्वसेनाचार्य जी ने **''आत्म-मीमांसा''** नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमे कुपित होकर उन्होने स्वामी करपात्री जी को **'मायावादी गजराज'** कहकर ग्रन्थ निर्माण का उद्देश्य कुम्भ-स्थल का विदारण लिखा। साथ ही कहा गया कि स्वामी करपात्री ने अपनी पुस्तक मे श्रीभाष्य का खण्डन किया है। उदाहरणस्वरूप-

---

1 शर्मा, श्री रघुनाथ अहमर्थ विवेक समीक्षा बिहार धर्मसघ शाखा बिन्दगावी बन्धु छपरा भोजपुर 1974, पृ० 3

(1) अद्वैतवादिक रिकुम्भ दृढ विभेत्तु

म न प्रते कृतिवग खलु प न ाणा।[1]

इ। कुवाच्य का उत्तर देना स्वामी जी के लिए शक्य नही था। अत कुछ लिखा नही गया। किन्तु स्वामी जी के अनन्य भक्ता का वह कुवाच्य अच्छा नही लगा ओर उन लोगा ने उसी प्रकार क कुवाच्य लिखना आरम्भ किया। यथा -

(1) कश्चिद वाचाट पाश न रुधिरनूजा मगर्णा वर्ति लज्जो।

प्राश्नाज तेक बन्धु कुटिल कुलकलि कामिक कुन्चिताक्ष।

नावसेकान्ताध्वनीन कपट पटुवटु शूर्पजी वातु शिष्ये,

दम्भक्सेनाभिधान मलिन प न हरे कौलिक कालनेमि।।[2]

इन श्लोक से यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि त्रिदण्डी स्वामी का आरा जिला मे वक्सर क निकट रहना और ताटकावन न उनका यह उन्माद कभी भी जगत् क कल्याण के लिए नही हो सकता। इस को ध्यान म रखकर श्री स्वामी करपात्री जी ने एक वक्तव्य देकर इस साम्प्रदायिक उन्माद क रोकने का प्रयास किया ओर उन्हे अवगत कराया कि जितने आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन ह सबसे अहमर्थ पर विचार हे ओर प्रत्येक विचार यदि श्रीभाष्य का खण्डन ही हे तो आपक लिए बडी कठिन समस्या है। मरा श्रीभाष्य खण्डन करना उद्देश्य कभी नही रहा। इसपर श्री त्रिदण्डी स्वामी जी ने स्वामी करपात्री जी के **''अहमर्थ'** और **'परमार्थसार''** ग्रन्थ की **''अहमर्थ विवेक''** नामक ग्रन्थ मे आलाचना की। इस ग्रन्थ को स्वामी जी ने देखा, बीच-बीच मे **''मत्तप्रलाप''** **''ज्ञानदौर्बल्य''** जैसे कटु शब्दो का प्रयोग देखकर और साम्प्रदायिक उन्माद न बढे धर्मसघ के कार्या

---

1 वही पृ० 4

2 वही पृ० 5

मे इस प्रकार मन्थरा का अकाण्ड ताण्डव कोई विपरीत दिशा न बना दे इसलिए मौन रहना ही अच्छा माना। उसके पश्चात् गोलवलकर जी की पुस्तक **'विचार नवनीत'** उनके रामक्ष आयी ता उसकी समलोचना मे स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती जी ने अपना महानग्रन्थ **'विचार-पीयूष'** लिखा। स्वामी जी के अनुसार "**विचार नवनीत**" मे हिन्दू धर्म एव सस्कृति की शास्त्र विरुद्ध व्याख्या की गयी थी। विचार नवनीत मे ही प्रतिपादित हिन्दू धर्म के सम्बन्ध मे जो भ्रमात्मक विचार हे उसका खण्डन करके अपौरूषेय शास्त्री या सनातन धर्म के सिद्धान्तो की उपयोगिता को स्वामी जी ने अपनी पुस्तक "राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ एव हिन्दू धर्म" मे दर्शाया हे।

आचार्य रजनीश के ग्रन्थ सम्भोग से समाधि" का खण्डन स्वामी करपात्री जी ने क्या सम्भोग से समाधि तक?" मे किया है।

आचार्य रजनीश की एक अन्य पुस्तक 'समाजवाद से सावधान" के पूरक के रूप मे स्वामी करपात्री जी ने "पूजीवाद सगाजवाद और रामराज्य" की रचना की ओर यह सिद्ध किया कि रजनीश ने समाजवाद को पूर्णरूपेण समझा नही है और बिना समझे ही उसका खण्डन किया है।

4 3 धर्म और नीति परक मूल्य-

विद्वदजनो की धारणा है कि धर्म ओर नीति अलग हे, धर्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नही हे किन्तु स्वामी करपात्री जी इस सिद्धान्त के पूर्णतया विपरीत धर्म को राजनीति का पति बताते है। धर्म के बिना नीति विधवा के समान है। बिना धर्म रूप पति के विधवा नीति पुत्रोत्पादन नही कर सकती अर्थात् उसमे फलोत्पादन की क्षमता नही रह जाती है। वैधव्य के रूप मे उसका केवल विलाप मात्र शेष रहता है। धर्म के बिना नीति हो सकती है कि बाह्य आडम्बरो की चकमक से आपका दिल लुभा ले किन्तु उसका अन्त गर्त मे जाकर ही होता है। स्वामी जी महाभारत मे युधिष्ठिर और दुर्योधन को धर्म और अधर्म के प्रतीक के रूप मे उदधृत करते हुए अपना मत प्रतिष्ठापित करते है आस्तिक और धार्मिक लोगो के लिए युधिष्ठिर की ही नीति अनुसरणीय होती

है। **'युधिष्ठिरादिविद् वर्तितव्य न दुर्योधनादिवत् है'।**[1] उनके अनुसार भगवान श्रीकृष्ण शब्दो का उदाहरण देते है कि 'युधिष्ठिर धर्ममय विशालवृक्ष हे अर्जुन उसके स्कन्ध भीमसेन शाखा ओर नकुल-सहदेव समृद्ध पुष्प-फल है। मे कृष्ण ब्रह्म (वेद) और ब्राह्मण उसके मूल हे तथा दुर्योधन क्रोधमय विशालवृक्ष है, कर्ण स्कन्ध शकुनि शाखा दु शासन समृद्ध पुष्प-फल ओर अमनीषी राजा धृतराष्ट्र उसके मूल है।[2] उनके कहने का तात्पर्य था धर्मविहीन नीति मे क्षणिक सफलता या आशिक सफलता का आभास हो सकता हे किन्तु अन्त मे उसकी पराजय होती हे दर्योधन की धर्मविरुद्ध कूटनीति चोदह वर्षो के विशाल साम्राज्य के शासन के उपरान्त उसे पतन के गर्त मे ले गयी। ठीक इसके विपरीत युधिष्ठिर जिन्होने धर्मनीति का अनुसरण किया तो अपार कष्टो को सहन करके भी विराट साम्राज्य के एकाधिकारी बने और उनकी धर्मानुकूल शासन-पद्धति के कारण उनका राज्य धर्मराज्य कहलाया। स्वामी जी धर्मराज्य को रामराज्य मे देखते है। रामराज्य की कल्पना सर्वप्रथम गोस्वामी तुलसीदास ने की। स्वामी जी का रामराज्य से तात्पर्य किसी विशेष राजा राम का राज्य अथवा अन्य किसी व्यक्ति से नही हे ओर न ही ये राम राजा दशरथ के पुत्र है। यहा पर सर्वोत्तम धर्मानुकूल आदर्श राज्य-व्यवस्था ही उनका रामराज्य हे।

गाधीजी राजनीति और धर्म मे विरोध नही मानते जबकि प्लेटो और अरस्तु के समय मे यह अलगाव पाया गया। कौटिल्य के पूर्व राजनीति और धर्म मे विरोध नही था किन्तु कौटिल्य ने राजनीति से धर्म को सर्वथा पृथक् करके अर्थशास्त्र के अतर्गत रखा। इस प्रकार स्वामी जी के मत गाधी जी के मत के सर्वथा अनुकूल है। स्वामी करपात्री जी धर्म और नीति का तादात्म्य सबध दर्शाते हुए कहते है **''व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, एव विश्व के धारण पोषण-वाले तथा सघटन, सामन्जस्य,**

---

1 वही पृष्ठ-26

2 (10) युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुम स्कन्धोर्जुनो भीमसेनोस्य शाखा।

मादी पुत्रे पुष्पफले समृद्धे मूल त्वह ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च।।

(महाभारत-आदिपर्व 1 100)

स्वामी करपात्री, विचार पीयूष अ० भा० रामराज्य परिषद वाराणसी, 1975, पृष्ठ 26

शान्ति, सुव्यवस्था की स्थापना मे अत्यन्त उपयोगी और परिणाम मे भी जो अहितकर न हो ऐसे नियमो को ही धर्म कहा जाता है।[1]

स्वामी करपात्री जी का मत था कि धर्म और राजनीति दोनो की प्राथमिकता मे धर्म पारलौकिकता प्रधान हे और नीति लोकिकता। दोनो के आधाराधेय सम्बन्ध मे ही पूर्णता बताते हुए व इस सम्बन्ध के विवेचन को एक चुनौती के रूप मे स्वीकार करके सिद्ध करते है कि **'यतोभ्युदय, नि श्रेयस सिद्धि स धर्म''** यह धर्म का तटस्थ लक्षण है अर्थात् जिससे अभ्युदय (ऐहलोकिक-पारलौकिक उन्नति) एव निश्रेयस (मोक्ष) की प्रप्ति हो वही धर्म है। परन्तु यहा प्रश्न यह उठता है कि किन साधनो से अभ्युदयादि की सिद्धि होती हे, अतएव कौन-कौन से कर्म-धर्म है इसका पूर्णरूप स ज्ञान अपौरूषेय वेद एव तन्मूलक शास्त्रो से ही हो सकता है। इसलिए राष्ट्र के धारण-पोषणानुकूल शास्त्र-सम्मत वेद, इन्द्रिय, बुद्धि अहकार की हलचले या व्यापार ही धर्म है। इसी मे यज्ञ, तप दानादि तथा सभी वर्णधर्म, आश्रमधर्म का अन्तर्भाव हो जाता है। 'नीति' शब्द का भी अर्थ प्राय वही होता है। अभ्युदय प्राप्ति जिससे हो, वही नीति हे। 'धृञ-धारणे' धातु से धर्म' और णीञ-प्रापणे' धातु से 'नीति' शब्द सिद्ध होता है।'ध्रियतेभ्युदयोनेनति धर्म', 'नीयते प्राप्यतेभ्युदयोनयेति नीति।' अर्थात अभ्युदय का धारण जिससे हो, वही 'धर्म' और अभ्युदय की प्राप्ति जिससे हो वही नीति हे। फलत दोनो का एक ही अर्थ होता है। इसलिए कुछ लोग तो नीति को ही धर्म कहते हे। पर कुछ लोग लौकिक अभ्युदय (उन्नति) के साधन को 'नीति' और पारलौकिक उन्नति के साधन को धर्म कहते है। यह विभाग भी प्रधानता और अप्रधानता की ही दृष्टि से है। धर्म से पारलौकिक उन्नति प्रधान रूप से और गौण रूप से लौकिक उन्नति भी होती है। इसी तरह नीति से लौकिक उन्नति प्रधान रूप से ओर अप्रधान रूप से पारलौकिक उन्नति भी होती है। नीति से ही शास्त्र और धर्म प्रतिष्ठित होते है। नीति के बिना शास्त्र और धर्म नष्ट हो जाते है-**'नश्येत्त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्'** अत धर्म और नीति का अनिवार्य सम्बन्ध मानने पर हमारा आगामी मार्ग अत्यन्त सुगम हो जायेगा।[2]

---

1 शर्मा कृष्ण प्रसाद" अभिनव शंकर करपात्री जी' धर्मसघ प्रकाशन-स्वामी पाडा मेरठ 1988 वही पृष्ठ 237

4 4 राष्ट्र और धर्मगत मूल्य

धर्म विषयक विवेचन के क्रम मे अद्वैत विद्वान करपात्री जी राष्ट्र को धर्म से अनुप्राणित करने के पक्षपाती है। उनके अनुसार बिना धार्मिक भावनाओ का प्रतिष्ठापन हुए सुखपूर्वक समाज राष्ट्र का सुसगठन हो ही नही सकता। अर्थात् धर्म ही राष्ट्र के सुसगठन का मूल है।

स्वामी जी राष्ट्र मे धर्म एव आस्तिकता को आवश्यक बताते है। राष्ट्र मे सुख-शान्ति के लिए आस्तिकता परमावश्यक है परन्तु वे कोई धर्म बलात् किसी पर थोपने के पक्षपाती नही हैं वरन् उनकी मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति वह चाहे किसी भी धर्म या मजहब का हो यदि वह उसी के अनुसार आचरण करे तो कोई भी राष्ट्र सतत् उन्नति कर सकता है। धर्म राष्ट्र मे अकुश का कार्य करता है। धर्म और राष्ट्र एक दूसरे के पूरक है। धर्म विहीन राष्ट्र अराजकता को प्राप्त होता है। इसलिए स्वामी जी राष्ट्र एव धर्म के परस्पर समन्वय पर जोर देते है किन्तु आवश्यकता धर्म को सच्चे अर्थो मे जानने व समझने की है।

4 5 भारतीय शासन विधान एव आदर्श शासक का स्वरूप

भारतीय राजनीति के विद्वान करपात्री जी भारतीय शासन-विधान को पूर्णत शास्त्रीय देखना चाहते थे। उन्होने राजधर्म, दण्डनीति, आदि के स्वरूप को शास्त्रीय स्वरूप मे ढालते हुए बताया कि भारतीय राजनीतिशास्त्रानुसारी शासक को उच्छृखल नही होना चाहिए।[1] बल्कि उस पर धर्म का अकुश आवश्यक था। कहते है, 'आज के लोकतत्र-शासन का आधार मुण्डगणना है। इसके अनुसार योग्य शासको का सग्रह कठिन ही नहीं अपितु असम्भव भी हो जाता है। बहुमत जिसे प्राप्त हो, उसी के हाथ मे शासन-सूत्र आ जाता है। पर स्थिति यह है कि भारत मे सैकडो नहीं हजारो विधानसभायी मेम्बर इस प्रकार के है जो कानून से सर्वथा अनभिज्ञ होते है। साधारण तौर पर भारतीय राजनीतिशास्त्र वेदो एव धर्म शास्त्रो को ही राष्ट्र का सविधान एव कानून मानते है। उनकी दृष्टि मे

1, स्वामी करपात्री जी मार्क्सवाद एव रामराज्य गीता प्रेस गोरखपुर, 1966, पृ० 834

शास्त्रज्ञो एव सदाचारी धर्मनिष्ठ विद्वानो की परिषद विधान निर्णेत्री है, विधान निर्मात्री नही।"[1] स्वामी जी आदर्श शासक के स्वरूप को निर्धारित करते हुए कहते है कि 'राजा को सौम्य उदार, विद्वान शुद्ध, रहस्यज्ञ, पूर्ण धर्म नियत्रित सदाचारी, जितेन्द्रिय लोभरहित, निर्व्यसनी होना चाहिए। शुक्रनीति का अनुसरण करते हुए स्वामी जी का मन्तव्य है कि जो राजा प्रकृति की बात नहीं सुनता वह अन्यायी है, जो प्रजा का रक्षक बनकर रक्षा नही करता उस राजा को पागल कुत्ते के समान मार देना चाहिए।

स्वामी जी ने राजा की तुलना आज के राष्ट्रपति, प्रधानमत्री से की है जो आज के शासक है। आज की भ्रष्ट राजनीति पर व्यग्य करते हुए उन्होने कहा कि इन उच्च पदो पर सद्गुणी प्रवृत्ति वाले सज्जन व्यक्ति ही आरुढ होने चाहिए तथा इसी प्रकृति के लोगो को ही जनता को भी चुनना चाहिए। ऐसी अनिवार्यता पर बल देकर स्वामी जी ने आज की राजनीतिक स्थिति को सुधारने का प्रयास किया।

स्वामी जी राजा अथवा शासक को भगवान का प्रतिरूप मानते है। इस कारण कुछ गुण तो राजा के ऐसे अवश्य होने चाहिए जो कि भगवान के समान है। जिस प्रकार ईश्वर सबसे ऊपर है यही स्थिति राजा की भी है। स्वामी जी ने राजा को कवि भी कह कर सुशोभित किया है। स्वामी करपात्री जी का राजा जो कि कवि है वह कविताये लिखने का कार्य नही करता है। वरन् यहॉ उनका तात्पर्य अतीत वर्तमान एव भविष्य द्रष्टा से है। अर्थात् उसको मनीषी होना चाहिए। इतिहास का अध्ययन करके अन्य राष्ट्रो तथा अपने राष्ट्र के अतीत का ज्ञान, चारो वेदो द्वारा वर्तमान तथा अनुमान के द्वारा भविष्य का ज्ञान प्राप्त करके नीति का निर्धारण करने के गुणो से युक्त राजा कवि कहलायेगा।

स्वामी करपात्री जी कहते है कि उपर्युक्त समस्त गुणो का समावेश कालिदास ने रघुवशी शासको मे किया है। महाकवि कालिदास कहते हैं कि मात्र रघुवंशी सम्राटो की कर्तव्यनिष्ठा जो कि

---

1. वही, पृष्ठ 834

शास्त्रीय विधान पर अवलम्बित होती थी, जिसमे अपराधियो को उनके अपराध के अनुसार दण्ड दिया जाता था। उस क्षेत्र से यदि उनके पुत्र, पत्नी भी गुजरते थे तो उपर्युक्त दण्ड के भागीदार होते थे।[1] रघुवशी सम्राटो मे विश्व कल्याण की भावना कूट-कूट कर भरी थी। उनमे शास्त्रीय आदान-प्रदान परम्परा का उन्नत विकास था कि वे इहलोक के वारी होकर देवपति इन्द्र के साथ सम्पदा-विनिमय किया करते थे। इनके शासन मे आदर्श अपनी चरम सीमा पर था। बाग बगीचो की ओर जाती हुई उन्मत्त वेश्याओ के वस्त्रो को वायु भी स्पर्श नही कर सकती थी तो फिर जन सामान्य की तो बात ही नही उठती।[2]

इसी प्रकार दुष्यन्त के शासन का उदाहरण दिया जाता है कि उनके शासन काल मे खजाने से लेकर कृषि पर्यन्त किसी पर भी पहरा नही था।[3] स्वामी जी के अनुसार आज के युग मे भी इसी प्रकार के शासन की आवश्यकता है। महाभारत मे व्यास जी का कथन है—**धर्म रति सेवमाना धर्मार्थावभिपेदिरे।**[4]

अर्थात् स्वधर्म पालन मे सहज रति होने से धर्म और अर्थ दोनो ही पुष्कल मात्रा मे स्वत प्राप्त थे, फलत परस्वापहरण आदि अनुचित कार्य मे प्रवृत्ति ही क्यो हो? क्या ऐसे महत्वमय धर्म को प्रमुखता प्रदान कर सुखी एव शान्त होना आज अभिप्रेत नहीं है? निष्कर्षत आदर्श शासक का स्वरूप पूर्ण धर्मनिष्ठा—जिसे दूसरे शब्दो मे सत्कर्तव्यनिष्ठा कह सकते हैं—मे ही निहित है।[5]

---

1 शर्मा कृष्ण प्रसाद अभिनव शकराचार्य करपात्री जी, धर्मसघ प्रकाशन-स्वामी पाडा मेरठ, 1988, पृष्ठ 252

2 तस्मिन मही शासति वाणिनोनाग् निद्रा विहारर्धपर्थगतानाम्।

वातो-अपिनास्त्रसयदशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्।

-वही पृष्ठ 253

3 वही पृ० 253

4 वही पृ० 253

5 वही पृ० 253

4 6 धर्मसापेक्ष पक्षपातविहीन राज्य

राष्ट्र और धर्म के परस्पर समन्वय का स्वामी जी ने विधिवत् वर्णन किया है वे धर्म निरपेक्ष सिद्धान्त के विरोधी थे। अपेक्षा शब्द आवश्यकता से अभिप्रेत है। अतएत वे निरपेक्ष को अपेक्षा का विरोधी मानते थे यथा यदि किसी व्यक्ति को पुत्र की अपेक्षा नही है तो वह पुत्र निरपेक्ष धन की अपेक्षा नही है। इसी प्रकार यदि धर्म की अपेक्षा नही है तो वह धर्म निरपेक्ष हुआ। धर्मनिरपेक्षता उन्हे कदापि स्वीकार नही था। वे शासन तत्र को धर्मयुत अथवा धर्मनियत्रित बनाना चाहते थे जिसके लिए उन्होने धर्मसापेक्ष शब्द प्रयुक्त किया। स्वामी जी का धर्म सापेक्ष का तात्पर्य यह है कि राजनीति अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, कला, इतिहास आदि का प्रयोग और व्याख्या धर्म के आधार पर की जाये और उसे जीवन्त व्यावहारिक रूप दिया जाये। राज्य इस व्यवस्था का कार्यान्वयन मात्र करे, न सशोधन, परिवर्तन या परिवर्द्धन। धर्मसापेक्ष राज्य का कथमपि ये तात्पर्य नही कि किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष का शासन हो और अन्य धर्म सम्प्रदाय शासन से दूर और उपेक्षित रहे।[1]

धर्म सापेक्ष शासन व्यवस्था मे स्वामी जी एक धर्म विभाग की स्थापना पर जोर देते है जिसमे सभी धर्मो के आचार्य प्रतिनिधि के रूप मे रहे। जिस धर्म की व्यवस्था का प्रश्न हो उस धर्म पर वे प्रतिनिधि अपना निर्णय दे। इस प्रकार शासन धर्मनियत्रित भी होगा और किसी के साथ पक्षपात भी नही हो सकेगा।

4.7 जनतांत्रिक-मूल्यों का निरुपण

स्वामी जी की आदर्श राजनीति व्यवस्था राजतत्र है। लेकिन उपलब्ध पद्धतियो मे वे जनतत्र को अच्छा मानते है। भारत मे उसके व्यवहार पर उन्हे आपत्ति है। उनका मानना है कि जनता सावधान एव सतर्क नहीं है। जनता निर्धन होने से साधनो का प्रयोग नही कर पाती, बल्कि समाज का न्यूनतम वर्ग जनतंत्र की उपलब्धियों का उपभोक्ता है। जनतत्र की प्रक्रिया मे गुटबदी एव परस्पर विद्वेष बढ़ा है। स्वतत्र जनमत का प्रयोग नहीं है। गुण्डे एव जाति बिरादरी की शक्तिया जबरदस्ती

मतदान केन्द्रो पर कब्जा करती है। जाली वोट डालना सामान्य बात है। राजनीतिक दल सैद्धान्तिक रूप मे जिस मान्यता का विरोध करते हे व्यवहार मे उन्ही का प्रयोग करते है। विदेशी पूजी का प्रयोग राजनीतिक दल राष्ट्रहित के विपरीत करते है। ऐसी स्थिति मे स्वामी जी का मत है कि सत्पुरूषो सन्तो को चाहिए कि वे पलायन के स्थान पर राजनीति मे आये ताकि राजनीति असामाजिक तत्वो के हाथ से सत्पुरूषो के हाथ मे आ सके।

इस प्रकार भारतीय जनतत्र मे स्वामी जी का दृष्टिकोण स्पष्ट है। वे ऐसे जनतत्र की कामना करते हे जहा एक व्यक्ति की आवाज विरोध की भी कीमत हो, जहा सम्राट इतना अधिक प्रजातात्रिक हो कि ऊँच, नीच, अमीर, गरीब का भेदभाव नही जहा चुनाव प्रक्रिया सरल एव सस्ती हो। तभी जनतत्र सफल हो सकता है।

4 7 (अ) आर्थिक मूल्यो का निरुपण

करपात्री जी ने आज के युग मे प्रचलित पूजीवाद, समाजवाद तथा लोकतात्रिक समाजवाद मे स्वीकृत असतुलनकारी अर्थव्यवस्था को मानवीय समस्याओ के समाधान मे असमर्थ पाकर एक ऐसी धर्मनियत्रित आर्थिक-व्यवस्था को अपनाने पर जोर दिया, है, जिसमें समष्टि, व्यष्टि दोनो का समन्वय करके सर्वत्र सुख धर्म शान्ति एव स्वतत्रता का साम्राज्य स्थापित हो सके। वे बेकारी एव शोषण फैलाने वाले महायत्रो का बहिष्कार कर सबको स्थायी रूप से योग्यता एव आवश्यकता के अनुसार काम, दाम एव विकास का अवसर प्रदान करने के पक्षपाती है। वस्तुत आधुनिक भारत मे जवाहरलाल नेहरू और स्वामी करपात्री जी ने पूजीवाद पर स्पष्ट आक्रमण किया किन्तु तरीको मे अन्तर है। गाधी जी और स्वामी जी धर्म और राजनीति का एकीकरण करते है। दोनो का आदर्श रामराज्य है लेकिन गाधी का रामराज्य नैतिक अराजकता के जाल मे फसकर हृदय-परिवर्तन, ट्रस्टीशिप नैतिक-व्यक्ति आदि की कल्पना मे पूजीवाद के साथ जुड जाता है।

स्वामी जी समाज मे धर्मनियंत्रित आर्थिक व्यवस्था के प्रचलन के पक्षपाती है। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धान्त के पूर्ण समर्थक है, पर यह सिद्धान्त आर्थिक विषमता का कारण बन जाये इसके

लिए वे उस पर धर्म तथा राज्य शक्ति के उचित प्रयोग को स्वीकार करते है। व्यावहारिक राजनेता होने के कारण वे प्राचीन भारतीय शास्त्रो का सदर्भ प्रस्तुत करते हुए भी आधुनिक समस्याओ का पूर्ण व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करते है। अत स्वामी जी का आर्थिक दर्शन कल्पनावादी न होकर यथार्थ के धरातल पर खडा है। आर्थिक विषमता के समापन का यह सबसे बडा साधन है।

4 8 स्वामी करपात्री जी और मार्क्स

भारतीय परम्परा मे आदि शकराचार्य के बाद स्वामी करपात्री जी ऐसे विचारक हुए जिन्होने भारतीय सोच को 20वी शताब्दी मे स्थापित करने मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मार्क्सवाद की प्रचण्ड आधी ने जब आधी दुनिया की चिन्तनधारा को झकझोर दिया, स्वामी जी 1982 तक भारतीय सोच को स्थापित करने का प्रयास करते रहे।

स्वामी करपात्री जी की सम्पूर्ण विचारधारा चिन्तन एव व्यावहारिकता का योगफल रही है। स्वामी जी पश्चिमी विचारधारा पर अपनी प्रतिक्रिया विश्व सदर्भ मे प्रस्तुत करते है। इसके दो रूप है, आन्तरिक एव वाह्य। भारतीय चिन्तन का अग बन जाने के कारण वाह्य और आन्तरिक रूपो मे कोई बहुत अधिक दूरी नहीं रह पाती। स्वामी जी भारतीय व्यवस्था के विश्लेषण मे मार्क्स, गाधी, नेहरू, जयप्रकाश और डागे के विचारो को भारतीय व्यक्तित्व के अनुकूल नहीं समझते। वे उनके सिद्धान्तो एव व्यवहारो को व्यापक सदर्भ मे अपेक्षाकृत सिकुडा हुआ मानते है। ब्रिटिश साम्राज्यवादी परिवेश मे दयानन्द, विवेकानन्द एव तिलक ने वैदिक मान्यताओ के आधार पर भारतीय राजनीति का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। स्वामी जी को उनके विचारधाराओ मे कुछ अधूरापन नजर आता है। वे उस कमी की जीवन–पर्यन्त पूर्ति मे लगे रहे। आधुनिक प्रमुख विचारधाराओ, पूजीवाद, समाजवाद एव मार्क्सवाद मे वे सबसे तीखा प्रहार मार्क्सवाद पर करते है। उनकी दृष्टि मे मार्क्सवाद भारतीय व्यक्तित्व और वैदिक व्यवस्था के अस्तित्व के लिए सबसे अधिक घातक है।

मार्क्स और स्वामी जी दोनो ने पूजीवाद को मानव जाति का घोर शत्रु बताया।[1] प० जवाहर लाल नेहरू और गाधी ने भी पूंजीवाद पर आक्रमण किया। लेकिन सभी विचारको के आक्रमण के

तरीको मे असमानता है। गाधी जी और स्वामी जी धर्म और राजनीति को एक करते हुए समान रूपेण अपना उद्देश्य रामराज्य मानते है। गाधी का रामराज्य नैतिक अराजकता के जाल मे फसकर ट्रस्टीशिप हृदय परिवर्तन नैतिक-व्यक्ति आदि के दिवास्वप्न मे खो जाता है और अन्तत पूजीवाद की ओर मुड जाता हे। स्वामी जी रामराज्य की व्याख्या वैदिक सहिताओ, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र मनुस्मृति, शुक्रनीति एव महाकाव्यो के आधार पर करते है।[1]

स्वामी जी का स्पष्ट मत रहा है कि भौतिक पूजीवादी प्रवृत्ति के कारण ही समाज अमीर और गरीब दो वर्गो मे पूर्णत विभक्त हो गया। पूजीवादी व्यवस्था से मशीनी सस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ और लाखो करोडो लोगो की रोजी-रोटी का साधन पूर्णतया छिन गया। यही पूजीवाद के विनाश की भी पृष्ठभूमि है।[2] पूजीवादी प्रवृत्ति बढने से राष्ट्रो की क्रय शक्ति क्षीण होती है। इसी मे उपनिवेशवाद का विकास होता है। क्योकि पूजीवादी राष्ट्र अपने मालो की खपत अपने उपनिवेशो मे करने लगता है लेकिन अन्तर्विरोधो के कारण भौतिक पूजीवाद के गर्भ से उसको नष्ट करने वाली ताकत उत्पन्न होती है और अन्तत भौतिक समाजवाद का जन्म होता है। पूजीवाद का खण्डन करते समय स्वामी जी इतने अधिक उग्र हो जाते है कि वे लोकतत्रात्मक सरकारो को पूजीवादी सरकार की सज्ञा दे डालते है।

स्वामी जी का मानना है कि रामराज्य मे वैयक्तिक सम्पत्ति तो मान्य है किन्तु उसका सतुलन किया जाता है[3]। पूजीवादी व्यवस्था मे ये बाते नही है। वहा सतुलन का प्रयास नहीं किया जाता। फलत उसकी सारी अच्छाइया बुराइयो मे परिणत हो जाती है, किन्तु रामराज्य मे आर्थिक सतुलन स्थापित करने के लिए धर्म तथा राजशक्ति द्वारा प्रयास किया जाता है जहा पर धर्म और राजशक्ति दोनो की अवेहलना होती है उसे 'अराजकत्व' कहा जाता है।

---

1 वही पृष्ठ 354-360

2 स्वामी करपात्री जी, पूजीवाद समाजवाद एव रामराज्य सन्मार्ग-वाराणसी पृष्ठ 19-23

मार्क्स और स्वामी जी दोनो ने ही पूजीवादी प्रवृत्ति को मानव प्रवृत्ति के लिए घातक बताया। लेकिन यहा मार्क्स ने पूजीवाद के विकल्प मे वैज्ञानिक समाजवाद का नारा दिया वही स्वामी जी समाजवाद और पूजीवाद दोनो ही को भारतीय धरातल के लिए अनुपयुक्त मानते है। इन दोनो के विकल्प मे वे रामराज्य को भारत के लिए अधिक उपयुक्त मानते है।

स्वामी जी ने मार्क्स के शोषक एव शोषित विहीन समाज की परिकल्पना को व्यवहार मे असभव माना। स्वामी जी का मत है कि प्राचीन भारतीय मार्क्स की कल्पना से कही अधिक उत्कृष्ट समाज पद्धति का निर्माण निरूपण तथा अनुभव कर चुके है। आत्मसयम, इन्द्रिय-निग्रह, त्याग, वैराग्य आत्मनिष्ठा की उत्कृष्ट भावना के बिना असमर्थता के ऊपर उठना असम्भव है। स्वामी जी के अनुसार मार्क्स इसकी कल्पना भी नही कर सका। कोई भी समाज जितना अधिक सयमी एव नियत्रित होगा उतना ही स्वतत्र होगा। कोई व्यक्ति समष्टिहित की उपेक्षा करके, समिष्टहित की हानि करके, समष्टि-नियत्रण को ठुकराकर व्यष्टि-हित का प्रयत्न करे, वह सफल नही हो सकता। राष्ट्र भी यदि विश्व की हानि करके मनमाने ढग से आत्मोन्नति चाहता है तो वह राष्ट्रवाद भी व्यक्तिवाद एव तथाकथित सम्प्रदायवाद से खतरनाक होता है। साम्राज्यवाद मे भी यही स्थिति है। आधुनिक मार्क्सवाद और साम्राज्यवाद मे विशेष अन्तर नहीं है।

स्वामी जी ने मार्क्स के विपरीत धर्मनियत्रित राजतत्रवाद को सम्यक् शासन पद्धति माना। इसी को वे रामराज्य के नाम से पुकारते है। रामराज्य मे लोकमत और समता दोनो है। स्वामी जी को आधुनिक समाजवादी व्यवस्था मे लोकमत और समता का अभाव झलकता है। रामराज्य ही भारतीय राजनीति का आदर्श है। भारत का राजनीतिक-दर्शन आदर्श रहा है कि यहा शासक राज्य सम्पत्ति से असम्पृक्त होकर जनकल्याण के लिए सग्रह करता है। जनकल्याण के विपरीत कर सग्रह की कल्पना रामराज्य मे नही की जा सकती। 'सुरक्षा नही, तो कर नही' का सिद्धान्त उस युग मे प्रचलित था। क्या आधुनिक समाजवादी राज्यो मे यह आदर्श खोजे मिलेगा ? मार्क्सवादी राज्यो मे शक्ति सम्पत्ति का उचित वितरण नही मिलता। रामराज्य मे व्यक्ति की पूर्णता, उसकी नैतिकता तथा धार्मिकता अनुशासन में है। ऐसा पूर्ण व्यक्ति ही सारी व्यवस्था का केन्द्र हो सकता है। रामराज्य मे

शिक्षा सम्पत्ति एव धर्म की स्वतत्रताए व्यवहारगत होती है। स्वामी जी साम्राज्यवाद साम्यवाद लोकतत्रवाद और अधिनायकवाद मे रामराज्य को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते है।

मार्क्स मानता है कि विश्व मे अब तक जितनी भी सामाजिक एव राजनीतिक क्रान्तिया हुई है उनका आधार आर्थिक रहा है। मार्क्स ने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि धर्म एव अर्थ मे किसी प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध नही हो सकता। स्वामी जी ने इतिहास का उदाहरण देकर सिद्ध किया कि विश्व इतिहास मे धर्म के मूल से जुडे त्यागी महात्माओ एव उनसे प्रभावित समाज ने राजनीतिक एव आर्थिक क्रान्ति मे सर्वाधिक बलिदान किया है। भारत सहित सभी पश्चिमी देशो मे आन्दोलनो का नेतृत्व, धार्मिक नेताओ, साधुओ एव सन्यासियो ने किया। आधुनिक भारत का पुनर्जागरण वेदान्त से आता है। विवेकानन्द, तिलक, अरविन्द की वेदान्त तथा गीता की दार्शनिकता ने आधुनिक भारत मे सैनिक राष्ट्रवाद एव उग्रवादी क्रान्ति को जन्म दिया। स्वामी जी स्वय पश्चिमीकरण बनाम भारतीय करण की लडाई लडते रहे। भारतीय स्वतत्रता आन्दोलन में यदि अध्यात्मवाद का समावेश न हुआ होता तो उसकी सफलता सदिग्ध थी। गाधी जी ने स्वय अध्यात्म की प्रेरणा से राष्ट्रीय आन्दोलनो का नेतृत्व किया। इतने व्यापक आध्यात्मिक, धार्मिक सदर्भ को मार्क्स नकारता है। बौद्ध जैन, शकराचार्य, ईसा मसीह, हजरत मोहम्मद की व्यापक क्रान्तियो को मात्र आर्थिक कसौटी पर कसने से उसकी व्यापकता सकीर्ण हो जाती है। **स्वामी जी भारतीय सदर्भ मे धर्म एव अर्थ मे मार्क्स के विपरीत तादात्म्य स्थापित करते है।**

स्वामी जी धर्म एव अर्थ के सदर्भ मे मार्क्स का प्रतिवाद प्रस्तुत करके भारतीय व्यवस्था की विशद व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उनका मत हैं कि धर्मनिरपेक्ष भौतिक पूजीवाद और भौतिक समाजवाद अपूर्ण और सदोष है। समाजवाद मे आध्यात्मिकता के लिए कोई स्थान नही है। उसमे धर्म, ईश्वर आत्मा नही है। दया दान आदि का कोई महत्व नही है। न व्यक्तिगत भूमि, न व्यक्तिगत सम्पत्ति, न व्यक्तिगत खेत, खलिहान, न व्यक्तिगत उद्योग धन्धे, न व्यक्तिगत औरत और बच्चे ही हो सकते है। स्वामी जी मार्क्सवादी राजनीतिक व्यवस्था का घोर विरोध करते हैं। स्वामी जी राष्ट्र एव व्यक्ति के उत्थान एवं समग्र विकास की दृष्टि से तीन मूल्य अपेक्षित मानते है **शिक्षा की स्वतंत्रता,**

धर्म की स्वतत्रता एव धन की स्वतत्रता। उनके अनुसार मार्क्सीय व्यवस्था मे स्वतत्रओं का कोई अस्तित्व नहीं है।[1]

स्वामी जी भारत के लिए न तो साम्यवादी व्यवस्था को उपयुक्त मानते है न ही जनतात्रिक व्यवस्था। वे उसके विकल्प मे धर्म सापेक्ष पक्षपात विहीन राज्य यानि रामराज्य की कल्पना करते है, वे वैदिक मान्यताओ के आधार पर धर्मनियत्रित राजनीति की बात करते है। उनका मत है कि अन्तिम व्यवस्था जो शोषणमुक्त नैतिक-मूल्यो के धरातल पर स्थिर सहज भ्रातृत्व के प्रतिपालन मे समर्थ होगी, वह रामराज्य है।

4 9 भक्ति

भक्ति शब्द की उत्पत्ति भज् धातु से की गयी है। अर्थात् भक्ति भावना आर्यो के दार्शनिक एव आध्यात्मिक विचारो के फलस्वरूप क्रमश श्रद्धा उपासना से विकसित होकर उपास्य भगवान के ऐश्वर्य मे भाग लेना जैसे व्यापक भाव मे परिणत हुई। दूसरे शब्दो मे भक्ति मानव मन मे निहित वह भाव है जिससे वह ईश्वर की सत्ता मे अनन्य आस्था रखते हुए सर्वस्व समर्पण कर भाव विभोर हो जाता है और यही आस्था भाव जब अपनी अतिम अवस्था को प्राप्त करता है तभी साधक ईश्वर भक्ति मे लीन हो जाता है। हमारा इतिहास इस बात का साक्षी है कि अत्यन्त प्राचीन काल से अनेक भक्तो ने ईश्वर के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया है और आज भी ऐसे उदाहरण अनुपलब्ध नही है। स्वामी करपात्री जी भक्ति मार्गी परम्परा के आभूषण है। सस्कृत महाग्रन्थ 'भक्तिरसार्णव' के अन्तर्गत स्वामी जी ने भक्तिरस के स्वरूप का शास्त्रीय पद्धति से विवेचन किया है।

स्वामी करपात्रीजी की भक्ति एव तद्विषयक विचार वेद एव उपनिषदो पर आधारित है। उन्हीं का स्पष्टीकरण, व्याख्या एव सम्यक् मूल्याकन के फलस्वरूप स्वामी जी अपने विचार रखते है। वे उसी को आधार मानते हुए कहते है कि वेदो में भाग अर्थ के अतिरिक्त श्रद्धा और अनुरागपूर्वक सेवा के अर्थ मे भी भक्ति शब्द आया है। वेदों मे सेवार्थक भज् धातु (भज् सेवायाम्) से निष्पन्न भक्ति,

---

1 त्रिपाठी डा० हरिहरनाथ, सन्मार्ग, 'करपात्र चिन्तन विशेषाक', पृष्ठ 16-25 34-35, 79-83, 93-97, 109-113 आदि,

धर्म की स्वतत्रता एव धन की स्वतत्रता। उनके अनुसार मार्क्सीय व्यवस्था मे स्वतत्रओ का कोई अस्तित्व नहीं है।[1]

स्वामी जी भारत के लिए न तो साम्यवादी व्यवस्था को उपयुक्त मानते है न ही जनतात्रिक व्यवस्था। वे उसके विकल्प मे धर्म सापेक्ष पक्षपात विहीन राज्य यानि रामराज्य की कल्पना करते है, वे वेदिक मान्यताओ के आधार पर धर्मनियत्रित राजनीति की बात करते है। उनका मत है कि अन्तिम व्यवस्था जो शोषणमुक्त नैतिक-मूल्यो के धरातल पर स्थिर सहज भ्रातृत्व के प्रतिपालन मे समर्थ होगी, वह रामराज्य है।

4 9 भक्ति

"भक्ति शब्द की उत्पत्ति भज् धातु से की गयी है। अर्थात् भक्ति भावना आर्यो के दार्शनिक एव आध्यात्मिक विचारो के फलस्वरूप क्रमश श्रद्धा उपासना से विकसित होकर उपास्य भगवान के ऐश्वर्य मे भाग लेना जैसे व्यापक भाव मे परिणत हुई। दूसरे शब्दो मे भक्ति मानव मन मे निहित वह भाव है जिससे वह ईश्वर की सत्ता मे अनन्य आस्था रखते हुए सर्वस्व समर्पण कर भाव विभोर हो जाता है और यही आस्था भाव जब अपनी अतिम अवस्था को प्राप्त करता है तभी साधक ईश्वर भक्ति मे लीन हो जाता है। हमारा इतिहास इस बात का साक्षी है कि अत्यन्त प्राचीन काल से अनेक भक्तो ने ईश्वर के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया है और आज भी ऐसे उदाहरण अनुपलब्ध नही है। स्वामी करपात्री जी भक्ति मार्गी परम्परा के आभूषण है। सस्कृत महाग्रन्थ 'भक्तिरसार्णव' के अन्तर्गत स्वामी जी ने भक्तिरस के स्वरूप का शास्त्रीय पद्धति से विवेचन किया है।

स्वामी करपात्रीजी की भक्ति एव तद्विषयक विचार वेद एव उपनिषदो पर आधारित है। उन्हीं का स्पष्टीकरण, व्याख्या एव सम्यक् मूल्याकन के फलस्वरूप स्वामी जी अपने विचार रखते है। वे उसी को आधार मानते हुए कहते हैं कि वेदो मे भाग अर्थ के अतिरिक्त श्रद्धा और अनुरागपूर्वक सेवा के अर्थ मे भी भक्ति शब्द आया है। वेदों मे सेवार्थक भज् धातु (भज् सेवायाम्) से निष्पन्न भक्ति,

भक्त भजु भजते, भजन्ते और भजामहे आदि शब्दो का प्रयोग मिलता है। वैदिक ऋषियो ने प्रकृति की उपासना की तथा उसमे दैवीय शक्ति के दर्शन तक किये।

स्वामी करपात्री जी ने नवधा-भक्ति के नौ अगो का अद्भुत विवरण दिया है यद्यपि एकत्रित रूप मे उनके किसी ग्रन्थ मे नवधा भक्ति का वर्णन नही मिलता है किन्तु उनके भक्ति सम्बन्धित ग्रन्थो के अध्ययन से हम कह सकते है कि नवधा भक्ति को उन्होने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। वे कहते है कि वैदिक साहित्य मे ऋषियो की भक्ति भावना के दर्शन होते है।

वैदिक मत्रो मे नवधा भक्ति सूत्र रूप मे मिलती है जिसका परवर्ती काल मे विकास किया गया है प्रसगत शास्त्रो मे उपलब्ध नवधा भक्ति के स्थलो का वर्णन करना अनुचित न होगा। इसके साथ ही नवधा भक्ति मे करपात्री जी के साम्यभाव भी हम देखते है--

4 2(क) श्रवण

श्रवण का अभिप्राय भगवान की कीर्ति अथवा भगवत्चरित्रो को पुन-पुन सुनने से है। श्रवण की महिमा के सदर्भ मे स्वामी करपात्री जी कहते है कि "भगवद् गुणगणालडकृत ग्रन्थो के श्रवण से ज्ञान होता है। भक्ति मे प्राणि मात्र का अधिकार है।[1]

श्रवण की महिमा का उल्लेख पुराणो मे मिलता है-

ससारसर्प सदष्ट नष्ट चैष्टैकभेषजम्।

कृष्णेति वैष्णव मन्त्र श्रुत्वा मुक्तो भवेन्नर ।

स्वामी जी का विचार है-"कर्म, भक्ति, ज्ञान तीनो का मुख्य साधन श्रवण ही बतलाया गया है। सभी कर्मकाण्ड का उपदेश वेद मे है और वह वेद गुरूमुख से अधिकारानुसार यथाविधि श्रवण से ही प्राप्त किया जाना चाहिए। गुरूमुख द्वारा उच्चारित होने पर श्रवण किये जाने के कारण ही वेद के अनुश्रवण श्रुति आदि नाम है। नवधा भक्ति साधनो मे सर्वप्रथम श्रवण ही बतलाया गया है।

4 9(ख) कीर्तन

कीर्तन का अभिप्राय ईश्वर के गुणगान से है। करपात्री जी का मन्तव्य है कि "**पुरुषो का भगवन्नामादि सकीर्तनादि लक्षण भक्ति ही परमोत्कृष्ट धर्म है, जिससे अधोक्षज भगवान् मे अहैतुकी अप्रतिहता भक्ति होती है जिससे कि अन्तरात्मा का सप्रसाद होता है।**"[1]

4 2(ग) स्मरण

स्मरण शब्द का अभिप्राय ईश्वर के स्मरण करने से है। स्मरण का सकेत भी उपलब्ध होता है।

"**प्रविष्णवे शूषमेतुमन्म**" अर्थात् विष्णु भगवान के लिए मेरा मनन—स्मरण बल प्राप्त हो[2] स्वामी जी स्मरण को उपासना या भक्ति का साधन मानते है। उनका मत है कि नाम रूप, लीलाधामकामीतात्पर्येणस्फुरण, श्रवण, स्मरण, कीर्तनादि भी भजन है[3] वे कहते है "जीवन का उद्गम स्थान समष्टि चेतन आत्मा या परमेश्वर है। उसी के स्वरूप चिन्तन करने मे ही जीवन की सार्थकता है। मगलमय भगवान् स्वरूप का प्रबोध एव भगवत्प्राप्ति ही इस अशान्त भौतिक वातावरण मे शान्ति का एकमात्र मूलमत्र है। उसका विस्मरण होने से फिर अपार ससार सागर का पार-अपार कुछ भी नही विदित नहीं होता। सासारिक अभ्युदय एव सुख शान्ति भी उसी से मिलती है। अधिक क्या परम नि श्रेयस अपवर्ग भी तदाश्रित ही है।[4]

4 9(घ) पादसेवन

पादसेवन का तात्पर्य चरणवन्दना से है। कहा गया है—"**यस्य श्री पूर्णा मधुना पदन्यक्षीयमाणस्वधया मदन्ति**"[5] अर्थात् जिन भगवान की माधुरी से ओतप्रोत स्वय अपनी दिव्य शक्ति

---

1 वही, पृष्ठ 241

2 ऋग्वेद-1/154/3

3 शर्मा कृष्ण प्रसाद, अगिनव शकर स्वामी करपात्री जी धर्मसघ मेरठ 1988 पृष्ठ-228

से अक्षय तीन चरण-चरणो के तीन विन्यास—भक्त, आश्रित एव सेवको को आनन्दित करते है, स्वामी करपात्री इसका समर्थन करते है। उनका मत है भजन भक्ति'' इस व्युत्पति के अनुसार भजन या सेवन को ही भक्ति कहा जाता है। उस सेवन का अर्थ स्वामी जी केवल कायिक नही मानते है। वे इसका अर्थ करते हुए कहते है कि शरीर, इन्द्रिय, मन तीनो से ही सेव्य की सेवा की जाती है, इतना ही नही महानुभावो ने मानसी सेवा को ही परा या मुख्य सेवा माना है।[1]

4 9(च) अर्चन

अर्चन का अभिप्राय ईश्वर की पूजा अर्चना से है। वेदो मे विष्णु भगवान की अर्चना को दर्शाया गया है। 'आप सब लोग महान एव शूरवीर भगवान विष्णु का अर्चन कीजिए।[2] अर्चन की महत्ता को प्रतिष्ठापित करते हुए पुराणो का उदाहरण देते हुए स्वामी जी कहते है—

विष्णो सम्पूजना नित्य सर्व पाप प्रणश्यति।

4 9(छ) वन्दन

वन्दन शब्द का तात्पर्य यहा अपने आराध्य की वन्दना से है। वेदो मे कहा गया है कि परब्रह्म परमात्मा के रोचक विग्रह को मै प्रणाम करता हूँ।[3] स्वामी करपात्री जी ने वन्दन प्रक्रिया को सदैव उच्च्य स्थान दिया। कोई राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि विविध सभाओ व गोष्ठियो मे वे निम्न श्रीमद्बाल्मीकिरामायण के श्लोक से ही मगलाचरण करते थे उसके पश्चात् ही सभा का शुभारम्भ करते थे—

नमोस्तु रामाय सलक्ष्मणाय, देव्यै च तस्यैजनकात्मजायै।
नमोस्तु रूद्रेन्द्र यमानिलेभ्यो, नमोस्तु चन्द्रार्क मरूद्गणेभ्यः।[4]

---

1 स्वामी करपात्रि जी, भक्ति सुधा' श्री राधा कृष्ण धानुका प्रकाशन सस्थान कलकत्ता 1980, पृष्ठ 238-239

2 महेशूराय विष्णवे चार्चत्-ऋग्वेद 1/155/1

3 'नमो रूचाय ब्राम्हये-यजुर्वेद-31/20

4 9(ज) दास्य

दास शब्द का अभिप्राय उस भावना से है जिससे भक्त स्वय को ईश्वर का दास मानता हुआ उसकी सेवा मे तत्पर हो जाता है। जो सेवा करता है वही सेवक है। अतएव भक्ति मे दास्य भाव प्रधान है। अन्य सभी भावो मे किसी न किसी अश मे सेवा का भाव अवश्य विद्यमान रहता है और फिर दास्य भाव तो सेवा ही सेवा है। करपात्री जी भक्ति के इस अग मे आञ्जनेय। हनुमान जी को आदर्श मानते है।

4 9(झ) सख्य

सख्य का अभिप्राय सखा भाव है। एक स्थान पर भगवान विष्णु को बन्धु कहा गया है।[1] इसके अतिरिक्त विष्णु भगवान से प्रार्थना की गई है कि आप मित्र के समान हमारे हितकारक होइये।[2] स्वामी जी ने भक्ति के इस अग मे अर्जुन और कृष्ण का सखा भाव आदर्श माना है।

4 9(ट) आत्म निवेदन

आत्म निवेदन का अभिप्राय भक्ति के उस अग से है जिसमे भक्त ईश्वर के चरणो मे अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है। यहा पर पत्र, पुष्प, धनजन के साथ-साथ आत्मा का भी निवेदन अभीष्ट है। स्वामी करपात्री जी महाराज ने भक्ति के इस अग मे राजा बलि को आदर्श माना है जो भगवान त्रिविक्रम के चरणो मे अपना सर्वस्व सहर्ष समर्पित कर देते है। भक्ति के इस अंग को शरणागत भी कहा जा सकता है।

रामायण, महाभारत ग्रन्थो मे रामकृष्ण विषयक भक्ति के दर्शन होते है। महर्षि बाल्मीकि ने रामायण मे आराध्य राम के जिस स्वरूप की विवेचना की है। वह आज भी सहृदय भक्तो के लिए

---

1 भवमित्रे ने शेव्य' ऋग्वेद-1/154/5

आदर्शभूत है जिसके अध्ययन मात्र से ही वे भाव विभोर हो जाते है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के प्रति जो भक्ति उनकी लेखनी से उद्भूत हुई है वह तत्कालीन भक्तिभावना का परिचायक है,।

भक्ति भावना की दृष्टि से जब हम महाभारत का अवलोकन करते है तो कृष्ण का विराट रूप हमारे नेत्रो के समक्ष चित्रित हो जाता है। महाभारत मे देवकीपुत्र कृष्ण को योद्धा, योगी तथा परमज्ञानी के रूप मे चित्रित किया गया है। गीता मे भी कृष्ण विषयक भक्ति के दर्शन होते है। भक्ति के सम्बन्ध मे गीता मे उल्लेख मिलता है कि भक्त भक्ति के माध्यम से सुगमतापूर्वक आराध्य भगवान को प्राप्त कर लेता है। **भगवान कृष्ण ने गीता मे स्वय कहा है—**

भक्त्या मामभि जानाति यावान्यश्चास्मि तत्वत ।

ततो मा तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम।।[1]

अर्थात् जो भक्त-भक्ति के द्वारा हमे जाने तथा जिस प्रभाव से युक्त हूँ उसे भलीभाति जान जाता है वह तत्व से जानकर तत्काल ही मुझमे प्रवेश पा जाता है। अर्थात् अनन्त भाव से मेरे को प्राप्त हो जाता है।

आज्ञा प्राप्त होने पर तत्परता के साथ सुचारू रूप से उसका सम्पादन करना तथा आज्ञा कठोर है या सुगम इस पर ध्यान नहीं देना चाहिए। भक्त को अपने स्वामी के प्रभाव पर दृढ विश्वास रखना चाहिए और समझना चाहिए कि मै तो निमित्तमात्र हूँ,। स्वामी के प्रभाव से ही कार्य मे सफलता मिलेगी।

देवर्षि नारद जी ने बताया है-तदर्पिता खिलाचारित्ता तदविस्मरणे परमव्याकुलतेति।[2]

अर्थात् भक्त अपने सभी आचरणो को अपने इष्ट देव को समर्पित कर देता है, यदि प्रमादवश स्वामी और स्वामी के कार्य की विस्मृति हो जाय तो स्मरण होने पर अत्यन्त व्याकुलता का अनुभव करता है। वस्तुत सेवक की कोई अपनी पृथक् इच्छा ही नहीं रहती। स्वामी की इच्छा ही उसकी इच्छा हो जाती है। इसके पश्चात् अन्य ग्रन्थो मे भी भक्ति भावना परिलक्षित होती है।

अध्याय 5

आचार्य श्री रजनीश

(11 दिसम्बर 1931—19 जनवरी 1990)

5 1 धर्म

रजनीश जी कहते है कि 'जब भी मै धर्म की बात करता हूँ तो मै अनिवार्य रूप से यह कह रहा हूँ कि कौन-सा धर्म,। धर्म तो होता ही नही। धार्मिकता मेरे लिए एक भीतरी गुण है। मै जब धर्म की बात करता हूँ तो मेरा मतलब हमेशा **'रिलिजियस क्वालिटी'** से है। धर्म से मेरा मतलब प्रचलित धर्मो से नहीं है।'[1]

धर्म ज्ञान है और अहकारशून्यता ज्ञान की कुजी है। ज्ञान की उपलब्धि के लिए विनम्र और मुक्तमस्तिक की अपेक्षा होती है। किन्तु सामान्यता मस्तिष्क अहकारग्रस्त और पूर्वाग्रहो से आबद्ध होता है। अहकार भीतर से बॉधे रहता है और पक्षपात और पूर्वाग्रह बाहर से। आइन्स्टाइन ने अहकारशून्यता को ही वैज्ञानिक शोधो के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व कहा था।

अहकारयुक्त ''मै'' से भरे हुए मन मे सत्य का अतिथि प्रवेश नही कर पाता। अहकार के कारण ही हमारा अज्ञान, ज्ञान दिखने लगता है और इसी की सुरक्षा के उपाय होने लगते है। फिर सत्य नही मेरे सत्य के केन्द्र पर सारी शक्ति लग जाती है। मेरा सत्य, मेरा धर्म, मेरा शास्त्र, मेरा भगवान क्या इन सब मे, सबके केन्द्र मे—''मै'' ही नहीं है ? और जहा ''मै'' है, वहा सत्य कहा है ? धर्म कहा है ? ज्ञान कहा है।''[2] ''मै'' जितना आक्रामक होता है सत्य उतना ही दूर हट जाता है।

इस स्थिति मे हम शब्दो और शास्त्रो को ही सत्य मानकर तृप्त हो लेते है। हमारा अहकार माने हुए सत्य की जोर—जोर से दुहाई देने लगता है और हम उसके लिए मरने को भी कटिबद्ध हो

---

1 देख कबीरा रोया, पृ० 391

2 भगवान श्री रजनीश नये सकेत, पृ० 15

जाते हे। माने हुए सत्य के विषय मे हम कुछ भी सुनने को तैयार नहीं होते क्योकि ऐसे तथ्यो के प्रकट होने की सम्भावनाए बनी रहती है जो हमारे सत्य को असत्य सिद्ध कर सकते है। इसलिए हम न तो सुनना चाहते हे और नही सोचना चाहते है। ऐसी वृत्ति सत्य की खोज मे अत्यन्त घातक है।

रजनीश जी ने आनन्द की निसर्गजात प्यास को "**धर्म की जन्मदात्री**" कहा है। धर्म का जन्म सोच–विचार से नही होता–उसकी स्फुरणा अनन्त प्यास से होती है। जब तक हम आनन्द के लिए प्यासे होते रहेगे तक तक धर्म मिट–मिट कर भी पुनरूज्जीवित होता रहेगा। इस अर्थ मे वह शाश्वत है क्योकि आनन्द की अभिप्सा शाश्वत है। दुख शाश्वत नही है क्योकि हम दुख नही चाहते। **दुख जीवन की सार्थकता नहीं हो सकता और न वह जीवन का मूल्य हो सकता है।** उसके अतिक्रमण की आकाक्षा ही इस बात का प्रमाण है कि वह हमरे स्वरूप का अग नहीं हे। "क्या दुख का अस्वीकार यह नही कहता है कि जो हमारे भीतर है, वह दुख नही, दुख–निरोध की प्यास है ?"[1] आनन्द की प्राप्ति ही इसकी सम्भावना और सिद्धि का घोतक है।

धर्म की जड मानवात्मा मे होती है, इस कारण धर्म कुछ काल के लिए आवृत हो सकता है परन्तु नष्ट नही हो सकता। हम उसके प्रति उदासीन हो सकते हे, पर उसे सदा के लिए खो नहीं सकते। चूँकि वह सत्य है, उसमे सातत्य होता है और जो शाश्वत है उसमे सत्य होता है। धर्म सत्य है इसलिए शाश्वत है, धर्म शाश्वत है, इसलिए सत्य है।[2]

जीवन मे धर्म की प्रतिष्ठा करनी हो तो स्वसत्ता की ओर लौटना होगा। धर्म ही गन्तव्य है और इससे ही गीत सार्थक होती है और सगीत बन जाती है। जब तक हम अपने जीवन को आमूल-बदल न दे, तब तक वह अर्थशून्य और उद्देश्यविहीन ही रहेगा। इसका कारण यह है कि हमारा दुख किसी बाह्य अभाव के कारण नही है। अभावो के कारण कुछ कष्ट हो सकते है, पर कष्ट और दुख के तत्व भिन्न–भिन्न है। जहा **'परिधिगत असुविधाएं'** **'कष्ट'** होती है, वहा **"केन्द्रगत सताप"** **'दुख'** बनता है। कष्ट अपरिमित है पर दुख एक ही है। **इस दुख के (Disvalue) निवारण का एकमात्र उपाय धर्म**

---

1 सिहनाद पृ०-

2 उपरिवत पृ०-

है। दुख अज्ञान है और धर्म ज्ञान। दुख है स्वय को खोना और धर्म है स्वय को पाना। वस्तुत 'स्व" से बडी कोई सम्पदा नही है। रजनीश जी कहते है, **"जिसने स्वय को नहीं पाया है, वह केवल कुछ पाने के स्वप्न ही देख रहा है।** वास्तविक सम्पदा की उपलब्धि स्वय को पाने से प्रारम्भ होती है। वह जागरण का प्रारम्भ है। स्वय को पाकर ही कोई उस दुख–निद्रा से–उस दुख स्पप्न से–जागता है जिसे हम जीवन समझ रहे है।"[1] वास्तविक जीवन मे क्रोध उठते ही हम उग्र हो जाते है काम की ज्वाला धधकते ही जल उठते है और अहकार की लपटे हमारे विवेक को भस्म कर डालती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह जैसे अपमूल्य–कुछ भी हो, सभी हमारे स्वामी ही है। वे जैसा चाहते है वैसा ही हम करते है। उनके वेगो मे हम यत्र–तुल्य हो जाते है। ये अपमूल्य हमे 'स्व' की उपलब्धि से वचित कर देते है। इसलिए भीतर के 'अधे–वेग' और वृत्तियो (वासनाओ) पर सयम जरूरी है। इसके अभाव मे स्व–सत्ता की उपलब्धि सभव नही है।

आज विश्व मे धर्म का अभाव दिखायी पड रहा है। रजनीश जी के अनुसार **"धर्म तो बहुत है लेकिन धार्मिकता नहीं है।** आज जो सम्प्रदाय धर्म के नाम पर चलते दीख रहे है, वे धर्म नही है। धर्म तो एक ही हो सकता है। उसमे विशेषण नही लग सकता। धर्म **'यह'** (This) और **'वह'** (That) नही हो सकता। सत्य के सम्बन्ध मे सिद्धान्तो के कारण विविध सम्प्रदायो का जन्म हुआ है। सिद्धान्तो पर जब तक जोर और आग्रह होगा, तब तक सम्प्रदाय भी बने ही रहेगे। जो मनुष्य को मनुष्य से तोडता है, वह न तो उसे स्वय से और न ही सत्य से जोड सकता है। धर्म का सिद्धान्तो मे यह विघटन सिद्धान्तो के कारण हुआ है, शब्दो के कारण हुआ है, विश्वासो और मान्यताओ के कारण हुआ है। यह विघटन ज्ञान पर नही अज्ञान पर आधारित है। **"सत्य का कोई सम्प्रदाय नहीं है।** सब सम्प्रदाय सिद्धान्तो के है।

5 2 धर्म और धार्मिकता

रजनीश जी धार्मिकता को आतरिक गुण मानते हैं। उसका किसी सगठन, सस्था या सम्प्रदाय से सम्बन्ध नहीं है। "धार्मिक आदमी मुसलमान या हिन्दू नहीं हो सकता। असल मे धार्मिक

होने की वजह से हिन्दू या मुसलमान मनुष्यता को तुडवाते है[1] "मै धर्म की जगह धार्मिकता की बात करता हूँ क्योकि धर्म से अर्थ होता है–बधी–बधायी धारणाए। धर्म से अर्थ होता है, मान्यताए, विश्वास और धार्मिकता से अर्थ होता है, चैतन्य की उज्जवल स्थिति। भीतर का ज्योतिर्मय हो जाना, आलोकित हो जाना। भीतर अधेरा है अभी, यह अधर्म है या ज्यादा ठीक होगा अधार्मिकता कहना। भीतर चेतना का प्रकाश फैल जाय, ध्यान जगे, ध्यान की लपटे उठे तो वह धार्मिकता है।"[2]

रजनीश जी कहते है कि "मै धर्म को सिद्धान्त की बात नही मानता। सिद्धान्त तो बदल जाते है। नये तथ्य निकल जाते है तो सिद्धान्तो मे रूपान्तरण करना होता है। विज्ञान सिद्धान्तो की बात है। इसलिए विज्ञान मे रोज सिद्धान्त बदलते है। न्यूटन के समय मे एक सिद्धान्त था, एडीसन के समय मे दूसरा हुआ आइन्स्टीन के समय मे तीसरा हुआ अब इससे भी आगे बात जा रही है। नये तथ्य प्रगट हो रहे है। चूँकि धर्म को सिद्धान्त समझा गया है इसलिए इसाई पैदा हो गये हिन्दू पैदा हो गये जैन पैदा हो गये। अगर धर्म की जगह धार्मिकता की बात फैले तो फिर ये भेद अपने आप गिर जाएगे। धार्मिकता न हिन्दू होती है न मुसलमान होती है न इसाई होती है। धार्मिकता तो बस धार्मिकता होती है।"[3]

रजनीश जी धार्मिकता और भगवत्ता को एक तरह का मानते है। वे कहते है कि 'भगवत्ता और धार्मिकता एक ही सिक्के दो पहलू है। अगर भगवान को मानोगे तो धर्म को मानोगे। भगवान आये तो सिद्धान्त आए शास्त्र आए। भगवत्ता आयी तो सिद्धान्त गये शास्त्र गये धार्मिकता आयी।'

५ ३ धर्म और विज्ञान

धर्म और विज्ञान के मौलिक पार्थक्य को स्वीकार करते हुए रजनीश जी कहते है कि विज्ञान पदार्थ मे अन्तर्निहित शक्ति का आविष्कार करता है और धर्म चैतन्य मे छिपी शक्ति का शोध करता

1 देख कबीरा रोया पृ० ३०।

2 न्यूज लेटर 16 मार्च 1981 पृ० 2

3 न्यूज लेटर 16 मार्च 1981 पृ० 3

है। इसप्रकार विज्ञान और धर्म का कार्यक्षेत्र भिन्न ठहरते है, किन्तु रजनीश जी के मतानुसार, **''धर्म भी विज्ञान है। दोनो शोध करते है, परन्तु उनकी शोध-पद्धति पृथक-पृथक है।** जहा विज्ञान विश्लपण द्वारा पदार्थ जगत् के रहस्यो का शोध करता हे वहा धर्म एकात्मीकरण द्वारा स्व-सत्ता के रहस्यो मे प्रवेश करता है। गानव शरीर के विश्लेषण से आत्मा–सम्बन्धी कोई सूचना प्राप्त नही हाती। वस्तुत विज्ञान दृश्य का ही विश्लेषण कर सकता है अदृश्य का का नही। धर्म अदृश्य की खोज करता है स्व-सत्ता मे प्रतिष्ठित द्रष्टा का पता लगाता है। विज्ञान उसमे प्रविष्ट होता हे जो दिखायी दे रहा हे और धर्म उसमे जो अदृष्ट है, पर देख रहा है।''[1] इसमे सन्देह नही कि जिसको पदार्थ का बोध होता है वह अपनी आत्यन्तिक सत्ता मे जड नही हो सकता। पदार्थ का बोध जडता की सामर्थ्य के बाहर है। इसी बोध को चैतन्य कहते है और **''इस चैतन्य की जो इकाई है उसे आत्मा कहा जाता है।''**[2]

पदार्थ-जगत् की शक्तियो के अन्वेषण मे सलग्न विज्ञान चाहता है कि मनुष्य सुखी हो। इस सुख क लिए वह तरह-तरह के मोहक साधनो का आविष्कार करता है, किन्तु ये साधन शरीर के बल पर ही उपयोगी होते हे। विज्ञान की सुविधाये दुख के क्षणिक विस्मरण के लिए ही उपादेय सिद्ध होती हे—''**सुविधाओ मे दुख मिटता नहीं, बस केवल छिपता है।** ''इसलिए सुविधाओ की मॉग से एक ऐसी दौड पैदा होती है जिसका कोई भी अन्त नहीं है और यह दौड ही एक तनाव और अशक्ति और दुख (अपमूल्य) बन जाती है। यह अन्तहीन दौड ही विक्षिप्तता बन जाती है।''[3] लोगो की यह धारणा सर्वथा भ्रान्त है कि बाह्य समृद्धि से आन्तरिक सुख और शक्ति की उपलब्धि हो सकती है। आग भीतर है इसलिए बुझाने की कोशिश भीतर होनी चाहिए, अहकार भीतर है इसलिए बाहर का कोई भी सूर्य उसे नष्ट नही कर सकता। विज्ञान एक यात्रा भर है। वह साधन मात्र है। साध्य वह नही है—वह चलता है लेकिन कही पहुचता नहीं है।''[4]

---

1 ज्योति–शिखा दिसम्बर 1966 पृ० 64।

2 उपरिवत

3 ज्योति–शिखा जून 1967 पृ० 61

4, ज्योतिशिखा, पृ० 9

विज्ञान ने उच्चाकाक्षी मनुष्य को असीम शक्ति प्रदान की है। अब धर्म का कर्तव्य है कि वह मनुष्य के चित्त रो उच्चाकाक्षाए छीनकर उसे विनाश से बचाए। हीनता के भाव से ही इन उच्चाकाक्षाओ की उत्पत्ति होती है। अपनी रिक्ता से पलायन के लिए ही मनुष्य अपनी आकाक्षाओ के ऊँचे–ऊँचे लक्ष्य निर्मित करता है। मूलत वह किसी लक्ष्य की ओर नही भागता, वरन् किसी स्थान से भागता है। इसलिए एक आकाक्षा व्यर्थ सिद्ध होती है तो वह दूसरी निर्मित कर लेता है। जब ससार की आकाक्षाए व्यर्थ होती है तब वह मोक्ष (सर्वोच्च मूल्य) को ब्रह्म को पाने की उच्चाकाक्षाए बना लेता है। स्वय की आन्तरिक रिक्तता से भागना ही ससार है और स्वय की आन्तरिक रिक्तता और शून्य मे जागना धर्म। भागना ससार है और जागना धर्म।"[1]

5.4 जीवन का चरम मूल्य-आत्मोपलब्धि

सभी धर्मो मे तीन मूल तत्वो की अभिधारणा मिलती है—ससार, आत्मा और ईश्वर, किन्तु एक मात्र सत्य ही इन तीनो रूपो मे प्रकट होता है। जब तक हमारा अहम् कायम रहता है तब तक हम तीनो को तीन मान लेते है। सम्यक् ज्ञान के आविर्भाव के पश्चात् जब अहम् का विलोप हो गया रहता है तब द्वैत भी मिट जाता है। "वस्तुत वह अवस्था ही परमसुख की अवस्था है जिसमे आत्मज्ञान होता है और दृष्टिकोण की वस्तुनिष्ठता ऐक्य अनैक्य या द्वैत की भावना तिरोहित हो जाती है।" "अद्वैत की भावना आत्मानुसन्धान की ओर प्रवृत्त करती है और पूछती है—**यदि सत्ता एक हे, अद्वैत है तो फिर मै कौन हूँ ?** यदि मै कहूँ कि **"मै आत्मा हूँ, "मै पुरुष हूँ" तो इससे समता और तुलना का बोध होगा।** किन्तु दो तो है नही—यदि है तो केवल आत्मा। और यदि दो नहीं है तो प्रश्नकर्ता भी नही है, और चूँकि प्रश्न पूछने वाला ही नही है तो फिर प्रश्न पूछे कौन ? पूर्ण चेतन्य मे केवल आत्मा है। वही—उसे "स" कहे या "तत्"—एक मात्र सत्ता है। बुद्धि और विचार से उस सत्ता का ज्ञान नही हो सकता। जो तर्कशक्ति और विचारणा को महत्व देते है, वे आध्यात्मिक ज्ञान वे वचित रह जाते हैं। उन्हे स्मरण रखना होगा कि मन को उन्ही तथ्यो की जानकारी हो सकती है जो उसमे वर्तमान है और जिन्हें वह जानता है।" स्पष्ट है कि विवेक को उत्तर नहीं

मिलता। बुद्धि सत्य को प्रकट करने मे केवल असमर्थ ही नही, मनुष्य के आध्यात्मिक विकास मे बाधक भी होती है।

सभी धर्मो मे किसी न किसी रूप मे एक बात दिखायी पडती है कि यह जीवन ही अन्तिम नही है। इससे इतर भी कोई मजिल है जिस तक पहुचॅना है। उसे किसी ने मोक्ष कहा है, किसी ने निर्वाण कहा है, किसी ने ईश्वर के राज्य मे प्रवेश कहा है। रजनीश जी उसे आत्म-उपलब्धि कहते है। मनुष्य जीवन का एक मात्र लक्ष्य है कि वह स्वय को पहचाने, अर्थात् उसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो और जब उसे यह ज्ञान होता है तो वह समस्त अस्तित्व के साथ एक हो जाता है। सारा द्वैत समाप्त हो जाता है। द्वैत तभी तक दिखता है जब तक वह आत्मोपलब्ध नही है। रजनीश जी कहते है कि **''प्राप्त करने और खोजने वाले लोगों को ईश्वर का दर्शन नहीं हो सकता।** ''ईश्वर को पाने ओर खोजने की जरूरत तब होती जब वह दूर होता है। लेकिन वह न तो खो गया है और ने हमसे दूर है। वह हमारा स्वरूप है—अकेला वही है। मै नही हूँ, इसलिए उसे देखूँ भी तो कैसे ? अथवा जो मै स्वय हूँ उसे जानूँ भी तो कैसे ? जो दृश्य है, जो दीख पडता है, वह हमारा स्वरूप नही है दृश्य बन जाने के कारण वह हमसे बाहर हो जाता है। परमात्मा है हमारा स्वरूप, इसलिए उसे देख पाना असम्भव है। उसके नाम से जो दर्शन होगे, वे हमारी ही कल्पनाए होगी। अत उसे जानने के पूर्व स्वय को अच्छी तरह जान लेना चाहिए।''[1] चूॅकि स्वय की सत्ता ही स्वय के सर्वाधिक निकट है, इसलिए उसमे खोजने से ही उसमे होना सम्भव है। जो अपने भीतर बैठे परमात्मा को खोजने मे असमर्थ है, वह निकट ही नही खोज पाता तो दूर कैसे खोज पाएगा ?

स्वय का ज्ञान मुझे कैसे हो सकता है ? ज्ञान के लिए ज्ञाता और ज्ञेय की अपेक्षा होती है द्वेत की जरूरत होती है। जहा अद्वैत है केवल एक है, वहा ज्ञान कैसे होगा ? वस्तुत ज्ञान-दर्शन आदि शब्द द्वैत के जगत के है और इस कारण वहॉ अर्थहीन हो जाते है जहा अद्वैत है। **रजनीश जी आत्मदर्शन को असम्भावना कहते है।** उनके अनुसार यह शब्द ही असगत है। वे कहते है कि, **''जिन आखो से मै देखता हूँ उन आखों को ही मेरी ऑखे कैसे देख सकती हैं ? स्वय को ज्ञेय**

---

1 तुलना के लिए देखे—

कैसे बनाया जा सकता है ? इसमे सन्देह नही कि जिस प्रकार मै सबको जान सकता हूँ, उसी प्रकार मे स्वय को नही जान सकता। इसी कारण आत्मज्ञान जैसी सरलघटना कठिन और दुरूह बनी रहती हे। आत्मज्ञान उस ज्ञान से सर्वथा भिन्न हो जाता हे जिससे हम परिचित है। इसमे ज्ञाता ओर ज्ञेय का सम्बन्ध नही रहता। इसमे न ज्ञेय होता है और न ज्ञाता। इसमे विशुद्ध ज्ञान होता है। ऐसे ही ज्ञान की पूर्ण शुद्धावस्था का नाम आत्मज्ञान है। चेतना वहॉ निर्विषय है निर्विचार है निर्विकल्प है वही जो अनुभूति है वही स्वय का साक्षात्कार है।"[1]

रजनीश इसे ही नारायण-मूल्य मानते हे। यदि आत्मज्ञान की खोज मे मै निकलू तो सर्वप्रथम मुझे यह मान लेना होगा कि आत्मा कोई ज्ञेय पदार्थ नही है और न उसे किसी आकाक्षा का लक्ष्य ही बनाया जा सकता हे, क्योकि वह विषय भी नही है। आत्मा की खोज भी नही हो सकती क्योकि उसमे मेरा ही स्वरूप है। अत खोज छोडनी होगी और उसे जानने के लिए सब जानने से शून्य होना पडेगा। रजनीश ने कहा है कि ईश्वर को पाने की कामना और कल्पना बहुत गहरे मे लोभ की ही चरम परिणति हे। पाने की आकाक्षा ही मौलिक अमुक्ति है और "जो मुक्त नहीं है, वह परमात्मा को कैसे जानेगा ? चित्त की परम मुक्ति मे जो जाना जाता है वही तो परमात्मा है।"[2]

अत हम अपनी आखो को ठीक करे। प्रश्न इन आखो का ही है, न ईश्वर का है और न सत्य का। इसलिए रजनीश जी का धर्म विचार नही, उपचार है। वे चाहते है कि, "हम भीतर की उन "सवेदनशीलताओ" को सक्रिय कर ले जो हमारे भीतर सुषुप्त पडी हैं। इनकी इस सक्रियता से हमारे भीतर अनुभूति के नये-नये क्षितिज खुलते जाऐगे। जैसे-जैसे हमारी सवेदनाए सूक्ष्मतर होती जाएगी वैसे-वैसे स्थूल विलीन होता जाएगा और सूक्ष्म के दर्शन होने लगेगे। एक घडी ऐसी जब सर्वत्र परमात्मा ही दृष्टिगत होने लगेगा। किन्तु इसके लिए अपने भीतर सगीत को पैदा करना होगा। अपनी चित्त-भूमि तैयार करनी होगी और अपनी आखो को ठीक रखना होगा। मै आपका देखता हूँ क्योकि मेरी ऑखे देख सकने मे समर्थ है मै आपकी बाते सुनता हूँ, क्योकि मेरे कान सुन सकने मे

---

1 नये सकेत पृ० 56

2 नये सकेत पृ० 56

समर्थ है। परन्तु परमात्मा जिससे मे प्रतिक्षण घिरा हूँ और जो सर्वत्र व्याप्त है, दीखाई नही पडता। मेरी हर सास उसकी है, मेरा प्रत्येक अग उसका है, लेकिन उसका बोध नहीं है। मैने अपने हाथो उस दरवाजे को बन्द कर रखा है जिससे वह मुझ तक पहुँचता। इस दरवाजे को खोलने के लिए केवल तीन सूत्र स्मरण रखने होगे

(1) हम स्वय से प्रेम करे, क्योकि जो स्वय से प्रेम नहीं करता वह किसी से भी प्रेम नही कर पाता है।

(2) अन्य लोगो के प्रति सदाशयता स्द्भाव, प्रेम, अहिसा और करूणा के भाव रखे। जो व्यक्ति मनुष्यो के तल पर प्रेम नहीं कर सकता, वह परमात्मा के तल पर प्रार्थना कैसे फैला सकेगा ?

(3) परमात्मा के प्रति प्रेम। हम यह न भूले कि हम "हम" नहीं है—मैं "मै" नही हूँ। मेरी व्यक्तिगत कोई सत्ता नही है। सास के आने जाने से मै सोचता हूँ कि सास मै ही लेता हूँ। यह मेरी भूल है क्योकि जिस दिन सास नही लौटेगी उस दिन क्या मै उसे लौटा पाऊँगा ? यदि मै यह सोचता हूँ कि मे जी रहा हूँ तो यह भी मेरी भूल ही होगी, क्योकि जिस दिन मेरे प्राण निकल जाऐगे उस दिन क्या एक क्षण भी मेरा ठहरना स्म्भव होगा ? न तो मैने जन्म लिया है और न मै मरूँगा।

आत्मज्ञान का परिणाम है अमोह। समोह से ही आसक्ति का जन्म होता है। अनाशक्ति ही आनन्द है और आसक्ति ही समस्त दुखो का कारण। जब तक हमे स्वय का ज्ञान नही हो जाता तब तक हम सच्चे अर्थ मे किसी से प्रेम नही कर सकते। स्व-बोध के पश्चात् समस्त ससार ही हमारा परिवार बन जाता है और हमारी निजी गृहस्थी निखिल जगत् की गृहस्थी मे विलीन हो जाती है। हमारा यह प्रेम सच्चा प्रेम होता है, मोह नही— अर्थात् जिन लोगो के प्रति हम प्रेम करते है, उन्हे हम बॉधने की कोशिश नही करते। आसक्ति बॉधती है, पर प्रेम चाहता है कि उसकी तरह अन्य भी कीचड से उठकर कमल बन जाए। ऐसी ही निःस्वार्थ प्रेम की आधारशिला पर धार्मिक जीवन का निर्माण होता है। रजनीश जी की दृष्टि मे "धर्मपरायण वही है जिसका प्रेम जीवन से आप्लावित है और जो स्वय के विवेक से चलता है।"[1] उसके लिए विचारो की नाव से तो कागज की नाव श्रेष्ठतर

होती हे और वह सम्प्रदायो शब्दो तथा मदिरो मे धर्म की खोज न कर अपने "प्राणो के प्राण" मे उसकी प्रतिष्ठा करता चलता हे। दृश्य से मुक्त होकर उसका ध्यान द्रष्टा की ओर उन्मुख हो जाता हे और जब ध्यान अपनी समग्रता मे द्रष्टा पर आ जाता, तब दृश्य और द्रष्टा सब विलीन हो जाते हे ओर जो समग्रता शेष रह जाती है वही धर्म है वही सत्य है और वही मोक्ष है।"[1] वही परम मूल्य हे।

5 5 लक्ष्य (साध्य मूल्य) प्राप्ति के मार्ग (साधन-मूल्य)

रजनीश जी का विचारक जीवन, जीवन की मूलभूत समस्याओ पर जिस निर्भीक मौलिकता से विचार करता हे वह सर्वथा स्तुत्य हे। उनका विचार-स्रोत भी नितान्त आध्यात्मिक एव अभौतिक न होकर भिन्न-भिन्न आयामो से युक्त मानव-जीवन है, जिसकी समस्याओ की न तो इयत्ता दीख पडती है और न ही समाधान। वस्तुत इनके समाधान की बात तो दूर रही, तथाकथित धर्मशास्त्रो ने इन्हे जटिलतर बनाकर सारी मानवता को दिग्भ्रान्त किया है। यूँ तो भिन्न-भिन्न धर्मो मे मनुष्य के चरम लक्ष्य को भिन्न-भिन्न नामो से पुकारा गया है और उसकी प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न मार्गो की चर्चा भी की गयी हे। रजनीश जी मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य व्यक्ति द्वारा स्वय के स्वरूप को पहचानना या आत्म-उपलब्ध होना मानते है और इसके लिए इन्होने मुख्य रूप से दो मार्गो की चर्चा की है। एक है-ध्यान, अर्थात साधना का मार्ग और दूसरा है **भक्ति अर्थात् प्रेम का मार्ग। जिसे गीता में ज्ञान और भक्ति कहा गया है उसे ही रजनीश जी ध्यान और प्रेम कहते हैं।**

5 5(अ) ध्यान

रजनीश जी कहते है कि, "ध्यान कोमल प्रक्रिया है। जैसे कोई फूल। तुम्हारी मन की आदते जड चट्टानो की तरह है—बहुत वजनी, बहुत भारी, बहुत कठोर।"[2] वे कहते हैं कि इससे घबडाने की आवश्यकता नही। वे मृत है परन्तु ध्यान जीवत है। अत ध्यान के द्वारा उन चट्टानो को भी

---

1 उपरिवत् पृ—173

तोडा जा सकता है। इस ससार मे मुक्त होने का एक ही उपाय है, और वह है वर्तमान के क्षण मे जितनी समग्रता से जी सको, जीओ। उसे ही वे ध्यान करते है उसे ही सन्यास कहते है। **ध्यान को वे भजन की निष्क्रिय अवस्था मानते है और भजन को ध्यान की सक्रिय अवस्था।** जब भजन मौन होता है तो ध्यान का जन्म होता है। मन ध्यान के आगे की सीढी है। ध्यान और भी रुकना नही है क्योकि ध्यान पर जो रुक गया वह समाधि तक न पहुँच पाएगा। यात्रा समाधि तक की करनी है। समाधि का अर्थ हे—समाधान हो गया अब कुछ प्रश्न न रहा, न कोई जिज्ञासा रही, न कोई अनुभव करने की आकाक्षा रही, न कोई जिजीविषा रही—सब शान्त हो गया। समाधि का अर्थ है-सभी लहरे झील मे शान्त हो गयी। कोई तरग नही उठती। इस समाधि की अवस्था मे ही सत्य का, परमात्मा का मिलन है। मन से जाना है ध्यान पर, ध्यान से जाना है समाधि पर-ये तीन अवस्थाए है। वे कहते है कि "तुम अभी मन पर खडे हो। अगर तुमने मन को ही पकड लिया और समझा की यही सब कुछ है—तुम दुखी होओगे। इसलिए तो सभी ज्ञानी पुरुष तुम्हे मन से ध्यान की ओर खीचना चाहते है। ध्यान मन की कोई क्रिया नही है, मन का शान्त हो जाना है। मन का अभाव है ध्यान। जैसे एक कॉटे को हम दूसरे कॉटे से निकालते हे, ऐसे ही मन के कॉटे को ध्यान के कॉटे से निकाल लेते है। लेकिन फिर दूसरे कॉटे को भी सम्भाल कर रखने की जरुरत नहीं। वह भी बेकार हो गया। फिर दोनो काटो को फेक देते है।"[1] रजनीश जी ध्यान को औषधि कहते है। इसलिए जब बिमारी चली जाए तो औषधि भी बेकार हो जाती है। यही कारण है कि बृद्ध पुरूषो ने कहा है कि जब ध्यान का काम पूरा हो जाय, तो ध्यान को फेक देना है। उस पर मोह नहीं करना है। "ससारी मन पर मोह करता है और साधक ध्यान पर। धार्मिक आदमी वही है जो दोनो को छोड देता है।"[2]

रजनीश जी ने ध्यान की कई विधिया दी है। उन्होने बहुत-सी विधियो का आविष्कार किया है ताकि विधिया भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तियो के लिए उपयोगी सिद्ध हो। वे कहते हैं कि विधि आपके अनुकूल होनी चाहिए, न कि आप विधि के अनुकूल हो। जब आपने कुछ समय तक ध्यान कर लिया

---

1 न्यूज लेटर 1 नवम्बर 1975 पृ०—३

हा और अब प्रसन्नता और परितोष का अनुभव करने लगे हो तब आपको ऐसा लग सकता हे कि अब ध्यान की कोई जरूरत नही। ऐसा अवसर तब होता है जब आप किसी के प्रेम मे पडे हो। तब आप सब ध्यानादि भूल जाते हे। लेकिन ध्यान करने का यही सर्वोत्तम समय है। क्योकि इस समय आप अधिक खुले होते हे आपकी उर्जा अधिक गतिमय होती हे। जब आप उदास होते है तब आप बन्द होत हे और उर्जा न्यून होती हे। लेकिन बेहतर होगा अगर वे परिधि पर ही हो। ध्यान करते हुए कभी भी परिणाम के लिए चिंतित न हो। ध्यान के गहन प्रयोग से बहुत ही परिवर्तन अपने आप घटित होंगे जिनसे आपका जीवन निश्चित ही रूपान्तरित होगा। तब आप सम्बन्धो मे किस प्रकार जाते हे उससे आपके ध्यान की प्रगति का पता चलेगा। परन्तु यह सब परमात्मा पर छोड दे और जितनी समग्रता से हो सके ध्यान किये जाए। वे साधको को सुझाव देते है कि यदि ध्यान के दौरान अथवा ध्यान क बाद किसी प्रकार की पीडा अथवा बीमारी पकडे तब आप उसका निरीक्षण करे। अगर वह चार दिन से अधिक समय तक बनी रहे तो समझना चाहिए कि यह ध्यान के कारण पैदा नही हुयी ओर छह दिनो के बाद किसी योग्य चिकित्सक के पास जाना चाहिए। ध्यान मे जब भय पकडे तो आपको चिंतित होने की आवश्यकता नही है। इसे एक अच्छा सकेत समझना चाहिए कि ध्यान गहरा हो रहा हे। भय होने दे ओर यदि ऐसा लगे कि आप मर जाएगे तो होने दे मृत्यु का अनुभव भी।

रजनीश जी साधना मे जाने से पहले प्रत्येक साधक को निम्न बातो को सदा स्मरण रखने की सलाह देते है--

5 5(अ,)वर्तमान मे जीना

अतीत और भविष्य के चिन्तन की यात्रिक धारा व्यक्ति के मन मे सदा ही चलती रहती है। उसके कारण वर्तमान का जीवित क्षण व्यर्थ ही निकल जाता है जबकि केवल वही वास्तविक है। न अतीत की कोई सत्ता है, न भविष्य की। एक स्मृति मे है, एक कल्पना में। वास्तविक और जीवित क्षण केवल वर्तमान है। सत्य को अगर जाना जा सकता है तो केवल वर्तमान मै होकर ही जाना जा सकता है। साधना के दिनो में साधक को स्मरणपूर्वक अतीत और भविष्य से अपने को मुक्त रखना चाहिए।

5 5(अ,) सहजता से जीना

मनुष्य का सारा व्यवहार कृत्रिम और औपचारिक है और एक मिथ्या आवरण के कारण हमे अपनी वास्तविकता धीरे-धीरे विस्मृत हो जाती हे। इस झूठी खाल को निकालकर अलग रख देना है। वह जो आप मे मोलिक है ओर सहज है—उसे प्रगट होने दे, और उसमे जिये। सरल और सहज जीवन मे ही साधना विकसित होती हे।

5 5(अ,) अकेले जीना

साधना का जीवन अत्यन्त अकेलेपन मे, एकाकीपन मे जन्म पाता है। पर मनुष्य साधारणत कभी भी अकेला नही होता। वह सदा दूसरो से घिरा रहता है, और बाहर भीड मे न हो तो भी भीतर भीड मे हाता हे। इस भीड को विसर्जित कर देना है। भीतर भीड को इकट्ठी न होने दे और बाहर भी ऐसे जिये कि दूसरे से कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

5 5(ब) प्रेम

विश्व के अन्यान्य धर्मोपदेशको, अर्हतो और तत्वज्ञानियो की तरह रजनीश जी प्रेम-धर्म के प्रस्तोता हे और उन्हे विश्वास हे कि ''**यदि मै मनुष्यो और स्वर्गदूतो की बोलिया बोलूँ और प्रेम न रखूँ**'' तो लोग मुझे ठन-ठनाता हुआ पीतल और क्षक्षनाती हुयी क्षांक्ष समझेगे। ''**प्रेम ही एक ऐसी सम्पत्ति है जो बॉटने से बढती है। प्रेम ही एक ऐसा बल है जिससे सारे विश्व पर शासन किया जा सकता है।**''[1] प्रेम धीरजवन्त और कृपालु है, प्रेम डाह नही है। प्रेम अपनी बडाई नहीं करता और फूलता नही है। "प्रेम" प्रेम को जगाता है, घृणा, घृणा को जगाती है। यह एक शाश्वत नियम है कि हम जो देते है, वह कभी-न-कभी लौट ही आता है। इसलिए जो चाहता है कि मुझे मिले, उसे ही देना परमावश्यक है। कॉटे देकर कोई फूल नहीं पा सकता। कनफ्यूप्सी के धर्म का मूल सूत्र है—तुम्हे जो चीज नापसन्द है, वह दूसरो के लिए हर्गिज मत करो। मनुस्मृति मे मनु का भी कहना है ''**आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्।**'' गाधी जी कहा करते थे कि, ''चेतन प्राणियो को

एक-दूसरे स बॉध रखनेवाली उन्हे जोडने और एक करनेवाले शक्ति का नाम प्रेम है।[1] जहा स्वय के पति प्रेम नही होता वही आत्म विग्रह ओर असतुलन दिखता हे। क्राइस्ट ने कहा था कि हम अपने पडोसियो स अपने जेसा ही प्रेम करे। किन्तु, पडोसियो की बात तो जाने दे हम स्वय से भी प्रेम कहॉ करत ह ? निश्चय ही जो स्वय से प्रेम करता हे वह सबसे प्रेम करने लगता है। प्रेम तो भाव की अवस्था है वह भीतर हो तो सहज ही सर्व के प्रति व्याप्त हो जाता है।"[2] **रजनीश जी कहते है कि भूल जाओ परमात्मा को, भूल जाओ सत्य को, तुम सिर्फ प्रेम को खोजो और शेष सब उसके पीछे चला आएगा। लेकिन प्रेम के बिना तुम कुछ भी खोजो तो कुछ भी न पा सकोगे।"**[3] प्रेम का अर्थ हे दूसरे को अपने जीवन का केन्द्र बना लेना, दूसरा इतना मूल्यवान हो जाए कि मै परिधि पर हा जाऊँ आर दूसरा केन्द्र हो जाय। मै दूसरे लिए जीऊँ और मरूँ, मेरे श्वास दूसरे के लिए आए ओर जाए। जरूरत हो तो मै अपने को मिटा दूँ परन्तु दूसर को बचाऊँ। "ध्यान रखो, प्रेम के बिना तुम रिक्त रहाग, खाली रहोगे खाली बर्तन की भाति। तुम्हारे जीवन मे एक स्पन होगा। तुम उत्सव से मर न सकोगे। प्रेम के बिना कभी कोई उत्सव उपलब्ध नही हुआ, न कभी हो सकेगा। यह जीवन का शाश्वत नियम हे।[4]

जिसने जीवन को ठीक से जीया ओर जिसने जीवन के रहस्य को जाना पहचाना और जिसके मदिर मे परमात्मा प्रविष्ट हुआ, जिसका सिहासन खाली न रहा, जिसके हृदय मे प्रेम का रस भरा और जिसकी रसना पर प्रेम का नाम रहा—वह मृत्यु का आनन्द से स्वागत करता है। जिसने जीवन का जाना उसकी कोई मृत्यु नही। रजनीश जी कहते है कि "प्रेम नाजुक चीज है, कोमल चीज है। दान से बॉटने से बढता है। मॉगने से, राह देखने से घटता है। और जिससे भी तुम प्रेम चाहोगे वही सिकुड जाएगा वही तुम से दूर हट जाएगा।"[5]

---

1 महात्मा गाधी मेरा धर्म पृ०–23

2 सिहनाद पृ०–43

3 न्यूज–लेटर 16 फरवरी, 1975, पृ०–4

4 उपरिवत् पृ०–5

5 न्यूज लेहर 16 दिसम्बर–1979, पृ

5.6 भक्ति और प्रेम

रजनीश जी के अनुसार भक्ति और प्रेम मे किसी भी तरह का विरोध नहीं है। 'भक्ति है प्रेम का उर्ध्वगमन। भक्ति रागविरोधी नही है। भक्ति है राग का रूपान्तरण। भक्ति सौन्दर्य-विरोधी नहीं है, भक्ति है परमसौन्दर्य की खोज। भक्ति प्रिय से तुम्हे तोडती नही परम प्रिय से जोडती है। भक्ति कहती नही कि छोडो प्रम भक्ति कहती है कि प्रेम को बढाओ। छोटे प्रेम को जाने दो, बडे प्रेम को बुलाओ, भक्ति वियोग नही सिखाती, योग नही सिखाती है, वैराग्य नही तपश्चर्या नही, भक्ति सिखाती है—कैसे प्रिय के रग मे रग जाओ।[1] "जब मन मिटता है, तब आनन्द आता है, मन का अभाव आनन्द है और प्रेम मे मिट्ता है मन। प्रेम मन की मृत्यु है। प्रेम मे मरता है मन। तुम खो जाते हो। कुछ खोज खबर नही मिलती कौन थे क्या होने जा रहा है—सब रेखाये मिट जाती है। विचार का त्याग प्रेम है और विचार का त्याग ही ध्यान है। निर्विचार हो जाना ध्यान है, निर्विचार हो जाना प्रेम है। जब तुम गहन प्रेम मे पडते हो तो विचार कम हो जाते है। प्रेमी चुप हो जाते है, और अगर तुम चुप होने की कला सीख जाओ तो तुम प्रेमी हो जाओगे। फिर तुम जिसके पास भी चुप बैठ जाओगे उसी से तुम्हारे प्रेम के सम्बन्ध जुड जाऐगे।"[2]

5.7 प्रेम के तीन सूत्र

रजनीश जी कहते है कि दृश्य से अदृश्य, स्थूल से सूक्ष्म, पदार्थ से परमात्मा की ओर ले जानेवाले तीन सूत्रो मे पहला सूत्र है— व्यक्ति स्वय से प्रेम करे। यह प्रेम अबाध और बेशर्त है। इसके अभाव मे स्थूल का अतिक्रमण असम्भव है क्योकि प्रेम की शक्ति ही एकमात्र शक्ति है जो पार्थिव नही है। इसके दिव्य और अपार्थिव सूत्र को पकड कर ही परमात्मा की सीढिया चढी जा

होता है जब हम स्वय से घृणा करे स्वय के शत्रु बन जाय और स्वय को दो खण्डो मे तोड दे। यदि मै किसी के धन या रूप को देखकर ललच जाऊँ तो इसमे मेरी आखो का क्या दोष ? मेरी आखे न तो लोभ करने को कहती है और न राग करने को। मेरा सारा शरीर मेरी सेवा के लिए तत्पर रहता है मेरा अनुचर है। उसे चाहूँ तो नरक ले जाऊँ चाहूँ तो स्वर्ग ले जाऊँ। प्रश्न इसी चाहने का है मेरे सकल्प का है मेरे शरीर का नही। इसलिए अपने शरीर को कष्ट न देकर अपने सकल्प को ही परिवर्तित करने के लिए प्रयास होना चाहिए।

स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जानेवाला दूसरा प्रेम-सूत्र है—हम स्वय से ही नहीं, दूसरो से भी प्रेम करे और अपने नाराज पडोसी को भी उतना ही प्रेम दे जितना हम स्वय को देते है। ऐसे प्रेम के बिना सारी प्रार्थनाए बेकार होगी। क्योकि जो मनुष्यो के तल पर प्रेम फैलाने मे असमर्थ है वह परमात्मा के तल पर प्रार्थना नही फैला सकता। प्रेम तभी बन्धन बनता जब उसका स्थान मोह ले लेता है और हृदय की उदारता सकोच एव सीमा मे लुप्त हो जाती है। छोटा प्रेम बान्धता है, इसलिए प्रेम पर कोई प्रतिबन्ध न लगा कर उसे निरन्तर फैलने दे ताकि वह जिसपर बरसे, उसका भी अतिक्रमण कर जाए। वह न कही रूके और न कही ठहरे। उसके कही रुक जाने के भय से ही तथाकथित अध्यात्मवादी उससे भयभीत हो उठते है। किन्तु अगर हमारा प्रेम रुकता है तो वह प्रेम का नही, हमारा दोष है। इसलिए प्रेम से शत्रुता कर बैठना न्यायोचित नहीं है। दोष प्रेमी मे है, प्रेम मे नही। किसी से भी घृणा नही करनी है, बल्कि सभी लोगो से इतना प्रेम करना है, इतना प्रेम देना है कि प्रेम उसमे न समा सके। यदि हमारा प्रेम सचमुच असीम होगा तो केवल परमात्मा ही उस प्रेम को झेलने मे सामर्थ हो सकेगा। प्रेम वही बाधा बनता है जब वह कही रुक जाता है। रुका हुआ प्रेम ही राग है, वही आसक्ति कहलाता है। इसके विपरीत वह प्रेम प्रार्थना है जो असीम है, जो फैल जाता है। अत प्रेम को बुरा न समझे, केवल स्मरण रखे कि आपका प्रेम कही रुके नहीं। "जो व्यक्ति सबसे अपने प्रेम को खोज लेता है वह अपनी अस्मिता मे, अहकार मे, "मैं" में ही ठहर जाता है और अह तथा ब्रह्म के बीच सर्वाधिक फासला है। वे दो बिन्दु ही अस्तित्व में सर्वाधिक दूरी पर हैं।"[1]

प्रेम का तीसरा सूत्र है-परमात्मा के प्रति प्रेम। इस सूत्र मे अन्य दोनो सूत्रो का अतिक्रमण है। ऐसे प्रेम के लिए जागना होता है, इस तथ्य से जागना होता है कि मै हूँ। मै को मानने से ही 'पर' का—अन्य का—जन्म होता है। मै "मे" हूँ, इसलिए ही अन्य "अन्य" है। प्रेम के प्रकाश मे "मै" का ही नही "पर" और "अन्य" का भी भाव लुप्त हो जाता है। न मै और न तू—बस प्रेम ही। इसी प्रेमावस्था को रजनीश जी परमात्मा के प्रति प्रेम कहते है। "मै" के गिरते ही "तू" भी स्वय गिर जाता है और जो शेष रह जाता है वही केवल सही है, वही परमात्मा है। "मै" से शून्य होना प्रेम मे आना है। प्रेम का अर्थ है अहकार—विसर्जन। और जब अहकार पूर्णत विसर्जित हो जाता है तभी आत्मज्ञान सभव होती है। यही अवस्था आत्मोपलब्धि की अवस्था है। यही जीवन का सर्वोच्च मूल्य भी है।

अध्याय 6

भौतिकवादी मूल्य-दर्शन

डॉ0 मानवेन्द्रनाथ राय (1886-1954)

नव्य मानववाद

डॉ० मानवेन्द्रनाथ राय पूर्णतया भोतिकवादी थे। भौतिकपाद एकत्ववादी विचारधारा है , लेकिन डॉ० राय का पूर्ण भौतिकवाद इस धारणा को स्वीकार करने से नही रोकता कि द्रव्य की अभिव्यक्ति की प्रक्रियाएँ अनेक होती है।[1] उनके अनुसार भौतिकवाद ब्रह्माण्ड के विकास और प्रक्रियाओ की व्याख्या हे, इन्द्रियपरायण अहवाद कदापि नही है। लेनिन की भॉति डॉ० राय का भी विश्वास था कि विज्ञान आर दर्शन की प्रगति ने भी भौतिकवादी सिद्धान्तो की पुष्टि की है। नीलबोहर का परमाणु सिद्धान्त श्रडिंगर का तरग यान्त्रिकी का सिद्धान्त, ओ० डी० ब्रोग्ली का प्रकाश-सिद्धान्त भौतिकवाद की मूल प्रस्तावनाओ का खण्डन नही करते।

भोतिकवादी होत हुए भी डॉ० राय द्वन्दवाद के आलोचक थे। **'THE MARXIANS WAY'** मे इन्होने कुछ निबन्ध प्रकाशित किए जिसमे द्वन्द्वात्मक पद्धति की आलोचना हुई है, लेकिन ये आलोचनाएँ गभीर नही है। उसमे केवल इस बात का उल्लेख किया गया है कि द्वन्दवाद सत्ता के रहस्य का उद्घाटन नही कर सकता। डॉ० राय बुद्धिवादी (Rationalist) थे। वे बर्गसॉ के सृजनात्मक विकासवाद के तथा शोपनहॉवर और हर्डमान के सकल्पवादी कल्पना के विरोधी थे। इन्होने वैशेषिक और न्याय दर्शन को भोतिकवादी पद्धति से विवेचित करने का प्रयत्न किया।[2] उनका विचार था कि न्याय-वैशेषिक दर्शन मे बाद मे जिन आस्तिक तत्वो को समाविष्ट करने का प्रयत्न किया गया है वह उनपर बाहरी लेप है। वास्तव मे डॉ० राय अपने भौतिकवादी स्वदृष्टि को 'भौतिकीय यथार्थवाद'

का नाम देना चाहते थे। यह सत्य है कि आज के वैज्ञानिक 17 वीं और 18 वी शदी की इस धारणा को स्वीकार नही करते कि द्रव्य पदार्थ है, किन्तु डॅा० राय ने लेनिन के इस मत को स्वीकार किया है कि आधुनिक विज्ञान इस धारणा का खण्डन नही करता कि किसी बाह्य वस्तु की सत्ता है जो हमारे सभी अनुभवो का आधार है।[1]

6 1 नवीन मानववाद (New Humanism)[2]

अपने जीवन के अन्तिम वर्षो (1947-1954) मे राय 'नवीन मानववाद' की व्याख्या करने लगे थे। मानववादी तत्व पाश्चात्य दर्शन के अनेक सम्प्रदायो तथा युगो मे देखने को मिलते है। प्रोटेगोरस, इरास्मस,[3] मोर बुकमन और हर्डर मे मानववादी प्रवृत्तियॉ विद्यमान थी। तुर्गो तथा कोन्दर्से की भॉति राय की भी भावना थी कि विज्ञान की प्रगति मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियो की मुक्ति का एक महत्वपूर्ण साधन है। विज्ञान ने मनुष्य की सृजनात्मक क्षमता मे वृद्धि कर दी है और उसे अन्धविश्वासो तथा बे-सिर पेर के पारलौकिक भयो से मुक्त कर दिया है। अपने बौद्धिक कार्यकलाप की मानववादी अवस्था मे राय को, हचीसन, शैफ्ट्सबरी तथा बैथम आदि दार्शनिक व्यक्तिवादियो से प्ररणा मिली थी, ओर उन पर इन विचारको के तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओ के प्रति आलोचनात्मक दृष्किोण का प्रभाव पडा था। दार्शनिक व्यक्तिवादियो ने नैतिक समस्याओ के सम्बन्ध मे व्यक्तिवादी दृष्टिकोण अपनाया था। मार्क्स ने व्यक्तिवादियो के मुक्तिवादी सिद्धान्तो को पूॅजीवादी कल्पना मानकर उसका खण्डन किया। राय ने मार्क्स के इस रवैये को दुर्भाग्यपूर्ण बताया और कहा कि इससे प्रकट होता है कि मार्क्स को नैतिक आदर्शो के ऐतिहासिक

1 Roy M N —'Reason Romanticism and Revolution, जिल्द-2 पृ०-302 Calcutta, 1955

2 एम एन राय New Humanism A Manifesto (कलकत्ता रेनॉसा पब्लिशर्स अगस्त 15 1947)।

3 लोथ्रोप स्टोडार्ड ने कहा है कि पुनर्जागरण-काल का मानवतावाद असफल रहा क्योकि वह अल्पसख्याक लोगो तक ही सीमित था इसलिए उसके पास जनता को प्रोत्साहित करने का कोई व्यावहारिक तरीका नहीं था। किन्तु वैज्ञानिक मानववाद का सम्बन्ध बहुसख्यकों से है, और जनता को आधुनिक विज्ञान का निहितार्थ समझाया जा सकता है।

विकास का समुचित ज्ञान नही था। राय के अनुसार आधुनिक सभ्यता जिस नैतिक तथा सास्कृतिक सकट से गुजर रही है उसको देखते हुए मानववादी मूल्यो का पुन प्रतिपादन करना अत्यन्त आवश्यक है। आनुभविक पद्धति के उद्देश्य से सहज, शुद्ध नैतिक बुद्धि की धारणा ध्वस्त हो गयी है और परिणामस्वरूप मानव-जाति एक नैतिक उलझन मे फॅस गयी है। नैतिक मूल्यो की वस्तु-परकता का ह्रास हो चुका है। ऐसे युग का स्वाभाविक विश्व दर्शन व्यवहारवादी (उपयोगवादी) है। राय की भावना है कि चिन्तनशील बुद्धिवादी व्याप्त सशयवाद तथा शून्यवाद के स्थान पर किसी प्रकार की नैतिक स्थिरता के लिए उत्कठित है। मनहाइम, सोरोकिन, टैगोर, अरविन्द आदि दार्शनिक तथा कवियो ने आध्यामित्क अनुभूति को सर्वोच्च मूल्य की वस्तु माना है। राय के अनुसार सद्विवेक बौद्धिकता की उपज है। उनका आग्रह है कि नवीन मानववाद स्वाभाविक बुद्धि और ऐहिक अन्त करण पर आधारित होना चाहिए। उनके मत मे भौतिकवादी ब्रह्माण्ड शास्त्र पर आधारित बुद्धिपरक मानववादी आचारनीति ही मनुष्य की समस्याओ का एकमात्र समाधान है।

मानव-जाति सकट के युग से गुजर रही है। इस समय मनुष्य की मूल समस्या यह है कि समग्रवादी राज्य के अतिक्रमण से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा किस प्रकार की जाए। अब पूॅजीपतियो और श्रमिको के पारस्परिक सघर्ष की आर्थिक समस्या केन्द्रीय प्रश्न नही है,[1] यद्यपि उसको भी हल करना है और दलित मानवता के हितो की दृष्टि से हल करना है। राय मानव के विकास की धारणा को स्वीकार करते है। मनुष्य भौतिक जगत से ही उत्पन्न हुआ है। भौतिक जगत नियमो द्वारा शासित होता है। मनुष्य इस जगत का अभिन्न अग है। मनुष्य बौद्धिक प्राणी इसलिए है कि सामजस्यपूर्ण भौतिक जगत से ही उसका उद्भव हुआ है। मनुष्य के जीवन तथा व्यक्तित्व मे जो बुद्धि देखने को मिलती है वह सार्वभौम सामजस्य की ही 'प्रतिध्वनि' है।[2] बुद्धि कोई सहज तात्विक वस्तु नहीं है, बल्कि जैविक विकास की प्रक्रिया मे ही उसका प्रादुर्भाव हुआ है। मानव बुद्धि की इस

---

1 New Humanism, पृ० 44

कसौटी पर ही नैतिक मापदण्डो को परखना होगा। मनुष्य सामाजिक सामजस्य तथा कल्याणकारी सामाजिक मेलमिलाप की खोज करता है। इसी के फलस्वरूप नैतिकता का जन्म होता है। मनुष्य विश्व का अवयवी तथा अभिन्न अग है इसलिए भौतिक तथा सामाजिक सम्बन्धो से हीन निरपेक्ष मनुष्य की कल्पना करना उचित नही है। नवीन मानववाद मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धो को समग्र मानकर चलता है। शाश्वत एव अपरिवर्तनीय मानव स्वभाव उसकी केन्द्रीय मान्यता नहीं है।[1] इस प्रकार निरपेक्ष मानववाद मनुष्य की लोकोत्तर स्वायत्तता का समर्थन करता है। इसके विपरीत वैज्ञानिक मानववाद मनुष्य को बाह्य विश्व का अभिन्न अग मानता है और उस आधार पर मनुष्य के विषय मे विकासात्मक और कार्यमूलक आधार को मान्यता देता है।

राय ने अपने मानववाद को उन्नीसवी शताब्दी के फ्रास और जर्मनी के मानववादी सम्प्रदायो से भी भिन्न बताया है। नवीन मानववाद भौतिक विज्ञानो, समाजशास्त्र, कार्यविज्ञान तथा ज्ञान की अन्य शाखाओ मे हुए अनुसन्धानो पर आधारित है। उसका दार्शनिक आधार भौतिकवाद है, और पद्धति यान्त्रिक है। उसे मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियो मे विश्वास है, किन्तु उस विश्वास का आधार शुद्ध अथवा शास्त्रीय विज्ञान नही है। उसके इस विश्वास का आधार वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक अनुसन्धानो का वह विवश साक्ष्य है जिसने मनुष्य की मौलिक तथा सृजनात्मक शक्तियो को प्रमाणित कर दिया है।[2] जैविक अनुसन्धानो ने मानव-स्वभाव के सम्बन्ध मे सही दृष्टिकोण सम्भव बना दिया है। जीवन का उद्‌भव भौतिक जगत् की पृष्ठभूमि मे हुआ है। मनुष्य का गौरव इस बात मे है कि वह प्रकृति की विकासात्मक प्रक्रियाओ की उच्चतम अभिव्यक्ति है। मनुष्य की सर्वोच्चता किसी लोकोत्तर अतिभौतिक प्राणी से व्युत्पन्न नही हुई है। उसने प्रकृति को समझकर और उस पर आशिक विजय पाकर जो सृजनात्मक उपलब्धियॉ प्राप्त की है उन्होने उसे सर्वोच्च बना दिया है। यद्यपि अन्तत

---

1 एम एन राय Heresies of the Twentieth Century, पृ० 165-66

2 नवीन मानववाद इस अर्थ मे 'नवीन' है कि वह मनुष्य के सम्बन्ध मे एक नयी धारणा को स्वीकार करता है। उसका विश्वास है कि मनुष्य तत्वतः बौद्धिक प्राणी है यह सिद्धान्त ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक दृष्टि से सत्य है।— एम एन

मनुष्य की जडे भौतिक प्रकृति मे ही है, किन्तु वह उससे अभिभूत नहीं है। नवीन मानववाद मनुष्य को इसलिए सर्वोच्च मानता है कि उसके अनुसार इतिहास मनुष्य के क्रियाकलाप का लेखा-जोखा है, और समाज को इस बात का अधिकार नही है कि वह एक विशाल शक्ति के रूप मे अपने को व्यक्ति पर थोप दे। नवीन मानववाद का आधार यात्रिक ब्रह्माण्ड विद्या तथा भौतिकवादी तत्वशास्त्र है वह भावात्मक मनोवेगो के काव्यात्मक अथवा काल्पनिक आधारो पर कायम नही है। मानववादी आचारनीति (नवीन मानववाद के नैतिक विचार) बुद्धिवाद पर आधारित है, और मनुष्य की बौद्धिकता का स्रोत मुख्यत प्रकृति का बौद्धिक स्वभाव है। मनुष्य अपनी बौद्धिकता (सदसद्विवेक) को जैविक विकास के द्वारा प्रकृति से ही प्राप्त करता है। बुद्धिवादी मानववाद का बीज हमे देकार्त के दर्शन मे तथा अठारहवी शताब्दी के फ्रासीसी भौतिकवादियो के विचारो मे मिलता है। अत राय का दावा है कि अविकल मानववाद आधुनिक ज्ञान की उपलब्धियो के समन्वय पर आधारित है।

नवीन मानववाद नैतिक तथा आध्यात्मिक स्वतत्रता, विवेक तथा आचारनीति के मूल शास्त्रीय महत्व को स्वीकार करता है। किन्तु आत्मा से राय का अभिप्राय वह नही है जो अरस्तू अथवा देकार्त का था।[1] वे विश्व की हेतुवादी (प्रयोजनवादी) धारा के विरोधी है। यहाँ आध्यात्मिक स्वतत्रता का अर्थ राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक शक्तियो से मुक्ति है। यूरोप मे पुनर्जागरण ने आध्यात्मिक स्वतत्रता का सदेश दिया था किन्तु पूजीवादी समाज के बधनो से उत्पन्न भय तथा नैतिक अविश्वास ने उसे अभिभूत कर लिया था।[2] नवीन मानववाद आध्यात्मिक स्वतत्रता पर पुन बल देता है। अविकल मानववाद मे तीन आधारभूत मूल्यात्मक तत्व है- स्वतत्रता, बुद्धि तथा नैतिकता। ये तीनोचीजे काल्पनिक अथवा पूर्वसिद्ध नहीं है, वे उन अनुभवो का घनीभूत सार है जो ऐतिहासिक विकास के दौरान प्राप्त हुए है। मूल तथ्य यह है कि इस शत्रुतापूर्ण जगत मे प्राणी को जीवन के लिए सघर्ष करना पडता है। आत्म-परिरक्षण तथा आत्मपुनर्जनन के लिए यह सघर्ष ही स्वतन्त्रता की धारणा का

---

1 एम० एन० राय *The Problem of Freedom* पृ० 61। "आत्मा की तत्वशास्त्रीय धारा वास्तव मे बाह्य सत्ता का ही आन्तरिकीकरण है। एक बाह्य सत्ता अपने को मनुष्य की चेतना मे प्रतिष्ठित कर लेती है और उसकी स्वतत्र सत्ता का निषेध कर देती है।'

2 एम० एन० राय *The Problem of Freedom*, पृ० 63.

आधार है। स्वतन्त्रता एक वास्तविक सामाजिक धारणा है, वह जीवन की एक प्रमुख प्रेरणा है। स्वतत्रता कोई ब्रह्माण्ड से परे की वस्तु नही है। उसे इसी ससार मे साक्षात्कृत करना है। हेतुवाद (प्रयोजनवाद) तथा स्वतन्त्रता मे परस्पर विरोध है।[1] राय ने मार्क्सवाद की आलोचना इस आधार पर की है कि आर्थिक नियतिवाद के सिद्धान्त ने इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या को हेतुवादी रूप प्रदान कर दिया है।[2] अरविन्द के अनुसार स्वतन्त्रता मनुष्य मे ईश्वर द्वारा रोपित एक मूल प्रवृत्ति है। इसके विपरीत राय जीवन तथा आत्मपरीक्षण के सघर्ष को जिसकी धारणा का प्रतिपादन हॉब्स और डार्विन ने किया है स्वतन्त्रता का मूल स्रोत मानते है। राय के भौतिकवादी ब्रह्माण्डशास्त्र मे स्वतत्रता को निरपेक्ष आत्मा का निर्विकल्प सार नही माना गया है, वह तो जैविक विकास की ही एक विरासत है। जीवन के लिए जो जैविक सघर्ष चला करता है वही भावनात्मक और सज्ञानात्मक स्तर पर स्वतत्रता की खोज का रूप धारण कर लेता है।[3] अत स्वतत्रता सामाजिक प्रगति और सामूहिक उन्नति की मूल प्रेरणा अथवा अभिप्रेरणात्मक शक्ति है। स्वतत्रता के तीन मुख्य स्तम्भ है-मानववाद, व्यक्तिवाद तथा बुद्धिवाद।[4] प्रोटोगोरस, पेनेटिउस और फिलो की कल्पना थी कि बुद्धि, चित्त (NOUS) अथवा ज्ञान (LOGUS) का वास्तविक अस्तित्व है। राय ने उनकी इस तत्व-शास्त्रीय धारणा को स्वीकार नही किया। उनका कहना है कि मनुष्य विधि-शासित तथा विधि-निर्धारित विश्व मे निवास करता है, और यही उसकी बुद्धि का मूलाधार है। मनुष्य को धीरे-धीरे कारण-कार्य सम्बन्ध के आधार पर सोचने का अभ्यास हो जाता है। सस्थापक सम्प्रदाय (क्लासीकल सस्कृत), अर्थशास्त्रियो तथा मार्क्सवादियो की भॉति राय भी मानते है कि मनुष्य मूलत बौद्धिक प्राणी है, यद्यपि उनके व्यक्तित्व का कल्पनात्मक तथा सवेगात्मक पक्ष भी है और वह कभी-कभी गम्भीर क्रोध और प्राकृतिक शक्तियो की-सी प्रचण्डता के साथ फूट पडता है। आचारनीति का आधार अन्तप्रज्ञात्मक अथवा लोकोत्तर नही है। मनुष्य सामाजिक सम्बन्धो की प्रक्रियाओ तथा वैयक्तिक तालमेल के विषय मे व्यवस्थित ढग से बुद्धि का प्रयोग करता है। इसी से आचारनीति का उद्‌भव होता है। आचारनीति का उद्देश्य मानव-जाति के

---

1 एम० एन० राय *Fragments of a prisoner's Diary*, जिल्द 2, पृ०

2 एम० एन० राय *New Humanism*, पृ० 23

3 वही पृ० 52-53

4 एम० एन० राय *The*

सामूहिक कल्याण को साक्षात्कृत करना है। राय ने पराबौद्धिक तत्वशास्त्र और आचारनीति की मान्यताओ को चुनौती दी। वे बुद्धि पर आधारित आचारनीति के समर्थक थे। राय का यह नीतिशास्त्र काट के बौद्धिक निग्रहवाद (कठोरतावाद) से भिन्न है। काट यह मानकर चलता है कि विश्व मे एक आधारभूत नैतिक व्यवस्था विद्यमान है जिसे साधारण अनुभवमूलक बुद्धि के द्वारा नही समझा जा सकता। इसके विपरीत राय का कहना है कि नैतिक विवेचन की कसौटी बुद्धि होनी चाहिए रहस्यात्मक उद्‌गारो अथवा शास्त्रीय मतवादो को नैतिक मूल्यो की कसौटी नही माना जा सकता। राय की इस बौद्धिक आचारनीति का आधार भौतिकवादी ब्रह्माण्डशास्त्र है। इसका मुख्य उद्देश्य मनुष्य को राजनीतिक धार्मिक आदि सभी प्रकार के बन्धनो से मुक्त करना है। राय उन लोगो से भी भिडने को तैयार है जो कुत्सित भोगवाद और नग्न इन्द्रियपरायणता को ही भौतिकवाद मान बैठे है।[1]

डॉ० राय ने लिखा है, "नवीन मानववाद विश्वराज्यवादी है। आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतत्र व्यक्तियो का विश्वराज्य राष्ट्रीय राज्यो की सीमाओ से परिबद्ध नही होगा- वे राज्य पूँजीवादी, फासीवादी समाजवादी साम्यवादी अथवा अन्य किसी प्रकार के क्यो न हो ? राष्ट्रीय राज्य मानव के बीसवी शताब्दी के पुनर्जागरण के आघात से धीरे-धीरे विलुप्त हो जायेगे।[2] राय ने विश्वराज्यवाद तथा अन्तरराष्ट्रवाद के बीच भेद किया है। उन्होने आध्यात्मिक समाज अथवा विश्वराज्यवादी मानववाद का समर्थन किया है। अन्तरराष्ट्रवाद मे पृथक राष्ट्रीय राज्यो के विश्वराज्यवादी मानववाद का समर्थन किया है। राय के अनुसार एक सच्ची विश्व-सरकार की स्थापना राष्ट्रीय राज्यो का निराकरण करके ही की जा सकती है।[3]

राय एकाधिकारी पूँजीवाद तथा उससे उत्पन्न विशाल उत्पादक सघो और उद्योगमण्डलो के विरुद्ध थे। एकाधिकार की बृद्धि से केवल प्रतियोगिता ही कम नहीं होती बल्कि वित्तीय तथा औद्योगिक शक्ति के केन्द्र स्थापित हो जाते है। इसलिए एकाधिकारी पूँजीवाद का नाश करना

---

1 एम० एन० राय *Materialism*, द्वितीय सस्करण, पृ० 240-241 (कलकत्ता रेनॉसा पब्लिशर्स 1951)।

2 *Reason, Romanticism & Revolution* पृ० 310.

3 *New Humanism* पृ० 5

आवश्यक है। सामाजिक तथा आर्थिक असमानताए जो पूँजीवाद के कारण अधिक गहरी हो जाती है, ससदीय लोकतन्त्र को मखौल बना देती है। उदारवाद पूँजीवाद भी जो हस्तक्षेप तथा मुक्त उद्योग के सिद्धान्तो पर आधारित है लोकतन्त्र का गला घोटता है।[1] किन्तु राज्य पूँजीवाद तथा राज्य समाजवाद भी जो पूँजीवाद के विकल्प माने जाते है, व्यक्ति की स्वायतता पर भयकर प्रहार करते हे। इनके द्वारा यदाकदा निजी एकाधिकारी पूँजीवाद से सघर्ष करना भले ही सम्भव हो सके, किन्तु राज्य पूँजीवाद और राज्य समाजवाद दोनो ही सेना तथा नौकरशाही की शक्तिशाली नीव पर आधारित होते है, इसलिए वे दमन के विनाशकारी साधन सिद्ध होते है। इसलिए एकमात्र विकल्प कोई ऐसी आर्थिक व्यवस्था होगी जो व्यापक विकेन्द्रीकरण तथा सहयोग की भावना तथा आचरण पर आधारित हो।[2] इसलिए राय ने सहकारी अर्थतन्त्र का समर्थन किया, जिसके अन्तर्गत उत्पादन का एकमात्र उद्देश्य मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति करना होता है। केवल इसी प्रकार निहित स्वार्थो के भ्रष्टकारी प्रभावो का उन्मूलन किया जा सकता है।

राय व्यक्तिवाद को लोकतन्त्र का सैद्धान्तिक आधार मानते है, और उन्होने दार्शनिक, सामाजिक तथा राजनीतिक अर्थ मे व्यक्तिवाद की व्यापक धारणा का समर्थन किया है। उनके अनुसार व्यक्ति, परिवार ही नही बल्कि समाज से भी पहले का है। समाज का जन्म व्यक्तियो के ऐच्छिक समुदाय के रूप मे हुआ था।[3] व्यापक सामाजिक व्यक्तिवाद मे यह निहित है कि स्त्रियो पर जो अनेक प्रतिबन्ध है, वे हटा दिये जाये। राय पितृसत्ता पर आधारित सयुक्त परिवार की प्रथा को अतीत का एक अवशेष मानते है। उन्होने स्त्रियो की स्वतन्त्रता की बृद्धि करने का समर्थन किया है,[4] और वे पितृसत्ता के विरोधी है।

---

1 एम० एन० राय The Problem of Democracy', *The Problem of Freedom*, पृ० 131-140

2 21 सितम्बर 1943 को उग्र लोकतान्त्रिक दल (रेडीकल डेमोक्रेटिक पार्टी) ने जो घोषणा प्रकाशित की थी उसमे उपभोक्ताओ तथा प्राथमिक उत्पादको की सहकारी समितियो का समर्थन किया गया था। एम० एन० राय, *National Government or People's Government* पृ० 104।

6 2 निष्कर्ष

इसमे सन्देह नही कि मानवेन्द्रनाथ राय आधुनिक भारत मे दर्शन तथा राजनीति के लेखको मे सबसे बडे विद्वानो मे से थे। वे महान् वक्ता भी थे। उनकी शैली ओजपूर्ण तथा प्रसादगुण सम्पन्न थी। कहा जाता है कि उन्होने **'फिलोसोफीकल कौसीक्वेसेज ऑव मॉडर्न साइन्स'** (आधुनिक विज्ञान के दार्शनिक परिणाम) नामक एक छह हजार पृष्ठ की पुस्तक लिखी थी। वह जब प्रकाशित होगी तो सम्भवत अनेक जिल्दो मे पूरी हो सकेगी। उनकी विद्वत्ता वास्तव मे बहुत ही चित्ताकर्षक थी। यद्यपि उन्हे दर्शन अथवा सामाजिक विज्ञानो के शास्त्रीय क्षेत्रो का विशेष ज्ञान नही था, फिर भी उनकी विद्वत्ता बडी व्यापक थी।

राय का भारतीय चिन्तन के इतिहास मे एक व्याख्याकार तथा इतिहासकार के रूप मे महत्वपूर्ण स्थान रहेगा। आधुनिक काल मे विज्ञान के दर्शन के क्षेत्र मे जो विकास हुए है उनको समझने वाले भारतीय विद्वानो मे राय सम्भवत सबसे योग्य थे। उनकी पुस्तक 'रीजन, रोमाटिसिज्स एण्ड रिवोलूशन' (बुद्धि, कल्पना तथा क्रान्ति) पाश्चात्य चिन्तन के इतिहास मे एक भारतीय लेखक का महत्वपूर्ण योगदान है। उनकी मैटीरियलिज्म' (भौतिकवाद) नामक पुस्तक भी काफी प्रतिष्ठित है।

डॉ० राय द्वारा प्रतिपादित नवीन मानववाद' जीवन मे मूल्यो को प्रथम स्थान देने का उपदेश देता है। वह स्वतन्त्रता की शाश्वत प्रेरणा को सर्वोच्च मानता है। आधुनिक विश्व की राजनीतिक विषमावस्था का मुख्य कारण यह है कि मनुष्य ने नैतिक मूल्यो का परित्याग कर दिया है, और केवल औपचारिक सस्थाओ की पूजा करने लगा है। बीसवी शताब्दी की राजनीति का अन्धविश्वास सस्थाओ की पूजा है। लोकतात्रिक राजनीति मे भी मानव के निर्माण की नैतिक तथा शैक्षिक समस्याओ की उपेक्षा की जाती है। सर्वत्र सस्थाओ, आयोगो और समितियो का जाल निर्मित किया जा रहा है, और आशा की जाती है कि निरन्तर बुद्धिमान सस्थाओ का यह अम्बार मनुष्य के लिए सतयुग ले आयेगा। किन्तु राय का कहना है कि लोकतन्त्र तभी सफल हो सकता है जबकि सार्वजनिक मामलो का सचालन आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतन्त्र व्यक्तियो के हाथों मे होगा। अधिकतम लोगो का अधिकतम कल्याण तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि सरकारे सबसे पहले अपनी अन्तरात्मा के प्रति

उत्तरदायी हो। चतुराई गुणो की श्रेष्ठता तथा सत्यनिष्ठा नेतृत्व की कसौटी होनी चाहिए। नवीन मानववादी मूल्यशास्त्र स्वतत्रता ज्ञान तथा सत्य को प्राथमिकता देता है। राय का यह सिद्धान्त कि राजनीति तथा समाज का आधार मूल्य होने चाहिए, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन मे महत्वपूर्ण योगदान हे।

समाजवादी चिन्तन के इतिहास मे राय का स्थान एक नैतिक सशोधनवादी का है। उन्होने एक मार्क्सवादी के रूप मे अपना बौद्धिक जीवन आरम्भ किया किन्तु धीरे-धीरे उन्होने मार्क्स की सभी प्रस्तावनाओ की नये ढग से व्याख्या कर दी। लेकिन उनका **'अविकल उग्र नवीन मानववाद'** एक नितान्त नयी विचारधारा नही है वह मार्क्सवाद का नैतिक निर्वाचन है। अत मेरा विचार है कि उनकी सामान्य सैद्धान्तिक स्थिति की तुलना वामपथी जर्मन सशोधनवादियो से की जा सकती है। मै राय को भारतीय एडवर्ड बर्नस्टाइन मानता हूॅ। बर्नस्टाइन और एडलर ने मार्क्सवादी सिद्धान्तो मे काट की आचारनीति जोडकर उन्हे पूर्ण कर दिया है। उसी प्रकार राय ने भौतिकवाद को मानववादी आचारनीति के द्वारा पूर्ण करने का प्रयत्न किया है। उन्होने स्वतत्रता, बुद्धि तथा सामाजिक मानववादी आचारनीति पर जो जोर दिया है वह भौतिकवादी चिन्तन मे एक स्वागत योग्य योगदान है।

किन्तु राय ने यह मानकर भूल की है कि भौतिकवाद ही एकमात्र सम्भव दर्शन है। एक मार्क्सवादी प्रचारक की भॉति वे भी भौतिकवाद के कट्टर समर्थक है, किन्तु यह एक अतिशयोक्ति हे कि भोतिकवाद के अतिरिक्त अन्य कोई दर्शन सम्भव ही नहीं है। आधुनिक युग मे ही दर्शन के अनेक सम्प्रदाय है, जैसे अवयवी सम्प्रदाय,[1] तटस्थतावाद और अस्तित्ववाद। सभी अभौतिकवादी सम्प्रदायो को गलत मानने अथवा उन्हे धार्मिक पुनरूत्थान की अभिव्यक्ति बतलाने से सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण मे कोई सहायता नहीं मिलती। ज्ञान असीम है, अत कोई एक सिद्धान्त अन्तिम नही माना जा सकता।

राय ने नवीन मानववाद के नाम पर सुखवाद की नींव को मजबूत करने का प्रयत्न किया है। एक भौतिकवादी होने के नाते वे जीवन को ही साध्य मूल्य मानते हैं। जीवन का एकमात्र उद्देश्य

जीवित रहना है , और जीवित रहने का अर्थ है उन सब इच्छाओ की पूर्ति के लिए शक्ति और साधन प्राप्त करना जो स्वभावत मनुष्य के मन मे उत्पन्न होती है। इस प्रकार राय बैथमवादी है और उन्होने आत्मत्याग तथा सरलता के आदर्शो मे विश्वास करने वाले भारतवासियो को यह उपदेश दिया हे कि इच्छाओ की पूर्ति से उत्पन्न होने वाला आनन्द ही जीवन मे सब कुछ है। किन्तु इतिहास बहुत आगे बढ चुका है। अब इस युग मे सुखवाद के इस सिद्धान्त का कि 'इच्छाओ की पूर्ति ही जीवन का आत्म-साक्षात्कार है उपदेश देने के लिए किसी सिद्धान्त को गढने का कोई औचित्य नही हे।[1] प्राचीन भारतीय सस्कृति के मुख्य प्रवर्तको की धारणा थी कि शारीरिक इच्छाओ और आवश्यकताओ की पूर्ति जीवन के आत्म-साक्षात्मकार का मार्ग नही है उसके लिए तो वासनाओ मनोवेगो और आवश्यकताओ का दमन करने की जरूरत है। राय ने वेदान्त की उस प्रमुख परम्परा का विरोध किया है जो इच्छाओ को जीतने का उपदेश देती है। उन्होने इस परम्परा को ब्राह्मणो का कट्टरपथी पुरोहितवाद बताया हे। इस दृष्टि से राय को भौतिकवादी ब्रह्माण्डविद्या और यान्त्रिक पद्धति का प्रवक्ता कहा जा सकता हे।

वे एक मार्क्सवादी की तरह कहते है कि त्याग, आत्मसयम, तथा दरिद्रता आदि को पुण्यमूलक मानने के जो आदर्श रहे है वे उस प्राक्-पूँजीवादी अर्थतन्त्र की वैचारिक अभिव्यक्ति है जिसके अन्तर्गत जीवन-निर्वाह की वस्तुओ का प्राय अभाव रहा करता था।[2] राय का यह कथन कोरा मार्क्सवादी प्रचार है। आत्मसयम विवेकपूर्ण जीवन का सार है, सामाजिक व्यवस्था से उसका कोई सम्बन्ध नही है वह समाजवादी हो, चाहे साम्यवादी अथवा फासीवादी। आत्मत्याग नैतिक तथा सामाजिक उदारता का तात्विक लक्षण है। मार्क्सवादी सिद्धान्तो मे पूर्णतया निमग्न होने के कारण राय भारतीय सस्कृति की कोई मौलिक समाजशास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत न कर सके। कभी-कभी मार्क्सवाद के प्रभाव के कारण वे अपने को दूसरो से श्रेष्ठ मान बैठते थे, यद्यपि उनकी इस मान्यता का कोई आधार नही था। उदाहरण के लिए उन्होने गान्धीवाद को 'मध्ययुगीनता' तथा गान्धीवादी

---

1 एम० एन० राय *The Problem of Freed*

जीवन-प्रणाली को आदिम बताया और उसकी भर्त्सना की। यह इस बात का द्योतक है कि उन्होने उस आग्ल-भारतीय मनोवृत्ति को पूर्णत आत्मसात् कर लिया था जिसके अनुसार भारतीय सस्कृति ब्राह्मणो के प्रभुत्व का पर्यायवाची थी और ऐसी प्रवृत्तियो का प्रतिनिधित्व करती थी जो आर्थिक पतन की द्योतक थी। राय पन्द्रह वर्ष (1915-1930) तक भारत से निर्वासित रहे थे। अगले छह वर्ष उन्होने जेल मे बिताये। इसलिए वे जो कुछ हिन्दू अथवा भारतीय था इसके स्वच्छन्द आलोचक बन गये। किन्तु उनकी आलोचना प्राय निर्धारित होती थी, साम्यवादी विश्वराज्यवादी होने के नाते वे राष्ट्रवाद को एक पुराना और फूट डालने वाला पथ मानते थे।[1] वे अपने को आधुनिक मानते-समझते थे और इसलिए वे भारतीय सस्कृति तथा गान्धीवाद के विरुद्ध जहर उगला करते थे।[2] भौतिकवादी होने के नाते वे धर्म तथा आध्यात्मिक दर्शन को बेसिरपैर का अज्ञान मानते और उसकी भर्त्सना किया करते थे। मानवेन्द्रनाथ राय एक ऐसे बुद्धिवादी थे जो भारतीय समाज मे अपनी जडे न जमा सके। इस काम मे उन्हे जितनी ही अधिक असफलता मिली उतनी ही उनकी आलोचना अधिक उग्र और क्रोधपूर्ण होती गयी। यही उनके सम्बन्ध मे सबसे अधिक दुख की बात थी। उनकी आलोचना का रूप सदैव ध्वसात्मक बना रहा।[3]

राय की रचनाओ मे प्राय दो बातो का मिश्रण देखने को मिलता है, उनका विविध पाडित्य ओर उनसे भिन्न विचारधाराओ और दृष्टिकोणो का समर्थन करने वालो के विरुद्ध कटु व्यग्य। अपनी पुस्तक 'वैज्ञानिक राजनीति' मे वे लिखते है, "क्रान्तिकारी राजनीति को वैज्ञानिक दर्शन से प्रेरणा लेनी चाहिए। उस प्रेरणा के बिना राजनीति जनोत्तेजको, छलियो और चाकरी ढूँढने वालो का

---

1 एम० एन० राय लिखते है कि सास्कृतिक राष्ट्रवाद का नारा राष्ट्रवाद की जातीय (नस्लगत) जडो को मजबूत करता है और प्रचलित सामाजिक असमानताओ को छिपाने का प्रयत्न करता है। (एम० एन० राय *The Problem of Freedom*, पृ० 113)

2 एम० एन० राय ने महात्मा गाधी को राजनीतिक धर्म सघ का पोष बताया और इस रूप में उनकी आलोचना की। उनका कहना था कि जनता के मानस पर उनका आधिपत्य जनता के अज्ञान आध्यात्मिक पिछडापन तथा सास्कृतिक पतन के कारण था। (एम० एन० राय *The Political Church, The Problem of Freedom* पृ 124-30)।

अखाडा बन जाती हे। राजनीति का आध्यात्मीकरण नही किया जा सकता। आध्यात्मिक अथवा नैतिक राजनीति प्राय ठगो ओर धूर्तो का आश्रय हुआ करती है। हमे स्वय इसका अनुभव है।"[1] कटुक्तियो की इस सूची से निश्चय ही उनके हृदय का उत्साह प्रकट होता है, किन्तु इससे यह भी स्पष्ट है कि राजनीति क नेतिक आधारो के महत्व को न स्वीकार करना भी भारी भूल है। सिसेरो सिनेका तथा ईसा मसीह इस आदर्श के प्रतिपादक थे कि राजनीति का आधार नैतिक होना चाहिए, मानव चिन्तन के विकास मे उनका योगदान नगण्य नही है।

मानवेन्द्रनाथ राय का यह निष्कर्ष भी गलत था कि राष्ट्रवाद एक पुराना और सडा-गला आदर्श है। उनकी भावना थी कि द्वितीय विश्व-युद्ध ने राष्ट्रवाद के गम्भीर अन्तर्विरोधो को प्रकट कर दिया था। उनका कहना था कि राष्ट्रवाद के उन्माद ने भारत को स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए मित्र राष्ट्रो का पक्ष लेने से रोक दिया था इसलिए वे राष्ट्रवाद को विचारशून्य भावुकता के समतुल्य मानते थ। राय के दृष्टिकोण तथा चिन्तन दिशा का निर्माण अहकारपूर्ण साम्यवादी बुद्धिवाद द्वारा हुआ था। उनकी कठिनाई यह थी कि वे एक मूल-विहीन बुद्धिवादी थे और इसलिए वे भारतीय राष्ट्रवाद की गहरी दबी हुई भावनाओ को पहचानने मे असफल रहे। उन्होने राष्ट्रवाद के आदर्श पर भी प्रहार किया। क्रोध के उन्माद मे उन्होने महात्मा गान्धी तथा भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस की विचारधारा की तुलना फासीवाद से की और ब्रिटिश सरकार से अनुरोध किया कि इस फासीवाद का उन्मूलन कर दे। ब्रिटिश सरकार ने 1942 के आन्दोलन को कुचलने के जो बर्बर प्रयत्न किये उन्हे राय 'भारत के अन्दर चल रहे फासीवाद-विरोधी सघर्ष का एक अभिन्न अग मानते थे।[2]

राय का यह दृष्टिकोण सही है कि पन्द्रहवी शताब्दी के यूरोपीय पुनर्जागरण मे महत्वपूर्ण मानववादी ओर सार्वभौमी (विश्वैकतावादी) तत्व थे। मानववाद और विश्वैकतावाद पुनर्जागरण की सस्कृति के दो परस्पर सम्बद्ध तत्व थे।"[3] किन्तु राय ने अपने दृष्टिकोण की पुष्टि करने के लिए न

---

1 एम० एन० राय, *Scientific Politics*, पृ० 51-52

2 वही प० 67

तो काई तर्क दिया है और न ही कोई उद्धरण दिया है। यह सर्वविदित है कि मानव स्वभाव के सम्बन्ध मे मैकियावेली की धारणा अत्यधिक विकृत और निराशावादी थी। फिर भी राय ने उमग मे आकर उसे मानववादी ओर विश्वेकतावादी मान लिया है। निश्चय ही राय का यह मत आश्चर्य मे डालने वाला है।

राय का यह दृष्टिकोण भी गलत है कि मार्क्स ने हेगेल से समाज की अवयवी धारणा ग्रहण की थी।[1] हेगेल ने समाज के एक अवयवी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। किन्तु यद्यपि मार्क्स ने मनुष्य के सृजनात्मक व्यक्तित्व की धारणा का उस अर्थ मे खण्डन किया है जिस अर्थ मे हर्डर और और फ्यूअरबाख ने उसका प्रतिपादन किया था फिर भी वह समाज के अवयवी सिद्धान्त का समर्थन नही करता। मार्क्स ने एक व्यापक सामाजिक सघर्ष का सिद्धान्त प्रतिपादित किया और बताया कि सामाजिक विकास मे शोषको तथा शोषितो के बीच सघर्ष ही प्रधान है। उसका यह मत अवयवी सिद्धान्त का प्रत्यक्ष निषेध है। समाज की अवयवी धारणा मे विश्वास करने वालो को या तो यह स्वीकार करना पडेगा कि मनुष्यो के बीच हितो का साम्य होता है या फिर यह मानना पडेगा कि समाज मे जैविक अथवा नैतिक अविच्छिन्नता विद्यमान रहती है। मार्क्स इनमे से किसी भी अर्थ मे समाज के अवयवी सिद्धान्त का समर्थक नही कहा जा सकता।

(ब) प्रो० देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय (1918-????)

प्रो० देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय एम० ए०, डीलिट्, आधुनिक भारतीय भौतिकवादी एव मार्क्सवादी दार्शनिक है। इनकी दार्शनिक ख्याति 1959 मे० प्रकाशित प्रसिद्ध पुस्तक "LOKAYAT A STUDY OF ANCIENT INDIAN MATERIALISM" से हुई। इसके अतिरिक्त इनकी प्रसिद्ध कृतियॉ है—"भारतीय दर्शन-सरल परिचय", 'भारतीय दर्शन मे क्या जीवन्त है और क्या मृत', तथा "INDIAN ATHEISM"। इन्होने लोकायत का अध्ययन भौतिकवादी दृष्टि से और विशेष कर भौतिकवादी धरातल पर आरूढ मार्क्सवादी दृष्टिकोण से किया है। इन्होने अपने निष्कर्षो को सन्दर्भो,

उद्धरणो और युक्तियो के माध्यम से परिपुष्ट करने का सार्थक प्रयास किया है। इन्होने लोकायत का अध्ययन सिर्फ वेचारिक स्तर पर ही नही बल्कि सामाजिक स्तरो से जोडकर भी प्रस्तुत किया है।

लोकायत के अर्थ की व्याख्या करते हुए देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने इस रोचक तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट कराया है कि प्राचीन भारत मे 'साधारण जन-दर्शन और भौतिकवाद' (Materialism) के लिए दो अलग-अलग शब्दो का नही बल्कि एक ही शब्द 'लोकायत' प्रयोग किया गया हे। प्राय यह दावा किया जाता है कि भारतीय दार्शनिक-परम्परा, प्रत्ययवादिता और आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत है। प्रो० चट्टोपाध्याय के अनुसार इस कथन को तभी सत्य माना जा सकता है जब हम उस दार्शनिक विचारधारा की उपेक्षा करे जिसे सामान्य भारतीय लोगो का परम्परागत दर्शन कहा गया है लोकायत का एक अन्य अर्थ भी है-'लोकेषु आयत लोकायत' अर्थात लोगो का दर्शन। इसके अतिरिक्त भी लोकायत का अर्थ है-इहलोकवादी दर्शन या भौतिकवादी दर्शन। लोकायत ही चार्वाक या वार्हस्पत्य दर्शन भी कहा जाता है।[1]

माध्वाचार्य ने सर्वदर्शन सग्रह' मे लोकायत के ज्ञानमीमासा, तत्वमीमासा और नीतिशास्त्र की व्याख्या किया है जिसको प्राय सभी आधुनिक भारतीय दर्शनविदो ने लोकायत के पुनर्निमाणार्थ अपनाया है। माध्वाचार्य के अनुसार लोकायतो ने इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के अतिरिक्त ज्ञान प्राप्ति के किसी भी अन्य साधन की बैधता को अस्वीकार किया है। इसी आधार पर लोकायतो ने ऐसी सभी सत्ताओ के अस्तित्व को नकारा है जिसका इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से ज्ञान नही होता है। इनकी मान्यतानुसार ईश्वर, आत्मा या मृत्यु के बाद जीवन , का अस्तित्व नही है। इसी कारण इन्होने धार्मिक और नैतिक-मूल्यो को नकार दिया है और मात्र इन्द्रिय-सुखोपभोग को महत्व दिया है। देवीप्रसाद के अनुसार लोकायत की यह व्याख्या चाहे माध्वाचार्य की कल्पना की ऊपज हो या न हो लेकिन यह अस्पष्टता से मुक्त है और इसमे अद्‌भुत अन्त सामन्जस्य है। लोकायत की व्याख्या के लिए इसे आधार बनाकर आगे बढने पर ऐसा प्रतीत होता है कि हम ठोस धरातल पर चल रहें है।

चट्टोपाध्याय देवी प्रसाद भारतीय दर्शन मे क्या जीवन्त है और क्या मृत है। नई दिल्ली पीपुल्स पब्लिसिग हाउस-

देवीप्रसाद न राधाकृष्णन द्वारा की गयी लोकायत की व्याख्या का उल्लेख किया है। राधाकृष्णन् के अनुसार लोकायत दर्शन का सार-सक्षेपण 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक नाटक के एक पात्र द्वारा अभिव्यक्त किया गया हे। देवीप्रसाद के अनुसार ऐसा यह कहने के बराबर है कि सुकरात के विचारो या व्यक्तित्व के मूलतत्व की जानकारी 'अरिस्टोफेन्स' के माध्यम से मिल सकती है। कृष्ण मिश्र ने प्रबोधचन्द्रोदय की रचना बौद्ध जैन, चार्वाक और कापालिक मत का उपहास और खण्डन करने के लिए किया था। देवीप्रसाद मानते है कि राधाकृष्णन् जैसे आधुनिक विद्वानो की भौतिकवाद के मूलतत्व ओर उसके व्यगचित्र के बीच भेद करने मे कोई रूचि नहीं है। अतएव उन्हे लोकायत की माधव कृत व्याख्या सतोषप्रद लगती है। देवीप्रसाद के अनुसार इन दो आकर्षणो के बावजूद हम लोकायत की व्याख्या की इस परम्परागत पद्धति पर सदेह करने के लिए बाध्य हो जाते है क्योकि इस पद्धति का अनुकरण करके आधुनिक लेखक लोकायत के बारे मे परस्पर विरोधी निष्कर्षो पर पहुँचते है।

देवीप्रसाद के अनुसार राधाकृष्णन् दासगुप्त और दक्षिणरजन शास्त्री सहित अधिकाश आधुनिक विद्वानो ने लोकायत की पुनर्रचनार्थ माध्वाचार्य के 'सर्वदर्शन सग्रह' को आधार बनाया। राधाकृष्णन् ने माधव के अतिरिक्त 'प्रबोधचन्द्रोदय' और 'सर्वसिद्धान्त सग्रह' की सहायत लिया है। ये सभी रचनाए वेदान्ती प्रत्ययवाद के दृष्टिकोण से लिखी गयी है। रीज डेविड्स ने माध्वाचार्य की प्रामाणिकता पर सदेह किया हे। रीज डेविड्स के अनुसार प्राचीन बौद्ध साहित्य मे लोकायत के बारे मे कई सदर्भ है जिनका माधव द्वारा किए गए वर्जन से कोई मेल नही है। इस आधार यह निष्कर्ष निकला कि लोकायत का दार्शनिक विचारधारा के रूप मे कोई अस्तित्व ही नहीं था। देवीप्रसाद के अनुसार रीज डेविड्स का यह निष्कर्ष माधव के वर्णन को अत्यधिक महत्व देने का परिणाम था। देवीप्रसाद के विचारानुसार यदि रीज डेविड्स ने अपने को माधवाचार्य के प्रभाव से मुक्त किया होता ओर बोद्ध स्रोतो द्वारा लोकायत के बारे मे प्राप्त जानकारी को पर्याप्त महत्व देते हुए उसे जैन और अन्य स्रोतो से प्राप्त जानकारी के साथ जोडने का प्रयास किया होता तो वे प्राचीन लोकायत की पुनर्रचना का एक नवीन तरीका ढूँढ सकते थे, लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। इस प्रकार माधवाचार्य पर सदेह करने वाले रीज डेविड्स अन्तत माधवाचार्य पर ही निर्भर रहे।[1]

6 3 लोकायत की ज्ञानमीमासा

प्राय यह माना जाता रहा हे कि लोकायत ने अनुमान की वैधता को अस्वीकार किया है। अनुमान के लिए व्याप्ति-राम्बन्ध की रथापना आवश्यक है लेकिन व्याप्ति-सम्बन्ध की स्थापना न तो प्रत्यक्ष न अनुमान और नही शब्द के आधार पर की जा सकती है। इसलिए, अनुमान की वैधता को स्वीकार नही किया जा सकता हे।

देवीप्रसाद के अनुसार ज्ञानमीमासा को इस तरह प्रस्तुत किए जाने पर उसका खण्डन आसान हो जाता हे। सभी युक्तियो का आधार व्याप्ति-सम्बन्ध है। व्याप्ति को अस्वीकार करने का अर्थ है- सभी युक्तियो को अस्वीकार करना। लेकिन, अपने विचारो का समर्थन करने के लिए स्वय लोकायतियो द्वारा भी युक्तियो का सहारा लेना आवश्यक था। इसलिए यह कहा जा सकता है कि उनके विचारो मे आत्मविरोध हे। इतना ही नही एक बार अनुमान को अस्वीकार करने पर व्यावहारिक जीवन भी असम्भव हो जायेगा। देवीप्रसाद के अनुसार परिस्थितिक साक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लोकायत ज्ञानमीमासा के बारे मे माधवाचार्य द्वारा दी गयी जानकारी अधिकाशत काल्पनिक हे।

देवीप्रसाद की मान्यता है कि लोकायतियो का युक्तियो के प्रति पूर्णतया नकारात्मक दृष्टिकोण नही था बल्कि सभवत वे भारत के सबसे प्राचीन तर्कशास्त्री थे। देवीप्रसाद के अनुसार यह मान लेना सर्वधा अनुचित है कि लोकायतियो ने युक्तियो का प्रयोग केवल दूसरे मतो के खण्डनार्थ किया है। ऐसा इसलिए मालूम होता है क्योकि लोकायत की जानकारी उनके विरोधियो की रचनाओ से मिलती हे जिनकी रूचि लोकायतियो द्वारा की गयी उनके सिद्धान्तो की आलोचना का उत्तर देना होता था। देवीप्रसाद इस सदर्भ मे शुक्रनीतिसार' के इस कथन की याद दिलाते है, जिसमे कहा गया है कि नास्तिक तार्किक मामलो मे बडे तेज थे और ईश्वर के अस्तित्व और वेदो की निन्दा करते थे। इसी तरह कोटिल्य ने अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्र' मे साख्य योग और लोकायत दर्शन का सम्बन्ध आन्वीक्षिकी' से जोडा है। आन्वीक्षिकी' तर्कशास्त्र के लिए प्रयुक्त प्राचीन भारतीय शब्द है। मनु ने भी 'हेतुशास्त्र और हेतुको का उल्लेख किया है। डॉ० दासगुप्त के अनुसार सभवत ये

हेतुक और कोई नहीं लोकायत ही हे क्योकि इन्हे नास्तिक भी बतलाया गया है। मनु के अनुसार इन हेतुको से बात भी नहीं करना चाहिए क्योकि ये परलोक, यज्ञ और वेदो की प्रामाणिकता का खण्डन करते थे।

डॉ० दासगुप्त ने वेदिक बोद्ध और जैन स्रोतो मे उपलब्ध लोकायत दर्शन से सम्बद्ध लगभग समस्त सदर्भो को एक स्थान पर इकट्ठा किया है जिससे अध्ययनार्थ सुविधा हो गयी है। दासगुप्ता ने पुरन्दर (7वी सदी) नामक एक लोकायतिक का उल्लेख किया है। पुरन्दर के अनुसार चार्वाक दर्शन के समर्थको ने इन्द्रियानुभविक जगत् के सदर्भ मे अनुमान की उपयोगिता को स्वीकार किया है। उन्होने सिर्फ तथाकथित अनुभवातीत जगत् मृत्यु के बाद जीवन और कर्मवाद जैसे सिद्धान्तो के सदर्भ मे जिनका इन्द्रियानुभव नही होता, अनुमान की उपयोगिता को नकारा है। उन्होने ऐसा इसलिए किया क्योकि आगमन के जरिए सामान्य नियमो की स्थापना अन्वय और व्यतिरेक सम्बन्धो के प्रत्यक्ष के आधार पर की जाती हे जबकि आनुभविक जगत्' के बारे मे अन्वय और व्यतिरेक सम्बन्धो का प्रत्यक्ष सम्भव ही नही हे।

देवीप्रसाद की राय मे माधवाचार्य से प्राप्त लोकायत ज्ञानमीमासा सम्बन्धी जानकारी सही नही है। माधवाचार्य ने लोकायत के तत्वमीमासा और नीतिशास्त्र को भी लोकायत के ज्ञानमीमासा पर आधारित किया हे इसलिए उसे भी प्रामाणिक स्वीकार नही किया जा सकता है।

6 4 लोकायत नीतिशास्त्र

माधवाचार्य ने लोकायत दर्शन के अन्तर्गत इन्द्रिय-सुखोपभोग को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य माना है। दुख के भय से हमे स्वाभाविक रूप से पसन्द आने वाले सुख का त्याग नहीं करना चाहिए। देवीप्रसाद के अनुसार लोकायत नीतिशास्त्र को इस रूप मे पेश करना, उसे विकृत करना हे। अगर वह इतना सतही हुआ होता तो वह न तो इतना लोकप्रिय हो पाता और न हीं भारतीय दर्शन की अन्य शाखाएँ उसे इतनी गम्भीरता से लेती। बौद्ध-स्रोतो और महाभारत के अनुसार लोकायत दर्शन का ज्ञान ब्राह्मणो के लिए एक विशेषता और उपलब्धि मानी जाती थी। अतएव देवीप्रसाद के अनुसार लोकायत नीतिशास्त्र वैसा नहीं था जैसा कि माधवाचार्य ने उद्घाटित और उद्बोधित किया है।

दवीप्रसाद लोकायत नीतिशास्त्र को लेकर अनावश्यक रूप से अत्यधिक सुरक्षात्मक मुद्रा मे मालूम देते है। अगर हम **ऋण लेकर घी पीने'** जैसी बातो को छोड दे जो सम्भवत लोकायत के विराधियो की व्यगोक्ति हे तो लोकायत को प्राचीन ग्रीक दार्शनिको एरिस्टिपस और एपिक्यूरस के समकक्ष रखा जा सकता है। नि सन्देह जिस रूप मे आज लोकायत की जानकारी मिल रही है, उस रूप मे लोकायत नीतिशास्त्र भी इन प्राचीन ग्रीक दार्शनिको की तरह, स्वार्थवादी है। फिर भी, लोकायत को मोक्ष ओर स्वर्ग जेसे काल्पनिक नैतिक आदर्शो को अस्वीकार करने, और इस मौलिक नैतिक सिद्धान्त की ओर ध्यान दिलाने का श्रेय मिलना ही चाहिए कि सुख मानव के लिए अपने आप मे मूल्यवान वस्तु है। लोकायत नीतिशास्त्र मे उपयोगितावाद के बीज है, लेकिन अफसोस कि भारत मे यह धारा अवरुद्ध हो गयी और पश्चिमी दर्शन की तरह उपयोगितावाद के रूप मे पुष्पित और विकसित नही हो सकी।

ऐसा लगता हे कि देवीप्रसाद स्वय भी अपनी पुस्तक 'लोकायत' की युक्तियो और निष्कर्षो से पूरी तहर सतुष्ट नही थे। जेसाकि उन्होने 1973 मे अपनी पुस्तक के तीसरे सस्करण की प्रस्तावना मे लिखा हे उन्हे इस पुस्तक मे कई सशोधनो की आवश्यकता महसूस हुई, लेकिन उनके अनुसार इस कार्य को दूसरी नयी पुस्तक मे ही बेहतर तरीके से कर पाना सम्भव था। इसलिए उन्होने इस कार्य को अपनी पुस्तक **'भारतीय दर्शन मे क्या जीवत है और क्या मृत'** मे किया है जिसे हम उनकी अधिक परिपक्व रचना मान सकते है।

6 5 लोकायत तत्वमीमासा

दवीप्रसाद माधवाचार्य के विपरीत मानते है कि लोकायत का बुनियादी सिद्धात देहवाद था। देहवाद के अनुसार शरीर से पृथक् आत्मा का कोई अस्तित्व नही है। यह सम्भव है कि प्राचीन प्रारभिक तत्र का देहवाद और लोकायतियो का देहवाद एक ही हो। तात्रिको के देहवाद के अनुसार मानव-शरीर एक सूक्ष्मतम ब्रह्माण्ड है। देवीप्रसाद के विचारानुसार लोकायत सृष्टिमीमासा के विश्लेषण से भी लोकायत और तत्र के बीच समानता का पता चलता है। इस सदर्भ मे देवीप्रसाद की युक्तियो के निम्न प्रमुख सोपान है।-

(1) लोकायत उस अर्थ मे सशयवादी और भौतिकवादी दर्शन नही था जिस अर्थ मे अब इन शब्दो का प्रयोग होता है।

(2) सभवत लोकायत' शब्द का प्रयोग उन लोकप्रिय सम्प्रदायो के लिए किया जाता था जो ब्राह्मणवादी कर्मकाण्ड को अस्वीकार करते थे लेकिन जिनके अपने इहलोकिक कर्मकाण्ड और अनुष्ठान थे।

(3) ब्राह्मण सरकृति के अनुयायी लोकायत को असुर-मत' कहते थे। अत ब्राह्मण स्रोतो मे दिए गए असुर-मत के विश्लेषण से प्रारम्भिक लोकायत के बारे मे भी जानकारी मिल सकती है।

(4) असुर-मत की दो मुख्य विशेषताएँ थी। देहवाद और एक खास किस्म की सृष्टि मीमासा जिसके अनुसार पुरुष ओर स्त्री के सयोग से ही विश्व की उत्पत्ति हुई है और इसका कारण काम के सिवा ओर कुछ नही है। इन दोनो से यह सकेत मिलता है कि सम्भवत प्रारम्भिक तन्त्र और लोकायत एक ही है क्योकि एक ओर दोनो का देहवाद और दूसरी ओर दोनो की सृष्टि मीमासा एक ही हे।

देवीप्रसाद के अनुसार इसमे कोई सन्देह नहीं कि लोकायतिक श्रुति और स्मृति की प्रामाणिकता को अस्वीकार करते थे ब्राह्मणो के कर्मकाण्ड और परलोक या स्वर्ग का मजाक उडाते थे। इस बारे मे लोकायत दर्शन के लगभग सभी स्रोत एकमत है। लेकिन इसका यह अनिवार्य अर्थ नही हे कि वे अनुष्ठानो ओर कर्म काण्डो के विरुद्ध थे। सम्भव है कि उनके अपने अनुष्ठान थे जिनका ब्राह्मण अनुष्ठानो से सघर्ष था। फिर भी, लोकायतिक इस अर्थ मे भौतिकवादी जरुर थे कि वह भोतिक शरीर और भौतिक विश्व के अस्तित्व को स्वीकार करते थे, और उनके अनुष्ठानो का परलोक से कोई सम्बन्ध नही था।[1]

देवीप्रसाद की पुस्तक 'भारतीय दर्शन मे क्या जीवत है और क्या मृत' (मूल सस्करण, 'What is Living and What is Dead in Indian Philosophy') 1984 मे प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक मे

---

1 *Chattopadhyay D P 'Lokayat' People Publishing House New Delhi, 1981 P-1-4*

देवीप्रसाद ने भारत की वर्त्तमान अपेक्षाओ को देखते हुए भारत की दार्शनिक परम्परा एव मूल्यो पर प्रकाश डाला' है। देवीप्रसाद के अनुसार ये अपेक्षाएँ है धर्मनिरपेक्षता, बुद्धिवाद और विज्ञान की ओर उन्मुखता।

परम्परागत भारतीय दर्शन के सामान्य भडार मे इनका विरोध करने वाली धारणाओ और अभिवृत्तियो का देवीप्रसाद ने अतीतकाल का 'अचल भार" माना है, 'जो हमारी वर्त्तमान प्रगति को कुठित करना चाहती है'। दूसरी ओर, उन्होने उसी सामान्य भडार मे कम-से-कम धर्मनिरपेक्षता बुद्धिवाद ओर विज्ञान उन्मुखता की सम्भावना वाली धारणाओ और अभिवृत्तियो का विश्लेषण किया है, जिनका हमारे लिए जीवत महत्व है"। हालाकि देवीप्रसाद की राय मे समकालीन ज्ञान और अनुभव के साथ समृद्ध होते हुए ही हम उन्हे सच्चे अर्थ मे उत्तराधिकार के रूप मे ग्रहण कर सकते है।

देवीप्रसाद के शब्दो मे हमारे पूर्वजो ने अपनी सत्य-सम्बन्धी लम्बी खोज के दौरान-हमे वसीयत के रूप मे केवल भ्रातियॉ और मिथ्या धाराणाए ही प्रदान नही की है। हो सकता है कि हमारे कुछ दर्शनवेत्ताओ ने रूढिवाद अविवेक और शास्त्रों की दुहाई देते हुए जातीय घृणा का समर्थन किया हो, लेकिन ऐसे अन्य दर्शनवेत्ता थे, जिन्होने इतिहास की अनिवार्य सीमाओ के बावजूद उन्ही विचारधारात्मक ताकतो के विरुद्ध अपने ढग से सघर्ष किया। यदि उनके योगदान को बडा-चढा कर प्रस्तुत करना ठीक नही होगा, तो उन्हे कम महत्व देने की प्रवृत्ति भी एक भूल होगी-और इससे भी बुरी बात यह कि वर्तमान सदर्भ मे, यह एक खतरनाक गलती होगी। आज हम जिस प्रश्न को ले कर सघर्ष कर रहे है, उसी प्रश्न पर अपने सघर्ष के क्रम से हमारे कुछ परम्परावादी दर्शनवेत्ता हमारे लिए कुछ मूल्यवान सुझाव छोड गए, जिन्हे हम अपने सपूर्ण राष्ट्रीय गौरव के साथ आज अपना कर सकते है। भारत के दार्शनिक परम्परा-बोध का विसाम्मान्यीकरण आवश्यक है यह प्राय आवश्यक है कि दार्शनिक विचार के अन्तर्गत जो जीवत है और जो मृत है, उसके बीच हम भेद करे।"[1]

---

1 चटटोपाध्याय देवीप्रसाद भारतीय दर्शन मे क्या जीवत है और क्या मृत, नयी दिल्ली पीपुल्स पब्लिसिग हाउस 1984 पृ० 9 10

भारतीय दर्शन का मूल अन्तर्विरोध एव अन्तर्मूल्य

देवीप्रसाद के अनुसार भारतीय दर्शन का मूल अन्तर्विरोध" आदर्शवाद (प्रत्ययवाद) और उसके प्रतिपक्ष के बीच है और इस अन्तर्विरोध या सघर्ष का अनुसरण करते हुए ही हम भारतीय दर्शन को समझ सकते है। देवीप्रसाद के विचार मे महायान बौद्ध-विज्ञानवाद एव शून्यवाद- और अद्वेत वेदान्त भारतीय दर्शन मे प्रत्ययवाद का प्रतिनिधित्व करते है , जबकि साख्य, न्याय-वैशेषिक और लोकायत प्रत्ययवाद के प्रतिपक्ष का।[1]

जहॉ एक ओर प्रत्ययवाद के समर्थको ने तर्कबुद्धि और अनुभव को अस्वीकार किया और स्वतत्र चिन्तन को हतोत्साहित किया[2] वहॉ दूसरी ओर, प्रत्ययवाद के प्रतिपक्ष ने अनुभव एव विवेक की रक्षा की[3] और व्यवहार का सत्य की कसौटी माना। देवीप्रसाद के अनुसार न सिर्फ मनु ने बल्कि शकर ने भी वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया शकर के अनुसार शूद्र दार्शनिक प्रज्ञा के अधिकारी नहीं है।[4]

देवीप्रसाद स्पष्ट शब्दा मे कहते है कि अगर मनु और शकर के "उद्देश्य पूरी तरह सिद्ध हो जाते, तो स्वतत्र चिन्तन का गला घुट जाता, विज्ञान का कही कोई पता-ठिकाना न रहता और देश के लाखो मेहनतकश लोगो को सर्वदा नारकीय जीवन भोगना पडता-सक्षेप मे, विकास का मार्ग सदा के लिए अवरुद्ध हो जाता। अत समाज को आगे ले जाने के लिए देश मे कुछ ऐसे लोगो की आवश्यकता थी, जो धर्मशास्त्र-प्रणेताओ और उनके सैद्धान्तिक समर्थको के अर्थात् आदर्शवादी दर्शनवेत्ताओ के आदेशो को पूर्णत ठुकरा दे। मनु और शकर के सदर्भ मे यह मिथक वेदो को ले कर था। देवीप्रसाद के मत मे भारतीय दर्शन मे स्पष्टवादी भौतिकवादी लोकायत या चार्वाक ने ही बडी दृढता से प्रत्ययवाद के विरोध का कार्य किया है।

---

1 वही पृ० 243

2 वही पृ० 179

3 वही पृ० 293

4 वही पृ० 191

देवीप्रसाद के शब्दो मे बेशक, इन भौतिकवादियो के बारे मे हमारी जानकारी अधूरी है। अनुमानत उनकी कृतियॉ नष्ट कर दी गयी है। दुर्भावनाग्रस्त होकर उनकी तुलना विकराल राक्षसो से की गयी, उनकी दार्शनिक स्थिति को इतना विकृत कर दिया गया कि उसे पहचान पाना कठिन हो गया और उनकी युक्ति-पद्धति को सहज रूप मे चित्रित किया गया। भारतीय दर्शन मे लोकायत अथवा चार्वाक नाम राक्षसत्व अभद्रता नास्तिकता और पाप का प्रतीक मान लिया गया। फिर भी कुछ धर्मनिष्ठ आदर्शवादियो ने यह चित्रित करने के लिए कि ये भौतिकवादी कितने विधर्मी और घृणास्पद है इन भौतिकवादियो के कुछ पुराने प्रामाणिक और लोकप्रिय छदो को- जिन्हे हम प्रामाणिक लोकगाथा कहते है-स्वय अपनी कृतियो मे उद्धृत किया है।"[1]

लोकायत के कुछ प्रमुख ओर प्रसिद्ध छद जिनका उल्लेख देवीप्रसाद ने किया है, इस प्रकार है -"स्वर्ग और मोक्ष की बातो मे कोई सार नही। परलोक मे आत्मा के प्रवेश की बात निरर्थक है। वर्णाश्रम के लिए निर्धारित कार्यकलापो से तथाकथित फलो की प्राप्ति नही होती।" यदि कोई अपना शरीर त्याग कर परलोक चला जाता है तो अपने मित्रो और अन्य लोगो के प्रेम से बध कर क्यो नही दुबारा वापस लौट आता ?

अग्निहोत्र यज्ञ, वेदत्रय त्रिदन्ड-धारण और शरीर मे भस्म रमाना (धार्मिक कर्मकाडियो का एक उपक्रम)-ये सभी मूर्खो और नपुसको की आजीविका के साधन मात्र है। जब तक तुम्हारा जीवन है, सुखपूर्वक जिओ , कर्ज ले कर भी घृत-पान करो। एक बार जब शरीर को जला कर राख कर दिया जाता है तो फिर वह केसे वापस आ सकता है ?

इसलिए ब्राह्मणो ने मात्र अपनी जीविका के स्रोत के लिए श्राद्धकर्म की व्यवस्था की है। इससे अधिक इसमे कुछ भी नहीं।

देवीप्रसाद के अनुसार, उक्त छदो के तीखे व्यग को अनुवाद मे बरकरार रखना यद्यपि सभव नहीं, तथापि यह स्पष्ट है कि उनमे वैचारिक कपोल-कल्पना का कोई मायावी रूप प्रतिबिम्बित नहीं।

इसके विपरीत उनमे लाखो श्रमजीवियो का वर्ग-हित ध्वनित है। विशेषाधिकार प्राप्त अल्पसख्यक वर्ग के हितो की रक्षा के लिए धर्मशास्त्र प्रणेता और उनके सैद्धातिक समर्थक-अर्थात् आदर्शवादी-यदि शास्त्रो मे उल्लिखित गाथाओ की मरणोत्तर जीवन ईश्वर और यज्ञ सम्बन्धी मिथको की, जडे जमाना आवश्यक पाते हे तो लोकायत भोतिकवादी मुख्यत इस मिथको पर अपना प्रहार केन्द्रित करत हुए वस्तुनिष्ठ वर्ग की भूमिका अदा करते है। ओर यह भूमिका आदर्शवादी दर्शवेत्ताओ की भूमिका के ठीक विपरीत हे।

लोकायतो के तर्को के अवशिष्ट उद्धरणो से पता चलता है कि वे स्पष्ट भौतिकवादी के रूप मे आदर्शवाद को उसके सभी सहायक तत्वो, जैसे धर्मोन्मुखता, शास्त्रो मे आस्था और अधविश्वासो के प्राय सभी रूपो सहित अस्वीकार करते हे। देवीप्रसाद की राय मे भारतीय आदर्शवाद के विरोधियो मे एकमात्र लोकायत मत ने ही आत्मा और उसकी मुक्ति सम्बन्धी आदर्शवादी दृष्टिकोण की पूर्णत अस्वीकार किया है। "स्वर्ग का कही पता नहीं, मोक्ष नाम की कोई चीज नहीं और ऐसी कोई आत्मा नही जो परलोकगमन करती हो"-देवीप्रसाद के अनुसार भारतीय सदर्भ मे इस साधारण-सी घोषणा का महत्व मुश्किल से ही बढा-चढा कर आका जा सकता है।

मुक्ति (चरम मूल्य) सम्वन्धी बोधगम्य अवधारणा की ओर बढने की पूर्वशर्त यह है कि इससे सम्बन्धित तमाम बेतुकी बातो को रद्द किया जाए। देवीप्रसाद ध्यान दिलाते है कि लोकायत दर्शन मे जीवन से भागने के बदले उसका उपभोग करने की बात कही गयी है। लोकायत एकमात्र भारतीय दार्शनिक है जो इस बात पर जोर देते है कि "मानवप्राणी के रूप मे अपने अल्पकालिक जीवन का श्रेष्ठतम उपयोग' किया जाए। उनके अनुसार, मानवीय अस्तित्व के प्रति यह निराशामूलक दृष्टिकोण अपनाने मे कोई तुक नही कि दुख से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय जीवन का पूर्णतया निषेध करना है। आप अनाज को इस कारण छोड नहीं देते कि उस पर भूसी चढी रहती है, न ही काटो के कारण आप मछली का परित्याग कर देते हैं।

देवीप्रसाद ने लोकायत दर्शन की सीमाओ की ओर भी ध्यान दिलाया है। देवीप्रसाद के विचार मे पुरोहित वर्ग द्वारा आम लोगों के शोषण के प्रति उनके प्रबल विरोध के बावजूद, प्रचलित

सामाजिक आदर्श के विकल्प मे हमे उनसे कोई सुसगत आदर्श प्राप्त नही होता , न ही प्रचलित सामाजिक सम्बन्धो एव मूल्यो को बदलने के लिए हमे उनसे कोई कार्यक्रम प्राप्त होता है। सक्षेप मे इस बात के बावजूद कि लोकायतो ने बडी दृढता और साहस के साथ मोक्ष सम्बन्धी नकारात्मक विचार को अस्वीकार किया मोक्ष के सम्बन्ध मे वे कोई उपयुक्त और सकारात्मक विचार हमारे लिए नही छोड सके।' लेकिन देवीप्रसाद के अनुसार उनसे ऐसी अपेक्षा रखना भी ऐतिहासिक दृष्टि से उचित नही है।[1] दर्शनवेत्ताओ के चिन्तन मात्र से-भले ही वे कितने प्रतिभाशाली क्यो न हो-उस समस्या के समाधान की कैसे आशा की जा सकती थी जो अभी तक अविकसित आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियो के गर्भ मे दबी हुई थी।''

नि सदेह देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय भौतिकवादी लोकायत मत की विवेचना वैश्विक धरातल पर करते हुए उस यथार्थ का मुखोटा पहनाने का प्रयास करते है। इन्होने परम्परागत जीवत मूल्यो को ध्यान मे रखते हुए तत्कालीन प्राचीन सामाजिक अपमूल्यो व परम्पराओ के आधार पर लोकायत की विवेचना को पक्षपातपूर्ण माना है। इनके अनुसार लोकायत एक पूर्ण भौतिकवाद है जो जगत् के प्रत्यक्ष मूल्यो को स्वीकारते हुए परोक्ष मूल्यो का निषेध करता है तथापि चरम मूल्यो का इसमे कदाचित् समावेश अवश्य ही है।

---

1 वही पृ० 598

अध्याय 7

सृजनात्मक मानववाद

डा0 नन्दकिशोर देवराज

भारतीय सस्कृति साहित्य तथा दर्शन के क्षेत्रो मे चालीस से अधिक महत्वपूर्ण कृतियो के प्रणता डा० नन्द किशोर देपराज के व्यक्तित्व मे चितन तथा सवेदना की वृत्तियो का दुर्लभ मणिकाचन याग हे। डा० देवराज के नितात निजी चितन की प्रेरणा और प्रारभ मूल्य-विषयक प्रखर ऊहापोह रो हुआ , ओर उनका समस्त परवर्ती चितन मानव-मूल्यो से सबन्धित समस्या से जूझने और उसका राकारात्मक समाधान खोजने मे गठित और पल्लवित हुआ है।[1] वादो एव दृष्टियो की वर्तमान अराजक स्थिति मे जब जीवन को नैतिक-आध्यात्मिक आधार देने वाले पूर्वकालिक समस्त प्रतिमान ओर आस्थाएँ सशय-सदेह के घेरे मे आ गई है और स्थूल उपभोक्ता सस्कृति तथा मुद्रा की अध उपासना का दबाव भयानक हो रहा है, एक नयी, विज्ञान युग की विकसित समीक्षा-बुद्धि को ग्राहय जीवन-दृष्टि का सतर्क ग्रथन-प्रतिपादन हमारी ऐतिहासिक-सॉस्कृतिक आवश्यकता बन गयी है। उसकी पूर्ति की दिशा मे सृजनात्मक मानववाद एक विनम्र प्रयास है।[2]

7 1 सामान्य परिचय

सृजनात्मक या सर्जनात्मक मानववाद मे एक नये मूल्य-दर्शन की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है और उसकी चाशनी मे मानवीय अनुभूति के महत्वपूर्ण क्षेत्रो का स्वरूप एव अर्थ समझने की कोशिश की गयी हे। हमारे देश मे प्राय इतिहास और ऐतिहासिक परिवर्तन की सवेदना का अभाव-सा रहा है । आज परिवर्तन जीवन ओर परिवेश का व्यापक धर्म बन चुका है, किन्तु हम इस यथार्थ को अपनी जीवन-दृष्टि मे स्थान नही देना चाहते। नतीजतन आज भी अनेक चिन्तक और समाज के अगुवा ऐसे

---

1 डा० एन० के० देवराज दर्शन–स्वरूप समस्याए एवं जीवन–दृष्टि नेशनल पब्लिशिग हाउस 23 दरियागज, नई दिल्ली–1994 पृ० 168

2 वही मुख्य पृष्ठ का आमुख

मूल्यो ओर आदर्शों की दोहाई दत पाये जाते हे जिनका इहकालिक जीवन से दूर-दूर तक कोई सरोकार नही हे। स्थिति यह हे कि आज जहॉ हम पुराने मूल्यो को मानकर चलने मे असमर्थ है वहॉ हमारे समक्ष बुद्धिसगत ओर युगानुकूल मूल्यो और आदर्शों की कोई रूपरेखा भी नही है।[1] आज के अधिकॉश विचारक और दार्शनिक सम्प्रदाय भी जीवन-मूल्यो का युगानुरूप समीक्षा बुद्धिग्राहय नक्शा प्रस्तुत करना आवश्यक नही समझते, बल्कि जीवन मूल्यो की न्यूनाधिक उपेक्षा ही करते है। डा० एन० क० देवराज ने मानव जीवन मे मूल्यो की महत्ता पर जोर देते हुए , मूल्य अनुचिन्तन को दर्शन का एकमात्र या प्रमुख विपय निरूपित किया है।[2] उनके मतानुसार दर्शन का कार्य सास्कृतिक चेतना के विभिन्न रूपो का विश्लेषणात्मक अनुचिन्तन और उनके मूल्याकन का प्रयत्न है। दर्शन का नितान्त महत्वपूर्ण कार्य मानवीय अनुभूति और सस्कृति की गुणात्मक प्रगति को अग्रसर करना है। डा० देवराज ने अपनी दार्शनिक दृष्टि को सृजनात्मक या सर्जनात्मक मानववाद (Creative Humanism) कहा हे उसका दूसरा नाम 'गुणान्वेषी या गुणनिष्ठ मानववाद' (Qualitative Humanism) भी हा सकता हे।[2]

7 2 सृजनात्मक मानववाद की विशेषताए

सृजनात्मक (या सर्जनात्मक) मानववाद का विवेचन दो मौलिक मान्यताओ पर निर्भर है। ये दोनो मान्यताएँ सृजनात्मक मानववाद' व्यजना मे समावेशित है। मानववाद शब्द का प्रयोग प्रारम्भ से ही अलग-अलग अर्थो मे होता रहा है। उसके निम्न अर्थ प्रचलित रहे है , धार्मिकता का अभाव और मध्ययुगीन मनोवृत्ति का विरोध , यूनानी जीवन-दृष्टि (Paganism) और इन्द्रियो तथा इन्द्रियजन्य सुखो के महत्व की घोषणा , इहलोकवाद, बुद्धिवाद और व्यक्तिवाद , मानविकी मे अन्तर्भूत विद्याओ से

---

१ डा० एन० के० दवराज सस्कृति का दार्शनिक विवेचन प्रस्तावना हिन्दी समिति, सूचना विभाग उ० प्र० शासन लखनऊ पृष्ठ 7

2 वही पृष्ठ 10

२ वही पृष्ठ 10

(अर्थात साहित्य दर्शन और अध्यात्म) सम्बन्धित क्लासिक्स' के, अध्ययन मे अभिरूचि , मानव जीवन और अनुभूति के महत्व मे आस्था इत्यादि।[1] प्रो० एडवर्ड चेने के अनुसार सोलहवी सदी के बाद स मानववाद से अभिप्राय उस दर्शन से रहा है जिसका केन्द्र और प्रमाण दोनो मनुष्य ही है।[2]

प्रो० चेने ने मानववाद का जो वर्णन किया है वह आकर्षक होते हुए भी वैसे ही अस्पष्ट है जेसे कि सोफिस्ट विचारक प्रोटोगोरस की यह उक्ति कि मनुष्य ही सभी चीजो का मापदड है। यहॉ जिस मानववाद का प्रतिपादन किया गया है उसे दूसरी दृष्टि से 'गुणात्मक मानववाद' (Qualitative Humanism) भी कहा जा सकता है। स्पष्ट ही यह दार्शनिक दृष्टि ज्ञानवान एव विवेकी पुरूष और मूर्ख सामान्य मनुष्य और असामान्य (Abnormal) अथवा अवसामान्य (Subnormal) व्यक्ति को समान रूप से मानववादी दर्शन का प्रमाण नही मानती। गुणात्मक मानववाद श्री केन ब्रिटन के उद्दाम उल्लास-मूलक मानववाद (Exuberant Humanism) से भी भिन्न है, क्योकि वह जीवन की गुणात्मक विशेपता पर अत्यधिक गौरव देता है।[3] सृजनात्मक मानववाद एक मानव केन्द्रित दर्शन है जिसके अनुसार मनुष्य की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उसकी सृजनशीलता है। यहॉ मानव-केन्द्रित व्यजना के दो अभिप्राय है। प्रथमत यह कि दार्शनिक चितन का वास्तविक विषय स्वय मनुष्य है अर्थात् वह मनुष्य जो मूल्यो का वाहक और स्रष्टा है। कवि पोप ने ठीक ही कहा है, मानव जाति के अध्ययन का उचित विषय मनुष्य है इस मान्यता को गौरव देने के लिये डा० देवराज के अनुसार दर्शन सास्कृतिक अनुभव के विश्लेषण व्याख्या और मूल्याकन का प्रयत्न है।[4] दूसरे, मानव केन्द्रित व्यजना का अभिप्राय यह है कि इस जीवन-दृष्टि मे परलोक और पारलौकिक शक्तियो के लिए स्थान नही है। यहॉ मनुष्य से ऊँची किसी सत्ता मे विश्वास नही किया जाता। 'सृजनात्मक मानववाद' प्रकृतिवाद अथवा भौतिकवाद से भी भिन्न है क्योकि यह मनुष्य का अध्ययन उसे प्रकृति का अग मानकर नहीं

---

1 वही पृष्ठ 10

2 एनसाइक्लोपीडिया ऑफ द सोशल साइन्सेज भाग सात–आठ, पृष्ठ 541

3 डा० दवराज एन० के० सस्कृति का दार्शनिक विवेचन पृष्ठ–11

4 उपरोक्त पृष्ठ 11

करता। यह मान्यता मानवीय जीवन और अनुभूति के प्रति भौतिकवादी दृष्टिकोण समीचीन नही मानती।

सृजनात्मक मानववाद अलौकिक अथवा अतिमानव वास्तविकताओ अर्थात् ईश्वर, ब्रह्म जैसे पदार्थो की सत्ता मे विश्वास नही रखता। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि सृजनात्मक मानववाद धर्म विरोधी है।[1] इस मत मे धर्म या अध्यात्म की स्थिति मानवीय अनुभव मे ही मानी गयी है।

तीसरे मानव केन्द्रित व्यजना एक अन्वेषण सम्बन्धी मन्तव्य को भी प्रकट करती है। सब प्रकार का व्यवस्थित या सगठित ज्ञान मानवीय रूचियो एव प्रयोजनो के सापेक्ष होता है। सम्भव है कि मनुष्य के कुछ मामूली सवेदन उसकी रूचियो एव प्रयोजनो से सम्बन्धित न होते हो, किन्तु उसकी सारी बातचीत और विवेचना प्रयोजन-सापेक्ष होती है। प्रयोजनो के सन्दर्भ मे ही उसकी धारणाओ तथा वक्तव्यो की अर्थवत्ता सिद्ध है। मानवीय अनुभूति और कल्पना से परे यदि कोई ज्ञान हो भी तो अर्थहीन है। किन्तु इस कथन का कि मनुष्य का समस्त ज्ञान प्रयोजन-सापेक्ष है, यह अर्थ नही कि वह निष्पक्ष वस्तुपरक या तटस्थ अन्वेषण कर ही नही सकता, और न ही यह अर्थ कि सृजनात्मक मानववाद व्यवहारवाद (Pragmatism) का नवीन सस्करण है।[2] सृजनात्मक मानववाद के अनुसार समग्र ज्ञान [illegible] सापेक्ष होता है, किन्तु इसका यह मतलब नही कि समस्त चिन्तन क्रियाएँ प्रेक्षण एव अनुसधानो पर अन्वेषक के व्यक्तिगत प्रयोजन हावी रहते है। उच्च सास्कृतिक क्रियाओ मे नितान्त व्यक्तिगत एव उपयोगी चीजो के प्रति आवश्यक उदासीनता का भाव सर्वत्र दृष्टिगोचित होता है। इस दृष्टि से वैज्ञानिक अन्वेषण और चिन्तन भी व्यक्तिगत प्रयोजनो तथा उपयोगिता का अतिक्रमण करता है। इस प्रकार सृजनात्मक मानववाद के अनुसार मानवीय ज्ञान अनिवार्यत मानवीय प्रयोजनो से सदर्भित होता है , किन्तु उन प्रयोजनो का सम्बन्ध मानव-मात्र की सामान्य और नैसर्गिक बनावट से होता है न कि चितको-अन्वेषको के वैयक्तिक स्वार्थो से।[3]

---

१ उपरोक्त पृष्ठ 12

२ डा० देवराज उपरोक्त पृष्ठ 13

३ उपरोक्त पृष्ठ 14

सर्जनात्मक मानववाद और व्यवहारवाद मे एक और महत्वपूर्ण भेद प्रयोजन के अर्थ को लेकर है। व्यवहारवाद मनुष्य के अस्तित्व और सुरक्षा से सबधित स्वार्थ को ही प्राय उसका प्रयोजन मानता है। इसके विपरीत सर्जनात्मक मानववाद मनुष्य के कतिपय विशुद्ध आत्मिक या आध्यात्मिक प्रयोजन भी मानता है। उदाहरण के लिए मनुष्य चाहता है कि वह अपने अनुभवो को एक आत्मसगत बौद्धिक समष्टी मे ढाल ले अथात अपने अनुभवो को सम्बद्ध रूप मे एकत्रित कर ले। उसका यह प्रयोजन उपयोगिता की परिधि म नही आता। इस प्रयोजन की पूर्ति चाहने वाला चिन्तक, अन्वेषक या कलाकार दूर तक स्थूल उपयोगिताओ के प्रति उदासीन रहता है।[1]

यहाँ तक मानव-केन्द्रित पद का अर्थ स्पष्ट किया गया। अब सृजनात्मक मानववाद की दूसरी मान्यता की व्याख्या अपेक्षित है, अर्थात् इस मान्यता की कि मनुष्य सृजनशील प्राणी है। सर्जनात्मक मानववाद म मनुष्य की सृजनशीलता एक पूर्वमान्यता (Postulate) के रूप मे स्वीकृत हुई है क्योकि शुष्क तर्क प्रणाली से यह सिद्ध नही किया जा सकता कि मनुष्य सृजनशील ढग से आत्मनिर्धारण करता है। मनुष्य उपयोगी एव सास्कृतिक दोनो धरातलो पर सृजनशील होता है, और उसकी सृजनशीलता का ज्ञान हमे स्वानुभूति या आत्मानुभूति से होता है।[2] मनुष्य की सृजनशील प्रवृत्ति या सृजनात्मकता मानव-जीवन की प्रगति का नियामक तत्व है। मनुष्य की सर्जन क्रिया, उसके प्रयत्नो की नई दिशा निरूद्देश्य नही होती। मनुष्य अपनी जरूरतो और प्रेक्षाओ के दबाव से, जो है उसकी जानकारी के आलोक मे उसकी कल्पना कर लेता है जो 'अधिक सतोषप्रद' है। इस परिकल्पना के अनन्तर वह कल्पित स्थिति को यथार्थ बनाने के लिए प्रयत्नशील होता है। अपने प्रयत्नो द्वारा नई उच्चतर स्थिति को उत्पन्न करके मनुष्य फिर नये असन्तोष से पीडित होने लगता है। उस असन्तोष को मिटाने हेतु वह पुन श्रेष्ठतर या उच्चतर स्थिति की कल्पना करता है और फिर नये प्रयत्न मे जुट जाता है। नयी, कल्पित-स्थिति को यथार्थ मे उतारने की अभिलाषा, मनुष्य के उपलब्ध साधनो का नया, सर्जनात्मक उपयोग करने की प्रेरणा देती है। सक्षेप मे, सीधे सहज रास्तो

---

१ उपरोक्त पृष्ठ १४

२ उपरोक्त पृष्ठ ११

को ह र वक्र मा ट न-गढे रा त ... ते हुए नय-नये कल्पना प्ररित लक्ष्या की ओर बढना नय व्येयो । लक्ष्यो का परिकल्पना करने और उन्हे प्रत्य बनाने क लिए प्रयत्नशील होना-यही मानव-पग ते मौलिक नि.. है। इस र सर्जनात्मक जीवन क्रमश उच्चतर मूल्य-स्थितियो की ओर अग्रसर न होता है। मानवीय-र नात्मकता अपन को निम्न रूप, मे प्रकट करती ह

प्रकृति प्रदत्त वस्तुक्रम । अपन प्रयोजना क अनुरूप परिवर्तन ओर नये सगठन उत्पन्न करके मनुष्य अन्तर्निहित सर्जनात्मकता का प्रमाणित करता है। जब कोई जीव प्रकृति-प्रस्तुत वस्तु-क्रम को ज्यो का त्यो स्वीकार न करके उसे इस प्रकार तोडता-मरोडता तथा पुनर्गठित करता है कि उसके विशिष्ट प्रयोजनो की सिद्धि हो जाये तो उसका व्यवहार सर्जनात्मक होता है।[2] आज हम जिस र तित परिवेश म इते हे वा स्वय मानवीय सर्जनात्मकता का प्रमाण है।

2 मनुष्य अपन चतुर्दिक ... जगत को एक सार्थक क्रम या व्यवस्था के रूप मे जानता आर ग्रहण करता हे किन्तु वस्तु-... क प्रति उसकी प्रतिक्रियाएँ यात्रिक, एकरूप या सुनिश्चित न होकर परिवर्तनशील हाती हे। ... पर मनुष्य अपनी उन्ही जरूरतो एव उनकी सिद्धि के क्रम । नये ढग से सगाजित एव ...षित करता रहता हे।

३ मनुष्य सतत् अपनी अपनी प्रतिक्रियाओ की सीमा मे विस्तार करता रहता है , और जिस पथार्थ क प्रति वह प्रतिक्रियाऐं करता हे वह भी निरन्तर विस्तृत होता रहता है।

४ मनुष्य की सर्जनात्मकता का सर्वश्रेष्ठ प्रकाशन उसकी प्रतीकबद्ध कल्पना-मूलक निर्मितियो मे ह । कविता ओर क सा... वैज्ञानिक तथा दार्शनिक विचार पद्धतियो, परिकल्पनाओ और सिद्धान्तो योजनाओ और आदर्शो म मनुष्य की सर्जनात्मकता अपना प्रकाशन करती रहती है।[3]

---

१ उपरोक्त प्रस्तावना पृष्ठ 9

२ उपरोक्त पृष्ठ—14

३ उपरोक्त पृष्ठ 15

५ मानवीय सृजनशीलता का सबसे प्रमुख कार्य यह है कि वह ज्ञात के आधार पर, उच्चतर का भावन और प्रस्तुति करे। इस उच्चतर या काम्यतर का सम्बन्ध हमारी नैतिक, सौन्दर्यपरक आदि अनुभूतियो से होता है।[1]

इस शताब्दी म मानववाद स सम्बन्धित कई दार्शनिक कोटियो का प्रतिपादन हुआ है इनमे मानववाद के कुछ अदार्शनिक रूप भी हे जैसे स्व० प्रो० इरविग बैबिट और स्व० पाल एल्मर मोर का वैदुण्यपरक मानववाद (Academic Humanism) ओर श्री जॉक मारिता का समन्वयात्मक या कैथोलिक मानववाद (Intergral or catalic Humanism)। इनसे सृजनात्मक मानववाद की तुलना विशेष अर्थवान नही हे। दार्शनिक रूप से व्यवहारवाद मे रचे-पगे एक प्रकार के दार्शनिक मानववाद का प्रतिपादन श्री एफ० सी० एस० शिलर ने किया। शिलर ने प्रोटागोरस की उक्ति (Homomensura) ('होमोमेन्सुरा') को अपने दार्शनिक चिन्तन का आधार बनाकर निम्न वक्तव्यो पर जोर दिया।[2]

(क) मनुष्य का व्यावहारिक जीवन मुख्य है और चिन्तन गौण ,

(ख) समस्त चिन्तन व्यावहारिक प्रयोजनो की पूर्ति के लिए होता है, और विशुद्ध चिन्तन की स्थिति ही नही है ,

(ग) ज्ञान के क्षेत्र मे कृति-शक्ति (Will) का विशेष स्थान है। तथाकथित बुद्धि वह हथियार है, जिससे हम अपने को परिवेश के अनुकूल बनाते ओर जीवन सघर्ष मे विजय पाते है।[3]

(घ) काण्ट प्रतिपादित व्यावहारिक बुद्धि की (Primacy of Pratical Reason) मुख्यता को स्वीकार करते हुए शिलर श्रेय (Good) की धारणा को प्रधान और सत्य तथा यथार्थ की धारणाओ को गौण मानते है।

---

१ उपरोक्त पृष्ठ 15

२ दे० एफ० सी० एस० शिलर ह्यूगैनिज्म (मैकमिलन लन्दन दूसरा सस्करण 1912) प्रस्तावना पृ० 21

३ वही अध्याय ?

सृजनात्मक मानववाद शिलर की तरह यह मानता है कि मनुष्य का ज्ञान प्रयोजन सापेक्ष होता हे किन्तु वह यह नही मानता कि मानवीय प्रयोजन केवल व्यावहारिक या उपयोगी भर होते है। मानव-जीवन केवल वाह्य परिवेश से समायोजन भर नही है बल्कि इससे ऊपर उठकर मनुष्य की बुद्धि और कल्पना उसे कला-सृष्टि ओर वैज्ञानिक तथा दार्शनिक चिन्तन की ओर प्रेरित करती है। सृजनात्मक मानववाद की मान्यतानुसार मनुष्य को उसके प्रति जो केवल उपयोगी और व्यक्तिगत है एक सीमा तक उदासीन होना चाहिए। इसलिए ज्ञान की प्रयोजन सापेक्षता का यह अर्थ नही है कि सारा ज्ञान उपयोगी होता है। उपयोगिता से सम्बद्ध प्रत्ययो का भौतिक विज्ञानो मे विशेष महत्व होता है लेकिन सौन्दर्यमूलक तथा तर्क शास्त्रीय निर्मितियो (Constuuction) मे उनका कोई खास स्थान नही होता।[1]

इसी तरह कारलिस लेमान्ट ने भौतिकवादी मानववाद की स्पष्ट एव विस्तृत विवेचना की है। लेमान्ट ने भौतिकवाद को मानववाद का अनिवार्य तत्व मानकर मानवीय इतिहास के प्राय सभी भौतिकवादी विचारको को अपने अभिमत मानववाद का दार्शनिक पूर्वगामी माना है। लेमान्ट का अभिमत स्पष्ट रूप मे धर्म विरोधी है , और इस बात पर जोर देता है कि मनुष्य को जागतिक जीवन का रस लेने और उसका उपभोग करने का प्रयत्न करना चाहिए।[2] लेमान्ट का प्रयास सराहनीय है किन्तु उन्होने जिस प्रकार के जीवनोपभोग की सिफारिश की है, उसमे हल्केपन का आभास है। लेमान्ट के जीवन दर्शन मे उदात्त एव वीरोचित जीवन' के लिए कोई स्थान नही है।[3] किन्तु मानव जीवन की सार्थकता केवल इसमे नही हे कि वह सभ्यता का निर्माण करे, उसके सुखो का उपभोग करे और अपनी जरूरते पूरी कर ले। परम्परा एव समाज के अनेक प्रतिबन्धो के बावजूद ऐसे मनुष्य सदैव होते आये है जो इन्द्रिय सुखजीवी थे , सदैव ऐसे मनुष्य रहे है जो पुरानी रीतियो का आदर नही करते थे , और देवी-देवताओ से नही डरते थे। किन्तु सुखोपभोग के जीवन मे मानव-प्रकृति को

---

१ डा० देवराज सस्कृति का दार्शनिक विवेचन भूमिका पृ० 17–18

२ कारलिस लैमान्ट ह्यूमैनिज्म एज ए फिलासाफी (वाट्स एण्ड को लन्दन दूसरा सस्करण 1952) पृ० 30–31

३ दे० जॉक मारिता टू ह्यूमैनिज्म (ज्याफरे ब्लेस लन्दन तीसरा स० 1941) भूमिका

उदात्त एव व्यापक बनाने की शक्ति ओर क्षमता नही होती , बल्कि वह जीवन मनुष्य को ऐन्द्रिकता मे बॉधकर आध्यात्मिक विकास से पतित करता है।[1]

7 3 भौतिक एव आत्मिक मूल्य तर तम भाव का निरूपण–

मानव व्यक्तित्व क दो पक्ष हे , 'ोतिक एव आत्मिक। जब हम मानव-मूल्यो की बात करते है तो हमे उसके दोनो पक्षो का ध्यान रखना चाहिए। मानव व्यक्तित्व के विकास का यह अर्थ नही है कि हम अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियो को कुचल डाले , उसका मतलब सिर्फ यही है कि हम अपनी निम्नतर-प्रवृत्तियो का इसलिये दमन या नियत्रण करे कि हमारी उच्चतर प्रवृत्तियॉ ज्यादा विकसित हो सके। व्यक्तित्व विकास एक गुणात्मक धारणा हे। उसका अर्थ यही हो सकता है कि हम क्रमश निम्नतर और उच्चतर, घटिया और बढिया के भेद को अधिकाधिक देखना सीखे, और उच्चतर चीजो को घटिया चीजो पर तरजीह दे।[2] मनु ने कहा है , न मासभक्षण मे दोष है न मदिरा, न मैथुन मे , ये राब मनुष्य की प्रवृत्तियॉ है किन्तु उनसे निवृत्ति या बचाव बडा फल देने वाला है।[3]

सृजनात्मक मानववाद के अनुसार समृद्ध एव सृजनशील जीवन मे ऐन्द्रिक सुख-भोग के लिए उचित स्थान होना चाहिए। डा० देवराज इन्द्रियो को क्षुधित अवस्था मे रखने के पैरोकार नही है , उनका स्पष्ट मत है कि वैसी दशा मे मन और बुद्धि भी सन्तुलित नही रह सकते। मानव जीवन मे त्याग एव शारीरिक कष्ट-सहन पर अतिशय गौरव के फलस्वरूप एक प्रतिक्रिया होती है जो व्यक्ति एव जाति को अमर्यादित इन्द्रिय-भोग की तरफ ले जाती है। फ्रॉयड ने कहा है कि जो चीज निषिद्ध हे जिस सुख-भोग का निषेध किया जाता है उसके प्रति तीव्र आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। इसलिए ज्यादे सही नीति यह नही हे कि मनुष्यो को इन्द्रिय सुख-भोग से रोका जाए, सही नीति–यह है कि उनमे उच्चतर जीवन मूल्यो के प्रति आसक्ति पैदा कर दी जाये। डा० देवराज इन्द्रिय सुखो को निन्दित नही समझते, फिर भी शारीरिक सुखो और भौतिकता मे अतिशय अभिरूचि श्रेयस्कर नही

---

१ डा० देवराज सस्कृति का दार्शनिक विवेचना भूमिका पृष्ठ १८–19

२ वही पृष्ठ 390

३ मनुस्मति, 516

मानते। शारीरिक सुखो मे वढती अभिरूचि के दो कारण है प्रथमत मनुष्य की धार्मिक आस्थाए विघटित हो चुकी हे जिसके फलस्वरूप वह अपने को दुनिया की चीजो मे भुला देना चाहता है। दूसरे विज्ञान ने सुखभोग की इतनी प्रचुर सामग्री जुटा दी है कि वह मनुष्य के अवधान के अधिकॉश को घेर लेती है। कारण जो भी हो भोतिक एव शारीरिक मे बढी हुई आसक्ति मानव-जीवन को अधोगामी बनाती है और उसकी सृजनात्मक प्रवृत्तियो के लिए खतरनाक है। भौतिक एव ऐन्द्रिक मूल्यो मे बढी हुई आसक्ति उच्चतर मूल्यो की चरितार्थता मे बाधक होती हे।

सृजनात्मक मानववाद मनुष्य की सृजनवृत्ति के दो आयाम मानता है वाह्य एव आन्तरिक। वाह्य गति भौतिक परिवेश को परिवर्तित करती है और आन्तरिक गति मानव-जीवन के आदर्श रूप गढती है। भौतिक परिवेश मे होने वाली गति चर्म-चक्षु-ग्राह्य होती है जबकि आन्तरिक गति इन्द्रिय ग्राह्य नही होती। ये दोनो प्रकार की सृजन-क्रियाएँ एक दूसरे को प्रभावित करती रहती है। मनुष्य की वाह्य सृजनात्मकता ने भौतिक-विज्ञान के आलम्बन से वेज्ञानिक सभ्यता प्रदान की है। वैज्ञानिक सभ्यता ने ऐन्द्रिक सुख-उत्पन्न करने वाली अनेकानेक चीजे हमे दी है। किन्तु भौतिक सम्पत्ति और ऐन्द्रिक सुख स्वय अपने मे महत्वपूर्ण नही होते । उनकी महत्ता मानव-व्यक्तित्व की अपेक्षा से ही हे। धन-सम्पत्ति तथा भोतिक सामग्री अवश्य ही मनुष्य के सुख मे वृद्धि करती है, और उसका अपना मूल्य भी हे। किन्तु उपयोगिता के क्षेत्र मे परिश्रम करता हुआ मनुष्य शीघ्र ही ऊब महसूस करने लगता है। मनुष्य उपयोगिता के क्षेत्र के प्रति जहॉ साधन और साध्य है , जहा सघर्ष और उससे उत्पन्न होने वाली विश्रान्ति है , असतोष का अनुभव करता है। मनुष्य मे उच्च तथा सुन्दर जीवन की कल्पना करने की शक्ति है और अपनी निम्न-प्रकृति से उसे कष्ट होता है।[1] लगता है जैसे वह अपनी पशु-प्रकृति की सीमाओ से परेशान है और उनका अतिक्रमण करना चाहता है। बढी हुई भौतिकता तथा शरीरोपासना उच्चतर मानव-जीवन की सभावना ओर मूल्यो को रूग्ण करती है। उच्चतर मानव-मूल्यो की उपासना से विरत होकर ही मनुष्य पूर्णतया भौतिक जीवन-दृष्टि अपना सकता है।

आज के मनुष्य का जीवन शून्य जान पडता है। वह इन्द्रिय-सुखो की मृग-मरीचिका के पीछे अनवरत दौड रहा है। इन्द्रिय-भोग पाप हो अथवा न हो, फिर भी यह निश्चित है कि ऐन्द्रिक-मूल्यो

---

१ वही पृष्ठ 354

के दुश्चक्र मे फॅसा मनुष्य श्रेष्ठतम मानव-मूल्यो की उपलब्धि से वचित रह जाता है। सिजविक की उक्ति है कि जो सुखो के पीछे भागते है वे सुखी नही हो पाते। सुखो के पीछे पडे रहने से न तो तृप्ति ही मिलती है, और न जीवन क्रिया ही वेगवान हो पाती है। इसके विपरीत सुखान्वेषी शीघ्र ही सुखभोगो से ऊब महसूस करने लगता है।[1] आज का मनुष्य सुखभोग' की खोज मे प्राय उन्मत्त हो रहा है। सुख भोग की उद्दाम-लालसा का कारण यह है कि मनुष्य जीवन की गहरी तृप्तियो अथवा आनन्द के स्रोतो से विच्छिन्न हो गया है यथा प्रेम ओर मैत्री। ऐन्द्रिय सुखो तथा सम्पत्ति की उत्कट लालसा ने मनुष्य को स्वार्थी ओर अहकारी बना दिया है।[2] उन प्रवृत्तियो के वशीभूत मनुष्य सिद्धान्तहीन अवसरवादिता गलाकाट प्रतिस्पर्धा एव ओरो के शोषण मे व्यक्तिगत लाभ अर्जित करता है। किन्तु ऐन्द्रिय सुख-भोग भोतिक सम्पत्ति तथा क्षणिक चीजो की ओर रूझान मनुष्य को निम्नतर जीवन-मूल्यो की ओर उन्मुख करता है। ऐसे लोग उच्चतर मानव-मूल्यो की कल्पना और उपलब्धि की सभावनाओ से विरत होकर अकुलाहट मे क्षणिक उत्तेजनामूलक सुखो मे जीवन की अर्थवत्ता ढूँढते है।

दर्शनशास्त्र मे दो नितान्त भिन्न कोटि के अस्तित्व-क्रम स्वीकृत है एक भौतिक अस्तित्व का क्रम और दूसरा पारलोकिक अस्तित्व का क्रम। इन दोनो मे कोई सबध नहीं है, बल्कि दोनो नितान्त विरोधी धारणाएँ है।[3] आज के अधिकॉश मानववादी विचारको के मन मे पारलौकिक अथवा आध्यात्मिक अस्तित्व के प्रति सदेह की भावना पायी जाती है। मानववाद परलोक एव ईश्वर की धारणा मे विश्वास नही करता। यह मनोवृत्ति मूलत इहलौकिक और शरीरपरक अथवा इन्द्रिय-परक होती है। मानववाद परिचित इहलोकिक जीवन का अतिक्रमण करने वाले अस्तित्व क्रम मे विश्वास नही करता। मानववाद के अनुसार मानवीय अस्तित्व एक ऐसा केन्द्र-बिन्दु है जहॉ ब्रह्माण्ड की सारी शक्तियॉ इकट्ठी होती है। मानव-अस्तित्व से परे किसी ब्रह्माण्डीय वस्तु का कोई अर्थ नही हो सकता। सृजनात्मक मानववाद के अनुसार आध्यात्मिक अस्तित्व क्रम मानव-प्रकृति के बाहर की चीज

---

१ वही पृष्ठ ३९२

२ वही पृष्ठ

३ द्र० डब्ल्यू० टी० एटेस टाइम ऐण्ड इटर्निटी (प्रिंसटन यूनिवर्सिटी १९५२) पृ० ९

नही है। आध्यात्मिक अनुभूतियाँ एव सवेदनाएँ उच्चतर मानवीय-प्रकृति मे अभिव्यक्त होती है। डा० देवराज के अनुसार आध्यात्मिक अस्तित्व की अभिव्यक्ति भी मनुष्य के स्वप्नो एव आदर्शो मे होनी चाहिए क्योकि मानव व्यक्तित्व भौतिक एव आध्यात्मिक तत्वो का समन्वय है। इस प्रकार सृजनात्मक मानववाद मे आध्यात्मिक एव भौतिक अस्तित्व मे कोई मौलिक विरोध नही है।[1]

7 4 साध्य एव साधन-मूल्य

मूल्य दो प्रकार के होते है आन्तरिक या साध्य-मूल्य और वाह्य या साधन-मूल्य। सामान्य रूप मे साध्यात्मक-मूल्य जीवन या अनुभव की कोई दशा होती है और साधनात्मक-मूल्य उन वस्तुओ एव स्थितियो मे पाया जाता है जो उस दशा को उत्पन्न करती है। साधनात्मक या वाह्य मूल्यो की परिभाषा चरम या साध्य मूल्यो की सापेक्षता मे ही प्रस्तुत की जा सकती है।[2] यहाँ मूल प्रश्न यह है कि हम चरम-मूल्य किसे कहेगे ? चरम मूल्य या साध्य वह है जो स्वय अपने लिए कामना का विषय होता है। बृह० उपनिषद मे लिखा है कि दुनियाँ की सारी वस्तुएँ आत्मा के लिये ही प्रिय होती है। अर्थात् जीवन का चरम-मूल्य या साध्य स्वय जीवन ही होता है। दुनिया की अशेष वस्तुएँ जीने या जीवन का उपभोग करने के लिए है किन्तु स्वय जीवन अथवा जीवनोपभोग अपने ही लिये है। फलत जीवन का उपभोग तथा जीने की क्रिया स्वय अपने मे साध्य है। सृजनात्मक मानववाद के अनुसार सब प्रकार का जीवन हमारा लक्ष्य नही होता। हमारा लक्ष्य वह जीवन होता है जो सन्तोषजनक अथवा सुखमय है। फलत हम सुखी और सन्तुष्ट जीवन को ही अपने प्रयत्नो का लक्ष्य मान सकते है और उसी को जीवन का साध्य कह सकते है।[3] इस प्रकार चरम-मूल्य जीवन-व्यापार के रूप है जो अपने मे कामना करने के योग्य दिखाई देते है।

पूर्वी दार्शनिक सामान्य रूप से और भारतीय दार्शनिक विशेष रूप से, इसमे अधिक दिलचस्पी लेते है कि मानव व्यक्ति के दुखो को कैसे दूर किया जाय और उसका सॉस्कृतिक या आध्यात्मिक

---

१ डा० देवराज सस्कृति का दार्शनिक विवेचन पृ० ३५७

२ वही पृ० 174

३ वही, पृ० 378

परिष्कार कैसे हो उन्हें इसमें ज्यादा रूचि नही है कि मानव-जीवन की भौतिक परिस्थितियो मे कैसे सुधार हो। भारतीय चितको की चिंता का प्रधान विषय मानव-जीवन के दुखो का निराकरण है। न्याय सूत्रो तथा सॉख्यकारिका के चिंतन का आरंभ इस वक्तव्य से होता है कि मोक्ष या दुख निवृत्ति ही प्रधान पुरूपार्थ है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि पूर्वी सस्कृति मे सामान्यत और भारतीय सस्कृति मे विशेषत आत्मिक या आध्यात्मिक मूल्यो का सबसे ऊँचा स्थान दिया गया है।[1] डा० एन० के० देवराज के अनुसार मोक्ष-धर्म अथवा अध्यात्म एव तत्सबन्धी मनोवृत्ति मनुष्य की वास्तविक प्रकृति का अग है। यह आश्चर्य की बात है किअन्याय मानववादी चितक मनुष्य की शक्तियो एव उपलब्धियो मे गर्व की भावना रखते हुए भी उस आध्यात्मिक मनोवृत्ति की प्रकृति स्वरूप और सार्थकता का विचार नही करते जो उच्चतर मानव-चरित्र सन्त चरित्र का सृजन करती है। सृजनात्मक मानववाद दूसरी दृष्टि से गुणनिष्ठ मानववाद' भी कहा गया है, जो जीवन मात्र की जगह, गुणात्मक दृष्टि से श्रेष्ठ जीवन का वरण करता है। इस दृष्टि से मूल्य-विज्ञान की गुणात्मक चेतना का सर्वोच्च रूप मोक्ष-धर्म या आध्यात्मिक है।[2] सृजनात्मक मानववाद के अनुसार जीवन का धार्मिक-आध्यात्मिक लक्ष्य मानव जीवन की वह उच्चतम सम्भावना है जिसकी किसी युग के सर्वाधिक सवेदनशील तथा विकसित बुद्धि के व्यक्तियो अथवा विचारको द्वारा कल्पना की जाती है। मोक्ष-धर्म या आध्यात्मिक मनोवृत्ति मुख्यत अपने को दो रूपो मे प्रगट करती है साधारण लोगो द्वारा इच्छित सॉसारिक वस्तुओ के प्रति वैराग्य की भावना मे ओर उदारता तथा त्याग की असाधारण क्रियाओ मे। अपरिग्रह-मूलक उदासीनता आध्यात्मिक जीवन की पूर्व-शर्त है। आध्यात्मिक मनोवृत्ति के विकास के लिए थोडी बहुत उदासीनता एव अपरिग्रह-वृत्ति अनिवार्य रूप मे अपेक्षित है। वस्तुत जिस सीमा तक मनुष्य निम्न कोटि के मूल्यो के अन्वेषण से विरत होता है, वही तक वह अपने को उच्चतर मूल्यो के प्रत्यक्षीकरण ओर उत्पादन के योग्य बनाता है। सत चरित्र का व्यक्ति दुनियावी वस्तुओ एव उपलब्धियो के प्रति उदासीन होता है। अध्यात्म-जीवी मनुष्य की कल्पना स्वच्छदता-पूर्वक एक ऐसे तत्व की कल्पना करती रहती है जो अनन्त, रहस्यमय मूल्यवत्ता का अधिष्ठान है। डा० देवराज के अनुसार धार्मिक तथा आध्यात्मिक अनुभूति मूलत एक रहस्यपूर्ण परिणति, लक्ष्य अथवा सत्ता की

---

१ डा० दवराज सस्कृति का दार्शनिक विवेचन पृ० ३५

२ वही पृ० ३५

प्रतीति है जो जीवन के समस्त मूल्यो का मूल या आधार समझी जाती है।[1] धार्मिक-आध्यात्मिक जीवन वह जीवन है जो उक्त लक्ष्य या सत्ता की सापेक्षता मे जिया जाता है। आध्यात्मिक चेतना के इस विषय की कल्पना कभी एक ईश्वर के रूप मे की जाती है, कभी अनेक देवी-देवताओ के समूह के रूप मे और कभी निरपेक्ष परम-तत्व के रूप मे। जो भी हो किन्तु सभी-आध्यात्मिक शिक्षक मानते हे कि धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति का विषय सभी मूल्यो का अधिष्ठान होता है।

मानव जीवन के धार्मिक-आध्यात्मिक लक्ष्य के मुख्य तत्व निम्न है एक उच्चतर गतव्य अथवा परमश्रेय की धुँधली चेतना एव दुनियावी मूल्यो की अपर्याप्तता की चेतना जो कि विविध व्यक्तियो की प्रकृति के अनुसार न्यूनाधिक तीव्र होती हे। इन तत्वों के युगपत् प्रभाव मे मनुष्य अपने वर्तमान जीवन से असतोष ओर उच्चतर साध्य की ओर बढने की प्रवृत्ति एव प्रेरणा प्राप्त करता है। सृजनात्मक मानववाद के अनुसार जीवन का धार्मिक-आध्यात्मिक लक्ष्य मानव-जीवन की उच्चतम् सभावना है जिसकी किसी युग के सर्वाधिक सवेदनशील तथा विकसित बुद्धि के व्यक्तियो द्वारा कल्पना की जाती हे। किन्तु उच्चतर जीवन की यह सभावना अथवा चरम सार्थकता ईश्वर तथा परलोक सबन्धी आस्था से जुडाव नही रखती।[2] डा० एन० के० देवराज के विचार मे मूल्यो का अनुचितन आत्म-चितन का ही एक रूप है क्योकि वे चरम मूल्य अन्तत हमारे अपने अस्तित्व का ही वास्तविक या कल्पित रूप है। जीवन के उन चरम-मूल्यो को हम इतने अतरग ढग से जानते है कि उनके बारे मे यह कथन ठीक हे कि वे जाने नही जाते अपितु पहचाने जाते हे।[3] डा० देवराज ने स्वीकार किया है कि जीवन के चरम साध्य अथवा उच्चतर आध्यात्मिक मूल्य का अनुभव इसी जीवन मे किया जा सकता है। जीवनमुक्ति की धारणा का यही अभिप्राय हे कि मनुष्य जीते-जी मुक्ति की अवस्था का अनुभव कर सकता है। अनन्त मूल्यवत्ता का अधिष्ठान होते हुए भी मुक्ति की अवस्था इसी जन्म मे सुलभ हो सकती है। प्रारभिक बौद्धधर्म की परपरा मे इसे ही अर्हतत्व की उपलब्धि कहा गया है और यही वेदान्त की जीवनमुक्ति का आदर्श है, ओर यह जीवन इस धरती से विच्छिन्न नही है। दीर्घकालीन

---

१ डा० देवराज सस्कृति का दार्शनिक विवेचन पृ० ३४०

२ डा० देवराज सस्कृति का दार्शनिक विवेचन पृ० ३९३

३ जे० एस० ब्रूबाकर माडर्न फिलासफीस आफ एजयूकेशन पृ० ३०५

मनन श्रद्धा तथा वैराग्य भावना अथवा लोकिक विषयो के प्रति उदासीनता की वृत्ति द्वारा मनुष्य उच्चतर दार्शनिक आध्यात्मिक धरातल पर पहुँच सकता है। डा० देवराज शकराचार्य के जीवनमुक्ति के सिद्धान्त से विशेष प्रभावित है जो साख्य योग जैन दर्शन तथा बौद्ध सम्प्रदायो को भी, किसी न किसी रूप मे ग्राह्य है। उनकी मान्यता हे की मोक्ष-जीवनमुक्ति का अर्थ आत्मा का स्वरूप लाभ अथवा मूल शुद्धबुद्ध रूप मे अवस्थिति है। यह मान्यता मानववादी स्पिरिट के अनुरूप परलोक अथवा दूसरे जीवन की कल्पना को स्वत सिद्ध मानकर नही चलती। निश्चय ही आत्मा और उसकी अमरता का सिद्धान्त हमारी मन-बुद्धि को आकर्षक जान पडता हे, पर वह सुप्रमाणित नहीं है। सृजनात्मक मानववाद के अनुसार आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य अथवा जीवन का चरम-मूल्य जीवन्मुक्ति है, और जीवन्मुक्ति का अनुभव यही धरती क जीवन मे किया जा सकता है।

7 5 निष्कर्ष

सक्षेप मे, डा० नन्दकिशोर देवराज का सृजनात्मक मानववाद एक मानव-केन्द्रीत मूल्य दर्शन हे, जिसमे परपरा के आलोक मे जीवन-मूल्यो को नये सिरे से व्याख्यायित किया गया है। यह मत परलोक अथवा मरणोत्तर जीवन आत्मा की अमरता ओर ईश्वर की धारणा को सुप्रमाणित नही मानता। फिर भी भारतीय दर्शन-अध्यात्म के मोलिक-मूल्यो एव कला-साहित्य के रसात्मक मूल्यो को दूर तक अपने दायरे मे समाहित करते हुए यह दृष्टि एक नवीन मूल्य-विज्ञान का रूप गढती है। यहाँ मानव-मूल्यो को साध्य-साधन आत्मिक-भोतिक अथवा ऐन्द्रिक आध्यात्मिक दो वर्गो मे विभाजित करके गुणात्मक रूप से आत्मिक आध्यात्मिक मूल्यो की श्रेष्ठता का उद्घोष है , हालॉकि मानव-जाति की मोलिक जरुरते और उनसे सबन्धित मूल्यबोध सर्वमान्य है। ऐन्द्रिक-सुखोपभोग के जीवन से कला-सौदर्य के सृजनशील जीवन को श्रेष्ठ माना गया है, और सर्वोपरि दार्शनिक-आध्यात्मिक चितन-मनन और तत्साध्य जीवन्मुक्ति रुप मोक्ष को मानव जीवन का चरम-मूल्य स्वीकार किया गया है।

अध्याय 8

लोकात्मवाद या लोकायन

प्रो0 संगमलाल पाण्डेय

8 1 सामान्य परिचय

अद्यतन भारतीय दार्शनिक मनीषी प्रो० पाण्डेय पाश्चात्य एव पौर्वात्य दोनो दार्शनिक विधाओ के बेजोड पारखी हे। प्रो० राधाकृष्णन हिरियन्ना आर० डी० रानाडे, ए० सी० मुकर्जी, के० सी० भट्टाचार्य सदृश दर्शनविदो की परम्परा मे प्रो० पाण्डेय का स्मरण किया जा सकता है। इनकी वाणी सीधे सहज ह्रदय से निकलती है और पाठको पर सीधे चोट करती है। हिन्दी, अग्रेजी और सस्कृत इन त्रिभाषाओ पर समान अधिकार रखनेवाले प्रो० पाण्डेय गूढ दार्शनिक समस्याओ के समाधानकर्ता तो हे ही साथ ही समसामयिक सामाजिक-मूल्यो के निर्धारण हेतु प्रयासरत है। इस सदर्भ मे इनका प्रमुख सामाजिक दर्शन हे– लोकात्म-दर्शन' जिसे इन्होने पूँजीवाद और साम्यवाद के विकल्प के रूप न प्रख्यायित करने का स्वप्रयास किया है। प्रो० पाण्डय का लोकात्मवाद मानववाद है जो तथाकथित अन्य मानववादो से भिन्न हे। लोकात्मवाद का केन्द्रीय सम्प्रत्यय 'लोक' है। लोक वस्तुसत् की अपेक्षा कर्मसत् है।[1]

श्रीमद्भगवद्गीता मे लोक' को कर्मबन्धन कहा गया है। लोक मे जितने जीव है वे सभी ईश्वर के अश है।[2] प्रो० पाण्डेय मानते है कि वैशेषिक दर्शन के सप्त पदार्थो मे जो कर्म हे उसी के अन्तर्गत लोकतत्व को अन्तर्भावित किया जाना चाहिए। यदि वेदान्तिक दृष्टिकोण से कहा जाय तो 'लाक' ईश्वर के स्वरूप के अन्तर्गत है क्योकि जो तत्व लोक को धारण करता है उसे ईश्वर या परमात्मा कहना अधिक न्यायोचित है और उसमे उन सभी गुणो का अन्तर्भाव है जिन्हे 'ईश्वरीय गुण'

---

१ पाण्डेय सगमलाल समाज दर्शन की प्रणाली दर्शनपीठ इलाहाबाद 1998 पृ०-152

२ गीता 15/7- ममैवाशो जीव लोके जीवभूत सनातन।

से अभिहित किया जाता है। सामाजिक वैश्विक परिप्रेक्ष्य मे प्रो० पाण्डेय इस वेदान्तिक विचारधारा के आधार पर समाज को पुननिर्मित करना चाहते है। जीवो ब्रह्मैव नापर' की भावना से पारस्परिक बन्धुत्व सहोपकारिता, मुदिता और करुणा की भावना का सचरण होगा। जब लोक मे, व्यक्ति अपने मे ही सर्वज्ञ और सनातन ईश्वर तत्व को देखेगा तो उसका कर्ग **आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत'** की सद्भावना से ओतप्रोत रहेगा, फिर एक सत्य समाज का पुनरुत्थान होगा। प्राणी-प्राणी मे अमनचैन और बन्धुत्व का पुनर्स्थापन होगा और सर्वत्र शान्ति की सस्थापना होगी। फिर समाज मे फैले पूँजीवाद का प्रभाव लूट-खसोट, चोरी-डकैती, पारस्परिक वैमनस्य, हिसात्मक भावो का अन्त हो जायेगा। सर्वत्र सद्गुणो की व्याप्ति होगी और मानवता का सचरण सम्पूर्ण धरा पर होगा।

मानवीय गुण कैसा होना चाहिए ? इस सदर्भ मे प्रो० पाण्डेय हितोपदेश की एक पक्ति के माध्यम से स्पष्ट करते है– 'जिससे वृत्ति पैदा होती है और जिसकी लोक मे सज्जन लोग प्रशसा करते है वह गुण है। गुणी लोगो को उसका सरक्षण तथा सम्बर्द्धन करना चाहिए।''[1]

प्रो० पाण्डेय मानते है कि दुर्गुणो पर खडा समाज नष्ट हो जायेगा। वे इतिहास का उदाहरण देते हुए कहते है कि जिस प्रकार स्वर्ण नगर लका का रावण-राज्य नष्ट हो गया, मुगल- साम्राज्य नष्ट हो गया ऑग्ल-शासन नष्ट हो गया वैसे ही दुर्गुणो से युक्त कोई भी शासन नष्ट हो जायेगा। पूँजीवाद अर्थवाद है जिसमे अहकार और विकार है, अतएव वह क्षणिक है। वह नित्य और स्थायी नही हो सकता। एक-न-एक दिन विवेक रूपी शस्त्र के सामने उसे पराजित होना ही पडेगा।

8 2 लोकात्मवाद

पाण्डेय जी के अनुसार 'लोकात्मवाद' की स्थापना आज के परिप्रेक्ष्य मे अपरिहार्य हो गयी है। लोकात्मवाद वह समाज दर्शन है जो पूँजीवाद और साम्यवाद का विकल्प है। लोकात्मवाद वेदान्त से नि सृत है, अतएव इसे **वेदान्तवादी समाजवाद'** भी कहा जा सकता है। वह अर्थ को न तो चार्वाको

की तरह पुरूषार्थ मानता हे ओर नही पुरूषार्थो का उत्स। लेकिन, पूँजीवाद और साम्यवाद दोनो अर्थ को चरमपुरुषार्थ मानते है। पूँजीवाद सैद्धान्तिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति को अर्थोपार्जन की पूर्ण स्वतत्रता प्रदान करता है किन्तु व्यवहारत बृहत् कम्पनियो या बहुराष्ट्रीय आर्थिक सगठनो को बढावा देता है जो शक्ति और समृद्धि मे राज्य की समानता करते है। पूँजीवाद के इस व्यवहार से समाज मे भयकर आर्थिक विषमता पेदा होती है तथा समाज का धन कुछ सीमित व्यक्तियो के हाथो तक सिमट कर रह जाता है और शेष, बृहत्समाज भयकर आर्थिक सकट से सत्रस्त रहता है। 'साम्यवाद' किसी व्यक्ति को अर्थोपार्जन की स्वतत्रता नही प्रदान करता तथा राज्य को ही समस्त आर्थिक अधिकार प्रदान करता है। इस कारण जिन व्यक्तियो का राज्य पर सर्वाधिकार होता है वे राज्य की सम्पूर्ण आर्थिक शक्ति का उपयोग अपने लिए करते है। साम्यवादी शासन मे व्यक्तियो को खाना, कपडा, दवा आदि के लिए मोहताज होना पडता है। समस्त विश्व की आर्थिक स्थिति से साम्यवादी शासन कोई लाभ नही उठाता। वह अपने राज्य मे इतना आर्थिक नियत्रण रखता है कि बाह्य विश्व से उसका कोई आर्थिक सम्बध नही रह पाता। साम्यवाद का समाज आर्थिक दृष्टि से बन्द समाज है जबकि पूँजीवादी समाज खुला समाज है। खुलापन और बन्द दोनो अतिवाद है, अतएव दोनो त्याज्य है।

लोकात्मवाद इन दोनो के विरोध मे लोक को आर्थिक नियत्रण का अधिकार देता है न कि राज्य या बडी कम्पनियो को। वह प्रत्येक व्यक्ति को अर्थोपार्जन की स्वतत्रता प्रदान करता है, किन्तु यथासम्भव आर्थिक समानता के लिए वह लोकसग्रह, लोकचेतना और लोकरीति के द्वारा समाज के किसी वर्ग मे पूँजी के एकत्र होने को रोकता है। वह ऐसे राज्य को स्थापित करता है जो न्यायोचित कराधान द्वारा राष्ट्रीय पूँजी के समान वितरण की व्यवस्था करता है। इसीप्रकार वह लोक को इतना जागरूक बनाता है कि वह स्वेच्छा से यज्ञ, दान, इष्टापूर्ति और त्याग द्वारा अपनी पूँजी को लोक मे खर्च करता रहता है। वह आर्थिक स्वतत्रता को धार्मिक स्वतंत्रता तथा नैतिक विवेक से नियमित करता है। स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय सविधान का निर्माण हुआ जिस पर भारतीय सस्कृति और दर्शन का प्रभाव पडा जिसके कारण भारत एक ऐसा गणराज्य हुआ जो पूँजीवादी लोकतत्र और साम्यवाद दोनो से निरपेक्ष है। भारत इसी कारण विश्व की तीसरी शक्ति के रूप मे उभरा। भारत के प्रधानमत्री प० नेहरू ने गुटनिरपेक्षता की नीति द्वारा विश्व के ऐसे राष्ट्रों को एक मच पर प्रस्थापित

किया जो साम्यवाद और पूँजीवाद दोनो का विरोध करते थे। यद्यपि इस मच का मुख्य नारा राष्ट्रीय स्वतत्रता तथा सभी राष्ट्रो का सह अस्तित्व था, तथापि उसका प्रयोजन एक ऐसे राज्य की स्थापना करना था जिसमे लोकतत्र तथा साम्यवाद दोनो के सद्गुण तो हो लेकिन दुर्गुणो का लेशमात्र भी समावेश नही हो। अर्थात् स्वतत्रता समानता और विश्व-बन्धुत्व इसका अभीष्ट था। इस प्रयोजन को चरितार्थ करने के लिए कही समाजवाद की कल्पना की गयी तो भारत मे लोकायनवाद की। भारत मे जिस समाजवाद कि कल्पना की गई उसमे लोकायनवाद की महत्वपूर्ण भूमिका है क्योकि उसका आधार भौतिकवाद अथवा लोकायतवाद न होकर वह अध्यात्मवाद है जिसका प्रचार-प्रसार वैदिक ऋषियो, जैन मुनियो, बौद्धो सिद्धो, योगियो, सन्तो और भक्तो ने निरन्तर इतना अधिक किया है कि वह भारत की प्रमुख पहचान बन गया है। समाज का आधार मानव की सहानुभूति, करूणा दया आदि सहज प्रवृत्तियॉ नही है, अपितु ईश्वर का स्वरूप है क्योकि ईश्वर लोककल्याणार्थ या लोकसग्रहार्थ समय-समय पर अवतार लेता है।[1] वह उन सभी मनुष्यो मे विराजमान है जिन्हे समाज का सदस्य कहा जाता है। जैसे, मधुमक्खियॉ अपनी रानी के इर्द-गिर्द मधुछत्ता मे रहती है वैसे ही सभी मनुष्य ईश्वर के अस्तित्व के कारण समाज मे रहते है। 'अनेकजीववाद' का आधार ईश्वर ही है। व्यक्ति की आत्मा जीवात्मा है और ईश्वर परमात्मा है। अर्थात व्यक्ति की आत्मा 'व्यष्टि आत्मा' है और समाज की आत्मा 'समष्टि आत्मा' है। दोनो को 'लोकात्मा' कहा जाता है। क्योकि 'लोक' शब्द का प्रयोग व्यष्टि और समष्टि दोनो अर्थो मे व्यवहृत होता है। यही समाज का मूल अक्षुण्ण आधार है।

प्रो० देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने 'लोकायत' नामक एक ग्रथ लिखकर प्राचीन चार्वाक दर्शन का विकास किया। इन्होने यह सिद्ध किया है कि 'अर्थ' और 'काम' दोनो को पुरुषार्थ मानने का कारण लोकोपयोगी या अर्थक्रियावादी दर्शन है। प्रो० एनीकोव' ने सिद्ध किया कि भौतिकवाद ही सम्पूर्ण भारतीय दर्शन की मुख्य धारणा है। प्रो० पाण्डेय कहते है कि इन दोनो विद्वानो ने इस तथ्य को भुला दिया कि जैन, बौद्ध, साख्य, न्याय, वेदान्त आदि दर्शनो ने भौतिकवाद का खण्डन किया है। इनका कहना है कि चैतन्य की उत्पत्ति भौतिक पदार्थो से नहीं दिखायी जा सकती क्योकि उत्पत्ति

---

१ गीता– लोक सस्थापनार्थाय सभवामि युगे-युगे।

कार्य-कारण भाव पर निर्भर हे जिसकी अवधारणा मे चैतन्य की पूर्व भूमिका है। अतएव चैतन्य की उत्पत्ति दिखलाने मे 'चक्रक दोष' है। बिना चैतन्य की उत्पत्ति के भौतिकवाद सम्भव नही है। पुनश्च शकराचार्य का कहना है कि विषय अपने को विषयीकृत नही कर सकता है क्योकि अपने ऊपर अपने द्वारा कोई क्रिया नही हो सकती है। विषय को विषयीकृत बनाने वाला चैतन्य-तत्व है। इस कारण यह देह से ही नही अपितु समस्त विषयो से भिन्न है। यह 'देही' या शारीरक है। देह के नाश होने पर उसका नाश नही होता। वह नित्य और सनातन हे इस आधार पर प्रो० पाण्डेय भौतिकवाद को असत् सिद्ध करते है। साथ ही प्रो० पाण्डेय कहते है कि जिस भौतिकवाद के आधार पर साम्यवादियो ने साम्यवाद को स्थापित करने का प्रयास किया है, उसका सम्पूर्ण प्रयास असत्य होने के कारण असफल है।

प्रो० पाण्डेय मानते है कि पूँजीवादियो ने भी भारतीय समाज को विकृत करने का प्रयास किया है। इसके प्रभावस्वरूप व्यक्तिवाद और स्वार्थवाद प्रादुर्भूत हो गये हैं। पूँजीवाद ने अपनी विचारधारा को तत्रशास्त्र पर आधारित किया और उस साधु समाज को भी भोगवादी तथा सुविधावादी बना दिया जो वैराग्य के लिए विश्व-विख्यात था। फलस्वरूप अनेक ऐसे साधु वेषधारी स्वामी प्रादुर्भूत हुए जो अपने को भगवान कहने लगे। उनमे से किसी ने सम्भोग से समाधि के सिद्धात का प्रचार किया तथा मुक्त यौन-सम्बन्ध के लिए आश्रय स्थापित किया, किसी ने भावातीत ध्यान द्वारा उड्डीयन की शक्ति प्राप्त करने की शिक्षा दी और जब किसी को उडना नहीं आया तब ऐसे योगी के विरुद्ध विश्व के कई देशो मे मुकदमे दायर किए गए। किसी स्वामी ने तात्रिक पूजा द्वारा राज्य-प्राप्ति और धन-प्राप्ति की बात कही और धोखा-धडी तथा जालसाजी से अपने शिष्यो को लाभ पहुँचाया लेकिन ऐसे स्वामियो का भी पर्दाफाश हुआ और उन्हे जेल मे जाना पडा। सक्षेप मे, इन स्वामियो ने जिस उपभोगवाद का प्रचार किया वह आत्मघाती सिद्ध हुआ। लोकायनवाद पूँजीवाद का वैसे ही विरोधी है जिस प्रकार वह साम्यवाद का विरोधी है। लोकायनवाद मे सदाचार को महत्व दिया गया है। इसमे सत्य और ऋृत को सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार माना गया है। इस प्रसग में लोकायनवाद महात्मा गॉधी के एकादश व्रतों के अनुसरण पर जोर देता है और इन्हे सामाजिक व्यवस्था की

आधारशिला मानता है।[1] इन प्रत्येक सद्‌गुणो का सामाजिक आयाम है जिसकी खोज करने के कारण महात्मा गॉधी विश्व के श्रेष्ठ नीतिशास्त्री एव सामाजिक दार्शनिक हो गये। शोषण, भय, पाखण्ड व्यभिचार भ्रष्टाचार आदि से मुक्त सामाजिक-व्यवस्था की स्थापना करना महात्मा गॉधी का ध्येय है। लोकायनवाद भी इसी विचारधारा से अभिप्रेरित है।

लोकायनवाद का तात्विक आधार अध्यात्मवाद है जिसकी चरमोन्नति अद्वैतवाद मे देखी जा सकती है। जिस प्रकार मानव मूलत आध्यात्मिक है, उसीप्रकार सम्पूर्ण जगत भी आध्यात्मिक है। फिर लोक या समाज भी आध्यात्मिक होगा ही होगा। लेकिन, यहॉ एक शका उत्पन्न हो सकती है कि लोकायनवाद का आधार अद्वैतवाद जगत् को मिथ्या कहता है तो लोकायनवाद का आधार अद्वैतवाद केसे हो सकता है ? इसका उत्तर है कि अद्वैतिक मायावाद का अर्थ जगत् को सत् और असत् से विलक्षण सिद्ध करना है। अद्वैतवाद जगत् को असत् नही मानता बल्कि वह जगत् को अथवा समाज को आत्मा से भिन्न नही सिद्ध करता। अद्वैतवाद मे **जीव, ईश्वर, विशुद्ध चित, जीव और ईश्वर का भेद, अविद्या, तथा चित, और अविद्या का सम्बन्ध** ये छ पदार्थ अनादि माने गये हैं।[2] इनको अनादि मान लेने से अद्वैतवाद जगत् और लोक व्यवहार की युक्ति-युक्त व्याख्या कर देता है। जगत् को वह ऐसा व्यावहारिक सत् मानता है जो पारमार्थिक सत् मे निहित है। यद्यपि एकमात्र सत्ता विशुद्ध चित् की है तथापि अन्य पॉचो पदार्थों के कारण वह सत्ता अपने को उनमे प्रकाशित करती है। यद्यपि ये पॉचो पदार्थ औपाधिक है तथापि उपाधि की कल्पना द्वारा उनके सभी कार्य सिद्ध हो जाते है और उन्हे इस कारण वास्तविक मानने मे गौरव की कल्पना है। लोक वैसे ही सत् है जैसे मनुष्य। दोनो एक दूसरे पर आश्रित है।

---

१ एकादश व्रत सत्य अहिसा अस्तेय. ब्रह्मचर्य. अपरिग्रह अस्वाद शरीर-श्रम स्वदेशी, अस्पृश्यता निवारण सर्वधर्मसम्भाव और अभय।

२ जीव ईशो विशुद्धा चित्तथा जीवेश्वरयोर्भिदा।

अविद्या तच्चितोर्योग षडस्माकमनादय

प्रो० पाण्डेय मनुष्य और समाज के सम्बन्ध मे लोकायनवाद को उद्धृत करते है। लोकायनवाद मनुष्य और समाज के सम्बन्ध के विषय मे उसी मत को मानता है जिसे अग्रेज दार्शनिक टी० एच० ग्रीन तथा भारतीय अद्वैतवादियो ने प्रस्तावित किया है। साम्यवाद दोनो मे आगिक सम्बन्ध मानता है लेकिन प्रो० पाण्डेय ऐसा नहीं मानते। इनके अनुसार मनुष्य स्वय साध्य है। अत वह समाज का साधन या अग नही हो सकता। यदि उसे समाज का अग मान लिया जाय तो उससे मानवीय स्वातत्र्य का खतरा उत्पन्न हो जायेगा। इसी स्वातञ्य की अभिरक्षा मे पश्चिम मे अस्तिववाद का अभ्युदय हुआ जिसने मानव-स्वातञ्य को 'परम मूल्य' के रूप मे प्रस्थापित किया। लेकिन प्रो० पाण्डेय मानते है कि अस्तित्ववाद ने 'मानव' को इतना महत्व दिया कि समाज का स्वरूप धूमिल हो गया। पाण्डेय जी के अनुसार मनुष्य व्यष्टि है और समाज समष्टि है। दोनो की आत्मा एक ही है। गौडपाद ने 'आगमशास्त्र' मे विश्व अथवा जीवात्मा और विराट का जो अभेद स्थापित किया हे उसके आधार पर लोकायनवाद मे मनुष्य और समाज के प्रयोजन मे इस आत्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। 'सत्य शिव सुन्दर और पवित्रम् दोनो के प्रयोजन या आदर्श है। एक शब्द मे दोनो का प्रयोजन नि श्रेयस है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त मे जिस पुरुष को असख्य शिर, असख्य नेत्र और असख्य पैर वाला कहा गया है वह वास्तव मे विराट समाज ही है जो असख्य मनुष्यो के माध्यम से उनके शिर, नेत्र, पैर आदि से अपना कर्म सम्पादित करता है। यहॉ एक शका हो सकती है कि प्रत्येक सामाजिक कर्म का अन्तर्भाव मनुष्यो के कर्म मे ही होता है और इसकारण मनुष्यो से पृथक् समाज का कोई अस्तित्व नहीं है। इस शका के निवारणार्थ प्रो० पाण्डेय निम्नलिखित युक्तियो का सहारा लिया है–

(1) **लोक-बुद्धि का प्रमाण**–लोकबुद्धि समाज के अस्तित्व को सिद्ध करता है, उसका अन्तर्भाव सभी मनुष्यो की बुद्धि मे नहीं किया जा सकता। लोक बुद्धि से समाज का प्रभाव प्रत्येक मनुष्य के मानस पर पडता है। ज्यो-ज्यो मनुष्य शिक्षित होता है और उसकी बुद्धि विकसित होती है त्यो-त्यो उसकी लोकबुद्धि शिथिल हो जाती है। अशिक्षितो मे जितनी लोकबुद्धि रहती है उतनी शिक्षितो मे

लाकबुद्धि समाज की सेवा मे लगी रहती है। जब कहा जाता है कि जनता की आवाज ईश्वर की आवाज है अथवा जनता जनार्दन है, तो उसका अभिप्राय है कि समाज बोलता है और सुनता है। उसकी बोली कभी-कभी पृथक्-पृथक् मनुष्यो की बोली से भिन्न होती है। उसमे लोकबुद्धि का कार्य देखा जा सकता है।

(2) **लोकेच्छा का प्रमाण**—ईश्वर के बारे मे कहा जाता है—**'पद बिनु चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै विधि नाना।'** ईश्वर की ये विशेषताएँ प्रत्यक्षत समाज पर लागू होती है। समाज ऐसे भी कर्म करता हे जिसमे किसी मनुष्य की केर्मेन्द्रियो और ज्ञानेन्द्रियो की आवश्यकता नही होती। न चाहते हुए भी मनुष्य अपनी ज्ञानेन्द्रियो और कर्मेनद्रियो से समाज की इच्छा का पालन करता है। उदाहरण के लिए लोक-लज्जा अथवा लोक-भय से मनुष्य नहीं चाहते हुए भी अपने ऊपर जो सयम रखता है और अपनी वासनाओ पर नियत्रण स्थापित करता है उसमे समाज की इच्छा ही कारण है, जिसके फलस्वरूप लोक-मर्यादा का उल्लघन करने से मनुष्य डरता है। इसीलिए कहा गया है—यद्यपि शुद्ध लोकविरुद्ध नकरणीय नाचरणीयम्। इस लोकोक्ति का तात्पर्य है कि लोकरीति का उल्लघन करना दुष्कर है, विशेषत उन रीतियो का जो स्वस्थ परम्पराये बन गयी है जैसे-दान देना, करुणा करना, बडो का आदर करना, पूर्वजो का गुणगान करते रहना इत्यादि स्वस्थ परम्पराये है, जिन्हे समाज मनुष्यो से उनकी इच्छाओ के विपरीत भी करवाता रहता है।

(3) **मूल्यो का प्रमाण**—समाज मूल्यो का निकाय है। वह त्याग को भोग से और श्रेय को प्रेय रो अधिक मूल्यवान मानता है। भले ही कोई मनुष्य अहिसक सत्यवादी या ब्रह्मचारी न हो सके, तथापि समाज अहिसा सत्य और ब्रह्मचर्य को आदर्श मानता है और जो मनुष्य अपने जीवन मे इन मूल्यो का थोडा भी पालन करते है, उनको वह सम्मान देता है। बौद्धो का सघ व्यभिचार के कारण नष्ट हो गया। प्राचीन यूनान के सोडम और गोमरा इन दो नगरो के समाज व्यभिचार के कारण नष्ट हो गये। इससे सिद्ध है कि वही समाज जीवित रहता है जिसमे ब्रह्मचर्य, अहिसा, सत्य, अस्तेय, त्याग

8 3 सामाजिक और राजनीतिक मूल्य

लोकायनवाद के अनुसार लोक सग्रह सामाजिक मूल्य है और वर्ग भेद सामाजिक अपमूल्य (Disvalue) है। अत वर्ग सघर्ष, वर्गो के अन्तर्कलह और अन्तर्द्वन्द्व अपराध वृद्धि, कर्त्तव्यपालन का ह्रास स्वार्थवाद की वृद्धि आदि सामाजिक दुर्गुण है इनका जितना अधिक उन्मूलन हो उतना ही अधिक लोक सग्रह सभव है।

प्रो० पाण्डेय का मानना है कि लोकायनवाद सामाजिक सस्थाओ की रक्षा और प्रगति को प्रमुख मूल्य मानता है। कुल, ग्राम, जनपद, राष्ट्र, राज्य, भाषा, शिक्षा आदि मूल्यवान सस्थाए है जिनसे मनुष्यो का जीवन-समृद्ध होता है। इन मूल्यो पर बल देने के लिए ही सस्थाओ को देवता के रूप मे ग्रहण किया गया है। कुल देवता, ग्राम देवता, राष्ट्र देवता, वाणी देवी, विद्या देवी, आदि ऐसे प्रयोग है जो इन सामाजिक मूल्यो को पवित्र बनाने का प्रयास करते है। इसी प्रकार माता, पिता, आचार्य, अतिथि आदि को जब देवता के रूप मे स्वीकारा जाता है तो वास्तव मे उसको राज्य का प्रतीक माना जाता है। यदि राजा शुभेच्छा का व्रती है तो वह देवता है और यदि वह अधर्म का तथा अनीति का प्रतीक है तो उसे राक्षस कहा जाता है। इस प्रकार सामाजिक सस्थाओ के अध्यक्षो को सामाजिक शुभेच्छा के प्रतीक होने का प्रयास करना चाहिए। समाज मे प्रत्येक मनुष्य को सस्थागत मूल्या को उपलब्ध करने की इच्छा रहती है , अतएव उसे अपने स्वार्थ को सदैव परार्थ से समन्वय योग्य बनाने का प्रयास करना चाहिए। ऐसा न करने पर जो स्वार्थवाद व्यवहार मे आता है वह आत्मघाती होता है, क्योकि यदि समाज मे सभी मनुष्य स्वार्थी हो तो किसी का स्वार्थ सिद्ध नहीं हो सकता। वे आपस मे लडकर नष्ट हो जायेगे।

प्रो० पाण्डेय मानते है कि राजनीतिक मूल्यो मे राजनीतिक सत्ता का अनुभव प्रत्येक नागरिक को किसी न किसी रूप मे होना चाहिए। उसे यह अनुभव होना चाहिए कि वह अपने देश मे रहता है, जिस राज्य मे वह रहता है वह राज्य उसका सरक्षक है, राज्य पर जिस सरकार का आधिपत्य है वह उसकी सरकार है चाहे उसने उसको स्थापित होने के लिए उसके पक्ष मे मत दिया हो या न

यदि वे सामान्य श्रेय को छोडकर किसी वर्ग विशेष का श्रेय करने लगती है तो वे जनता को राजनीतिक शक्ति के अनुभव से वचित कर देती है। जब राजनीतिक दलो का सगठन सामाजिक और राजनीतिक मूल्यो के लिए नही होता अपितु कुछ वर्ग विशेष के हित मे होता है तब ऐसे राजनीतिक दल अपराधी प्रवृत्ति को बढाते है और उनसे सामाजिक शक्ति व्यवस्था को खतरा उत्पन्न हो जाता है। अत लोकायनवाद जिस लोकतन्त्र वाद को अग्रसर करता है उसमे ऐसे राजनीतिक दलो की आवश्यकता है जो देश-प्रेम और लोक सग्रह के लिए राजनीतिक शक्ति का यथा सभव जनता मे वितरण करे और किसी एक व्यक्ति मे राजनीतिक शक्ति पूर्णतया सीमित न हो।

8 4 मूल्यो की प्रकारता—(Kindness of values)

भारतीय मत—मूल्य पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ चार है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मानव जीवन के ये प्रयोजन है। इन्हे फल पदार्थ, परमार्थ, पुरुषार्थ और 'वर्ग' भी कहा गया है। ऐसा करने से इनके स्वरूप-निर्धारण मे सहायता मिलती है। सर्वप्रथम ये फल है। इसका तात्पर्य है कि ये फल के समान मधुर ओर सुखदायक हे। ये पदार्थ हे क्योकि ये तत्व हैं क्योकि ये स्वयमेव सत् है।

ये परमार्थ है क्योकि इनकी सत्ता स्वय इनपर ही निर्भर हैं। ये पुरुषार्थ है क्योकि ये पुरुष की चेतना के अनिवार्य पहलू हैं। पुरुष इन्हीं प्रयोजनो के कारण पुरुष है। यदि ये प्रयोजन पुरुष की चेतना के आकार-प्रकार मे व्याप्त न होते तो पुरुष उस प्रकार का न होता जैसा वह आज है। ये वर्ग है क्योकि पुरुष अनेक प्रयोजनो के वर्ग हैं। प्रत्येक प्रयोजन मे अनेक प्रकार से तारतम्यता है। जैसे—काम एक वर्ग है। इसमे अनेक प्रयोजन हैं , जैसे—सभोग का सुख, भोजन का सुख, सौन्दर्य-अनुभव का सुख तथा कलाकृति आदि के सुख। इसीप्रकार अर्थ और धर्म भी एक ओर स्वय प्रयोजन है और साथ ही वे अनेक प्रयोजनो के वर्ग है। लेकिन मोक्ष मे इस नियम का पालन नहीं होता है, इसी कारण मोक्ष को अपवर्ग कहा जाता है। अर्थात्-मोक्ष स्वय प्रयोजन तो है लेकिन प्रयोजनो का वर्ग नही है अतएव मोक्ष अपवर्ग है।

पश्चिमी दर्शन मे मानव-जीवन के प्रयोजन को मूल्य' कहा जाता है और मूल्यो का सम्बन्ध मनुष्य की मूल प्रवृत्तियो से लगाया जाता है। किन्तु मूल प्रवृत्तियॉ आधुनिक मनोविज्ञान मे अमान्य हो

गयी हे ओर इसकारण पश्चिम मे मूल्यो के तारतम्य का आधार ध्वस्त हो गया है। भारतीय दर्शन मूल्यो को मानव के आध्यात्मिक या तात्विक स्वरुप पर आधारित करता है। अत वह मूल्यो का एक ठोस तथा प्रामाणिक आधार देता है जो वर्तमान विश्व-दर्शन के लिए उपयोगी है। भारतीय दार्शनिक विचारधारा मोक्ष को चरम मूल्य मानती है। प्रो० पाण्डेय के अनुसार '**मोक्ष मूल्यमात्र का सार है।**'[1] अर्थात् जिस अनुभव से मोक्ष नही होता वह निरर्थक है। प्रो० पाण्डेय ने अपनी कृति 'ज्ञान, मूल्य और सत्' मे इसके लिए निम्नलिखित तर्क देते है—

(१) मोक्ष आप्तकामता की अवस्था है। आप्तकामता प्रत्येक कामना की सतुष्टि मे अनुभवगम्य है। अत मोक्षत्व की प्राप्ति से 'काम' की प्राप्ति होती है। पुन मोक्ष की इच्छा या मुमुक्षा सभी इच्छाओ या कामनाओ मे एक बलवती कामना है जिसके बल से अन्य कामनाएँ तिरोहित हो जाती है। इसकारण मोक्ष का सम्बन्ध काम' से हो जाता है। अन्तत काम की तृप्ति मे भी एक उन्मुक्तता का भाव होता हे। यह भाव मोक्ष का मूल्य है।

(२) मोक्ष स्वराज्य है। इसमे मनुष्य प्रभु होता है या प्रभवत्व को प्राप्त करता है। यह अवस्था शक्ति की प्राप्ति है। पुनश्च शक्ति की प्राप्ति मे एक स्वातत्र्य का अनुभव होता है जो मोक्ष का बीज है। इस प्रकार मोक्ष शक्तिप्रदाता है।

(३) मोक्ष परमार्थ है यह वह अर्थ है जिसकी तुलना मे समस्त अन्य द्रव्य या अर्थ नि सार हो जाते है।

(४) मोक्ष नि श्रेयस् है। वह परमकर्तव्य है। इसलिए मोक्ष ही धर्म की आत्मा है। फिर धर्म वही है जो विघ्न-बन्धन से मुक्ति दे, अपने कर्ता का कल्याण या श्रेय करे। इस रूप मे धर्म स्वय मोक्ष का वाहक है।

(५) मोक्ष भगवत्प्राप्ति है। जो मोक्ष प्राप्त करता है वह भक्त है और जो भक्त है वह मोक्ष प्राप्त करता है या कर सकता है। इसलिए भक्त और मुक्त पुरुष मे अन्तर नहीं किया जा सकता है। पुन भक्ति प्रेमास्पद है। वह परमात्मा मे अनुरक्ति है। यही मोक्ष-दृष्टि भी है।

उपयुक्त हेतुओ पर विचार करने से सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक पुरुषार्थ का मूल्य मोक्ष मे हे। अर्थात **मोक्ष ही एकमात्र पुरुषार्थ** है। अन्य पुरषार्थ मोक्ष के ही विविध रूप है।

8 5 मूल्यो के तारतम्य

प्रो० पाण्डेय के अनुसार अर्थ, शक्ति काम, धर्म, भक्ति और मुक्ति छ पुरुषार्थ है। कुछ लोग इनमे से प्रत्येक पुरुषार्थ मे एक तारतम्य मानते है। ये तारतम्य क्रमश अर्थ-तारतम्य, शक्ति-तारतम्य, काम-तारतम्य, धर्म-तारतम्य, भक्ति तारतम्य और मुक्ति-तारतम्य है। पहले तारतम्य के अनुसार जो अधिक सुख दे वह श्रेष्ठ मूल्य है और जो अधिक दु ख दे वह सबसे बडा अपमूल्य है। इस प्रकार दु खी और अधिक दु खी सुखी और अधिक सुखी पुरुषो के विभाजन किए जा सकते हैं। दूसरे तारतम्य के अनुसार निर्बल सबल और अधिक सबल के अनुसार विभेद है जो अल्पशक्ति और अत्यधिक शक्ति के द्योतक है।

तीसरे तारतम्य के अनुसार—अधिक कामी और कम कामी के विभेद है और यह तारतम्य काम-तृप्ति का तारतम्य है। चौथा तारतम्य धर्म का तारतम्य है जिसके अनुसार कर्तव्य की विभिन्न श्रेणियॉ या कोटियॉ निर्धारित की जाती है। इन कर्तव्यो मे नित्य-कर्म, नैमित्तिक कर्म और काम्य कर्म के भेद किए जाते है किन्तु यहॉ इन पदो का वह सकुचित अर्थ नहीं है जो हिन्दू धर्म मे किया गया है। इन तीन प्रकार के कर्तव्यो के अन्दर भी अनेक छोटे-बडे कर्तव्य है जो विभिन्न अधिकारियो की मॉग करते है। सेवा, कृषि-उद्योग, शासन तथा ज्ञानोपदेश के चार कर्तव्य नित्य कर्तव्य ये अन्तर्गत आते है जो क्रमश शुद्र वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण के कर्तव्य है। कर्तव्य का यह विभाजन मनुष्यो की स्वाभाविक क्षमता के आधार पर किया गया है। यदि इस विभाजन को नित्य और प्रगतिशील मान लिया जाय तो यह आज भी अन्य तारतम्यो की भॉति उपयुक्त है। इस आधार पर जन्मत ब्राह्मण,

क्षत्रिय वेश्य और शुद्र होने के बजाय लोग कर्मणा ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शुद्र होते रहेगे। किन्तु यह तारतम्य जिसमे शुद्र से अच्छा वैश्य है और वैश्य से अच्छा क्षत्रिय है तथा क्षत्रिय से अच्छा ब्राह्मण है, केवल नित्य और नैमित्तिक कर्म का तारतम्य है। काम्यकर्म के द्वारा शुद्र वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण से भी श्रेष्ठ हो सकता है। पॉचवॉ तारतम्य है भक्ति का तारतम्य।

यह अन्य तारतम्यो की भॉति प्रमुखत साधन भक्ति या अपराभक्ति और साध्य भक्ति या पराभक्ति का विभेद प्रस्तुत करता है। इनमे भक्तो की अनेक श्रेणियॉ मानी गयी है जिनमे से अर्थार्थी आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी मुख्य माने गये है। अर्थार्थी से आर्तभक्त, आर्त से जिज्ञासु और जिज्ञासु से ज्ञानी भक्त अच्छे माने जा सकते है।

अन्त मे, षष्ठ तारतम्य 'मुक्ति का तारतम्य है जिसके अनुसार मुक्ति चार प्रकार की बतलायी जाती हे—

(१) जो सबसे निम्न है वह 'सालोक्य मुक्ति' है जिसको पानेवाला मनुष्य भगवान के लोक मे निवास करता है।

(२) सालोक्य मुक्ति से अच्छी सामीप्य मुक्ति' है जिसको पानेवाला मनुष्य भगवान् के समीप निवास करता है।

(३) सामीप्य मुक्ति से अच्छी 'सारुप्य मुक्ति' है जिसको पानेवाला मनुष्य भगवान् के समान रुपवाला हो जाता है।

(४) अन्तत सारुप्य मुक्ति से भी अच्छी 'सायुज्य मुक्ति' है जिसको पानेवाला मनुष्य भगवान् मे घुलमिल जाता है।

स्पष्ट है कि भगवान् मूल्यो की मूर्ति है। मनुष्य इस मूर्ति के जितना निकट जाता है वह उतना ही अधिक मूल्य-लाभ करता है। जो मनुष्य भगवान से जितना ही दूर जाता है वह उतना ही पातकी होता है। उत्थान और पतन का यह तारतम्य ऊपर से दैशिक तारतम्य या निकट-दूर का तारतम्य लगता है, किन्तु वास्तव मे यह दैशिक रुपक है और इसका अर्थ आध्यात्मिक है। मूलत. यह ज्ञान का तारतम्य है जो अपने साथ स्वतत्रता का भी तारतम्य समेटे हुए है।

मूल्यो का अनेकस्तरीय तारतम्य भी निश्चित किया गया है। इसका एक तारतम्य यह है कि अर्थ से बडी शक्ति है, शक्ति से बडा काम है, काम से बडा धर्म है, धर्म से बडी भक्ति है और भक्ति से बडी मुक्ति (मोक्ष) हे। यह तारतम्य बडाई या ऊँचाई का तारतम्य है। बडाई का यहॉ दो अर्थ है—

(१) जो बडा हे वह अपने अन्दर अपने से छोटे को शामिल करता है। किन्तु यह अर्थ मूल्यो के तारतम्य को एक भोतिक रुप देना है लेकिन मूल्य भौतिक नही है। जैसे—सतोष को भले ही बहुत बडा धन कहा जाय लेकिन वह भोतिक अर्थ मे धन नहीं है। भक्ति को भले ही बहुत बडा आनन्द कहा जाय किन्तु वह काम-सुख नही है। अतएव मूल्यो के तारतम्य मे बडाई का अर्थ दैशिक लघुता-गुरुता या सकोच—विस्तार नही है।

(२) दूसरा अर्थ आत्म-गौरव है इस आत्म-गौरव का मानदण्ड ज्ञान और स्वतत्रता की मात्रा की अनुभूति से होता है। इस दृष्टि से भक्ति से जितनी स्वतत्रता मिलती है उतनी धर्म से नहीं' और पुन धर्म से जितनी स्वतत्रता तथा ज्ञान मिलता है उतना 'अर्थ' से नहीं।

इस प्रकार यदि अनेक स्तरीय मूल्यो को हम किसी सोपान मे रखे तो वह सोपान साध्य-साधन का सम्बन्ध होगा। यही वास्तविक सम्बन्ध मूल्यो का असली तारतम्य है।

मूल्य-सदर्भित प्रो० पाण्डेय के विचार

प्रो० पाण्डेय महोदय ने बुद्धिवादी प्रवृत्तियो मे बहुमूल्यात्मक विषयता माना है। इस सदर्भ मे वे कहते है कि यद्यपि मनुष्य को सर्वसम्मति से बुद्धिमान प्राणी माना गया है, तथापि उसे अपने दर्शन का निर्माण करने को नहीं कहा जाता।[1] प्राय मनुष्य को लोकरीति, इन्द्रिय-प्रत्यक्षीय साक्ष्य और आर्षज्ञान या प्रातिभ ज्ञान के आधार पर दर्शन के अनुसधान करने के लिए कहा जाता है। इस आधार पर बुद्धि को क्रमश लोकज्ञान, प्रत्यय ज्ञान तथा प्रातिभ ज्ञान से उत्पन्न माना गया है। इससे स्पष्ट है कि बुद्धिवाद या तो लोकज्ञान है, या प्रत्यक्षवाद या प्रातिभवाद।

---

१ पाण्डेय एस० एल०—'ज्ञान मूल्य और सत्' साहित्य वाणी, इलाहाबाद 1973 पृ०-17

प्रो० पाण्डेय का मत हे कि यदि मनुष्य बुद्धिमान प्राणी न होता तो उसके लिए लोकज्ञान प्रत्यक्षवाद या प्रातिभज्ञान पर्याप्त होते , किन्तु यदि वह बौद्धिक प्राणी है तो कोई ऐसा वाद उसे मान्य नही हो सकता जिसमे बुद्धि की अवहेलना है या बुद्धि को पूर्वाग्रहो स ग्रस्त कर दिया गया है। बुद्धि ज्ञान का मौलिक या प्राथमिक साधन है। वह लोकज्ञान प्रत्यक्षज्ञान तथा प्रातिभ ज्ञान से उत्पन्न नही होती है। वह मानव चेतना का लक्षण है और इस कारण मानव चेतना से उसका अनिवार्य सम्बन्ध है।[1] प्रत्यक्ष को बुद्धि की प्रागपेक्षा है। विशुद्ध प्रत्यक्ष या सवेदना जिसमे बुद्धि का कोई अनुभव नही हे अचिन्त्य है या बुद्धि से अगोचर है और जो बुद्धि से अगोचर है उसके बारे मे कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

जो लोग कहते है कि सवेदो या प्रत्यक्षीकृत प्रत्ययो के बारम्बार घटित होने से बुद्धि उत्पन्न होती हे, वे यह भूल जाते है कि सवेद बिना बुद्धि के उत्पन्न ही नही हो सकते। वास्तव मे बुद्धि के उत्पत्ति-प्रदर्शन मे सिद्ध-साधन दोष' है।[2] अर्थात् हम बुद्धि को जिस वस्तु से उत्पन्न दिखलायेगे उस वस्तु को स्वय पहले बुद्धि का कारण नही कह सकते है। इससे सिद्ध होता है कि बुद्धि अनुत्पत्तिधर्मी है। यदि तर्कत मान भी लिया जाय कि बुद्धि उत्पत्तिधर्मी है तो इसकी उत्पत्ति और इसका कारण दोनो इसके लिए अगोचर है। अतएव इसको न तो ग्रहण किया जा सकता है और न ही इसके बारे मे कोई प्राक्कथन किया जा सकता है क्योकि जो अचिन्त्य है वह अव्यपदेश्य है। जो लोग बुद्धि को मात्र अतीत दृष्टि (Hindsight) कहते है, क्या वे प्रथम दृष्टि तथा अतीत दृष्टियो के आनन्तर्य को बुद्धि के बिना जान सकते है ? स्पष्ट है कि ये सभी बुद्धिगोचर हैं और इसकारण बुद्धि के जनक होने के स्थान पर स्वय बुद्धिजन्य है।

प्रो० पाण्डेय का मानना है कि बुद्धि को प्रत्यक्ष की आवश्यकता है। इससे बुद्धि की मौलिकता पर कोई असर नही पडता। काण्ट ने स्पष्ट कहा कि "बुद्धि के अभाव में प्रत्यक्ष अन्ध है और प्रत्यक्ष

---

१ उपरोक्त पृ०-1४

२ वही पृ०-19

के अभाव मे बुद्धि रिक्त है।' किन्तु काण्ट ने बुद्धि और प्रत्यक्ष की अन्योन्याश्रितता को एकरूप नही कहा हे। बुद्धि व्यापक हे और प्रत्यक्ष व्याप्त बुद्धि सामान्य है तो प्रत्यक्ष विशेष बुद्धि आधार है और प्रत्यक्ष आधेय। दोनो का सम्बन्ध ऐसा नही है कि वे एक-दूसरे का स्थान ले ले। दोनो को एक मानना अध्यास है। प्रत्यक्ष स्वय प्रमाणित नही है। उसे परत प्रमाण्य (बुद्धि) की अपेक्षा है।

प्रो० पाण्डेय मूल्य को मूल्यात्मक मानते है और वस्तुओ को 'मूल्य' मानते है।[1] जो सत् (ज्ञान) है उसका मूल्य तो है ही, साथ ही जो असत् (अज्ञान) है उसका भी मूल्य हे। सुख-दु ख के भी अपने-अपने मूल्य हे। इस प्रकार मूल्यो के जगत् मे मूल्यो के अतिरिक्त और कुछ नही है। जिन्हे हम अपमूल्य कहते है वे वस्तुत किसी-न-किसी सदर्भ मे मूल्य है। अपमूल्य' मूल्य का अभाव या निम्नतम मूल्य नही है, वह भी एक प्रकार का मूल्य ही है। इस तरह मूल्य और अपमूल्य की समस्या भी मूल्यमीमासा' मे हल हो जाती है। पाण्डेय जी ज्ञान, वस्तु और मूल्य को समानार्थक मानते है।[2] इस अर्थ मे पाण्डेय महोदय 'पुरुष' शब्द को उद्धृत करते है। पुरुष ही अर्थ है। पुरुष की जो अवधारणा है वही पुरुषार्थ की अवधारणा है। जो लोग पुरुष को भौतिक मानते है उनके अनुसार पुरुषार्थ भी भोतिक है जो लोग पुरुष को आध्यात्मिक मानते है, उनके अनुसार पुरुषार्थ भी आध्यात्मिक है। अर्थात् पुरुष को जो जैसा मानेगा पुरुषार्थ भी वैसा ही होगा। पुरुष का स्वरुप चैतन्य है। यह चैतन्य ही पुरुषार्थ है। चैतन्य कभी पुरुषार्थ से वचित या रिक्त नहीं है और चैतन्य कभी पुरुषार्थ से पृथक् नही है। अर्थात् पुरुषार्थ से चैतन्य का ज्ञान होता है और चैतन्य से पुरुषार्थ की सत्ता होती है।

मूल्य' न तो विषयगत है और न ही वस्तुगत। जो कुछ विषयगत (Subjective) है वह पुरुष से पृथक् है और जो कुछ वस्तुगत (Objective) है वह अर्थ से पृथक् है। इस प्रकार मूल्य पुरुष और अर्थ दोनो के पारस्परिक अनुप्रवेश को सिद्ध करने के कारण विषयगत-विषयिगत की कोटियो से परे है। इसी कारण वह जड और चेतन की कोटियो से भी परे है। मूल्य व्यवहारत असत् हैं और

यथार्थत सत् है। वे भाव या सत् से विलक्षण है। सत्ता या भाव पर उनका अधिकार है वे सत्

तथा अभाव या असत की अग्रसित दशा हैं। अत उन्हे सत्य कहा जाता है। वे ऐसे सत् है जिन्हे होना चाहिए। उनके अस्तित्व मे एक ओर भवितव्यता का दावा है तो दूसरी ओर उसके ओचित्य का विधान हे। इसकारण उन्हे भाव और अभाव के मध्य का भी कहा जा सकता है। जो प्रवर्तमान (Becoming) है वह बहुरुप या परिवर्तनशील होता है, किन्तु मूल्य एकरुप है, अत प्रवर्तमान नही हे।

8 6 तारतम्य की मूल्यवत्ता

प्रो० पाण्डेय के अनुसार नीतिशास्त्र के इतिहास मे मूल्यो को हेतु-फलवाद के आधार पर रखा गया। सुखवादी सभी मूल्यो को दुख-सुख के तारतम्य मे रखते है। इनके मत से जो सुखद है वही मूल्यवान् है। धर्मवादी सभी मूल्यो को अधर्म-धर्म के तारतम्य मे रखते हैं। उनके मत से जो धर्म है वही मूल्यवान् है। धर्मवादी धर्म को हेतु और सुख को फल बताते हैं। इसके पिरीत सुखवादी सुख को हेतु ओर धर्म को फल बताते है। इसके विपरीत सुखवादी सुख को हेतु तथा धर्म को फल बताते हे। शकराचार्य ने सभी मूल्यो को पहले सुख के तारतम्य मे रखा है और बाद मे उसके आधार के रूप मे उन्होने धर्म-तारतम्य को स्वीकार किया है। इसके अनन्तर वे धर्म के तारतम्य का भी हेतु अधिकारि-तारतम्य को बताते है। इस प्रकार उनके मत से मूल्यो के तारतम्य का प्रमुख हेतु अधिकारि-तारतम्य है। अधिकारी पुरुष ही अपने अधिकृत मूल्य का लाभ कर सकते है। जिस व्यक्ति का जिस मूल्य मे जितना सस्कार है अथवा जिस व्यक्ति का जितना मूल्यबोध है उसको उतना ही अधिक या कम मूल्य-लाभ होगा।

प्रो० पाण्डेय मानते है कि मूल्यो को हेतु-फलवाद के अनुसार रखना एक दोष है जिसको आधुनिक अग्रेज दार्शनिक जार्ज एडवर्ड मूर ने प्रकृतिवादिता का दोष (Naturalistic fallicies) कहा है। धर्मवाद और सुखवाद मे यह दोष है। किन्तु शकराचार्य के मत मे यह दोष नहीं हैं क्योंकि उन्होने हेतु-फलवाद के आधार के रुप मे मूल्यबोध के तारतम्य को अथवा उनके शब्दो में कहे तो अधिकारि-तारतम्य को मान लिया है जो वास्तव मे साध्य-साधन के तारतम्य को आत्मसात् करने

वाला ज्ञान है। अत शकराचार्य ने मूल्या के जिस तारतम्य का सकेत किया है[1] वह धर्मवाद और सुखवाद की अपेक्षा अधिक उचित और पर्याप्त है। वह विशुद्ध मूल्यात्मक कसौटी है।

उपर्युक्त छ मूल्यो को साध्य-साधन के तारतम्य मे रखने से उनकी मर्यादा का निर्धारण हो जाता हे। अर्थ वही और उतना ही मूल्यवान् है जितना वह शक्ति-वर्धक है, शक्ति वही और उतनी ही मूल्यवान् है जितनी वह काम-वर्धक है, काम वही और उतना ही मूल्यवान् है जितना वह भक्ति-वर्धक है और भक्ति वही और उतनी ही मूल्यवान् है जितनी वह मोक्षदायिनी है। मोक्ष की कोई सीमा या मर्यादा नही है क्योकि वह स्वत असीम और अलौकिक है और इसलिए सभी मर्यादाओ से मुक्त है। राभी मर्यादाएँ लौकिक मूल्यो की होती है।

इससे अर्थ, शक्ति काम, धर्म और भक्ति के गुण-दोष प्रकट हो जाते है। जिस और जितने अर्थ से कोई शक्ति न मिले वह व्यर्थ है क्योकि वह अतिन्यून है। पुनश्च जिस और जितने अर्थ से अर्थ स्वय साध्य हो जाता है वह भी व्यर्थ है क्योकि वह शक्ति का साधन नहीं रह जाता। वह अति-अधिक हो जाता है। इस प्रकार एक ओर अतिन्यूनता और दूसरी ओर अत्यधिकता दोनो दोष है—दोनो दो अतियॉ है। इसी को कहा जाता है कि अति सर्वत्र वर्जित होनी चाहिए। इसी प्रकार शक्ति, काम धर्म और भक्ति मे भी अति वर्ज्य है क्योकि वह स्वत साध्य-पद पर प्रतिष्ठित हो जाती है और उससे क्रमश मोक्ष का साध्य निष्पादित नही होता है। इस प्रकार मोक्ष के अतिरिक्त अन्य सभी गूल्यो की एक मर्यादा है। इसको हम मूल्य-मर्यादा का सिद्धान्त कह सकते है। इस दृष्टि से अरिस्टाटिल का माध्यम का सिद्धान्त तथा बौद्धो का मध्यमापतिपद् का सिद्धान्त मूल्यो के वास्तविक निकष है। मूल्यो का साध्य-साधन-सोपान उनके न्यूनतम तथा अधिकतम रूप का निर्धारण करता है।

इस प्रकार जब किसी कर्म या मनुष्य का मूल्याकन किया जाय तब उसके मूल्याकन के कुल छ आयाम सिद्ध होते है। प्रत्येक आयाम मे उसका जो स्थान होगा और उस आयाम का जो स्थान होगा उसके अनुसार उसका मूल्याकन होगा। कोई मनुष्य काम मे क$_1$ स्थान पर हो सकता है, शक्ति मे श$_1$ स्थान पर, धर्म मे ध$_1$ स्थान पर, भक्ति में भ$_1$ स्थान पर और मोक्ष मे म$_1$ स्थान पर। इस प्रकार

---

१ शारीरक भाष्य-I-I 4

वह मनुष्य इस मूल्याकन से क$_1$, श$_1$ अ$_1$, ध$_1$ भ$_1$, म$_1$, हुआ। यदि इस मूल्याकन मे हम 'है'' या होना को जोड दे तो फिर हम किसी मनुष्य को हे (अ$_1$ श$_1$, क$_1$ ध$_1$, भ$_1$, म$_1$) कह सकते है। इस प्रकार मनुष्य=हे (अ$_1$ श$_1$ क$_1$ ध$_1$ भ$_1$ ओर म$_1$,) जबकि हे का मतलब अ$_1$ श$_1$ क$_1$ ध$_1$ भ$_1$ और म$_1$ को प्राप्त करने वाला कोई वास्तविक व्यक्ति है।

मनुष्य अ$_1$, श$_1$ क$_1$, ध$_1$ भ$_1$ और म$_1$ मे भी क्रमश निम्नतर से उच्चतर मूल्य का सबन्ध हे। अत क$_1$ यदि काम की प्राप्ति मे पर्याप्तता है और श$_1$ शक्ति की प्राप्ति मे पर्याप्तता नहीं है तथा इसी प्रकार अ$_1$ ध$_1$, भ$_1$ और म$_1$, मे कोई प्राप्ति पर्याप्त है और कोई नहीं है, तो इन सब कसौटियो के आधार पर उस मनुष्य को अच्छा या बुरा कहा जायगा।

इससे सिद्ध है कि मनुष्य के मूल्य-लाभ का मूल्याकन करने की छ कसौटियॉ है जो आपस मे विभिन्न अनुपात मे मिल सकती है। अत मूल्य लाभ की कसौटी अत्यन्त जटिल है। वह एकरेखीय या सरल नही है। वह सिद्धान्तत बहुप्रकारक है।

किन्तु क्योकि मोक्ष सर्वोपरि मूल्य है और अन्य सभी मूल्य परम्परया उसके साधन ही है, अत मोक्ष के आधार पर बहुधा मनुष्यो के मूल्य-लाभ का मूल्याकन किया जाता है। यह मूल्याकन जहॉ तक बुद्धिगोचर कसौटी पर आश्रित है वहॉ तक यह भी बहुप्रकारक है क्योकि इसमे अन्य मूल्यो के लाभ का भी विचार शामिल रहता है। किन्तु जहॉ तक यह कसौटी अगम और अविगत अनुभव पर आधारित है, वहॉ तक इसके बारे मे कुछ कहा नही जा सकता है। उस परिस्थिति मे मूल्यमीमासा रहस्यवाद हो जाती है ओर मोक्ष का वर्णन उसका अनुभव करना ही कहा जा सकता है। मूल्यो के जिस सोपान को हम प्रस्तावित करना चाहते है वह वास्तव मे छ आयामो मे सपृक्त है। इसमे मोक्ष-लाभ का भी सत्यापन हो जाता है। जिसने मोक्ष लाभ किया है वह निसन्देह काम, शक्ति, अर्थ, धर्म और भक्ति के आयामो मे कहीं-न-कहीं अवश्य होगा। अत उसका भी मूल्याकन मनुष्य के मूल्याकन के उपर्युक्त सूत्र से हो जाता है। उसमे से यदि मोक्ष-आयाम के स्थान को हटा दे, तो भी मनुष्य का मूल्याकन हो सकता। इस दृष्टि से भक्ति ही परम पुरुषार्थ कही गयी है किन्तु भक्ति स्वय अपने मे मूल्यवान् होते हुए भी परमार्थत ज्ञान-वर्धक ही है, भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते। अत वह मोक्षदायक मानी गयी है।

उपसंहार : अध्ययन की उपलब्धियॉ, सीमाएं एवं चुनौतियॉ

समकालीन भारतीय विशेषत स्वातन्त्र्योत्तर मूल्य-दर्शन का समीक्षात्मक अध्ययन परिपूर्ण करते हुए अपार हर्ष एव सतुष्टि की अनुभूति हो रही है शायद यही मेरी सकीर्ण सीमाओ एव लघुतर उपलब्धियो का द्योतन है। हमने बीसवी शताब्दी के मूल्यविषयक दार्शनिक चितन का अवगाहन किया–'जिमि पिपीलिका सागर थाहा' और साथ ही पिछली शताब्दी के महत्वपूर्ण चितको के तद्विषयक विचारो को भी समझने की कोशिश की। युग-सन्धि के उषःकाल मे अध्ययन का यह फेलाव सक्रमणकालीन युग की मॉग है। इस प्रयास मे अध्येता सामाजिक आर्थिक एव राजनेतिक स्थितियो, मानव-जाति की मूलभूत जरूरतो तथा उनसे सबन्धित मूल्य-बोध को दृष्टि-पथ मे लेकर चला है। मानव-मूल्यो एव तत्सबन्धित अनुभूतियो के आइने मे चितको के विचार स्पष्टतर रूपाकार धारण करते हैं। प्राचीन एव मध्यकालीन चितक (ऋषि, सत एव भक्त) चरममूल्य-मोक्ष के परिप्रेक्ष्य मे जीवन-मूल्यो का ताना-बाना बुनते है। धर्मशास्त्रो के लेखक समष्टि-जीवन के तत्वो को व्यष्टि जीवन मे उतारने के पक्षधर है। धर्मशास्त्रो के चितक लेखको ने चरम मूल्य के परिप्रेक्ष्य मे पूरी सजीदगी से जीवन-मूल्यो को परिभाषित एव विश्लेषित ही नही किया प्रत्युत वैयक्तिक-सामाजिक जीवन मे उसकी सम्यकभूमिका का निरुपण भी किया , और साथ ही जनसाधारण को उनके परिष्कार एव पोषण के लिए प्रबोधित भी किया। चरम-मूल्यो की उपलब्धि की दृष्टि से आधुनिक भारतीय विचारक नैतिक जीवन को अधिक महत्वपूर्ण मानते है। उन्होने सत्य अहिसा प्रेम ब्रह्मचर्य आदि नैतिक सदगुणो की मूल्यवत्ता का गहन विश्लेषण एव निरुपण किया। राजा राममोहन राय स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द एव अन्य विचारक व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन मे नैतिक-मूल्यो की महत्ता का प्रकाशन करते है। धर्म को कर्म से समीकृत करते हुए तिलक जोर देते है कि अपने कर्तव्यो का निष्ठापूर्वक पालन करते हुए मनुष्य मन मे सजोए आदर्श-मूल्यो की उपलब्धि कर सकता है। टैगोर का मानवधर्म वास्तव मे सबके लिए प्रेम का धर्म है। टैगोर मानव-प्रेम को पारलौकिक मूल्यो से तुलित करते है 'मानुस प्रेम भया बैकुठी।" महात्मा गॉधी नैतिक मूल्यो का उन्नयन करते हुए धर्म से नैतिकता का अपृथकसिद्ध सबन्ध निरुपित करते हैं। नैतिक-आधार के बगैर कोई व्यक्ति धार्मिक नही हो सकता। गाधी जी सत्य एव अहिंसा के आदर्शो से पोषित मानव-सेवा को ही धर्म

कहते है। उन्होने नैतिक मूल्यो का गहन चिंतन किया और उनके चरितार्थन की राह दिखाई। अपने समकालीनो की अपेक्षा महात्मा गाँधी विशुद्ध नैतिक-धार्मिक-आध्यात्मिक महाचितक है। पारिभाषिक अर्थ मे वे न तो तत्व-दार्शनिक है न ही उन्हाने ऐसा दावा किया। उन्होने मानव-जीवन की बहुविध समस्याओ का मूल्यवादी समाधान प्रस्तुत किया। गाधी जी मानव-जीवन की अर्थवत्ता मानव-सेवा एव न्याय-धर्म की स्थापना मे देखते है। उच्च क्रांति के जीवन-पथ पर बढने के लिए प्राय प्रत्येक क्षेत्र मे धन-सपत्ति, मान-सम्मान यश आदि प्रतिरपधात्मक तृष्णा के प्रति कमोवेश विरक्ति-उदासीनता की भावना आवश्यक है। ऐसा ही कुछ साचत हुए महात्मा गाधी धर्म-अध्यात्म की साधना को शेष जीवन से अलग रखने के पक्षधर नही थे। वे समस्त मानव क्रियाकलापो मे आध्यात्मिक मनावृत्ति की सुगध ओत-प्रोत देखना चाहते थे। श्री अरविद ने नैतिक मूल्यो को मानव-जाति के वर्तमान चेतसिक-स्तर के विकास मे महत्वपूर्ण सोपान माना। शरीर मन एव हृदय को पवित्र करने वाले नैतिक-मूल्य अतिमानस-स्तर की उपलब्धि मे सहायक है। डा० राधाकृष्णन के अनुसार नैतिकता के धरातल पर ही आत्मपूर्णता का चरम-साध्य सधता है।"

आधुनिक भारतीय चितक जीवन के धार्मिक-आध्यात्मिक साध्य ईश्वर-साक्षात्कार एव आत्म-साक्षात्कार की मूल्यवत्ता का अवमूल्यन नही करते अपितु उसे जागतिक जीवन से सयुक्त मानते है। ईश्वर-साक्षात्कार के लिए आधुनिक चितक वन या गुहा की शरण नही लेते प्रत्युत् ईश्वर-सृष्ट मानव की सेवा मे ईश्वर-सेवा का मूल्य-बोध प्राप्त करते है। विवेकानन्द अश्पृश्यो एव चाण्डालो के हालात से द्रवित एव विचलित हाकर उनके उन्नयन का उद्घोष करते है। उन्होने भूखे, प्यासे और नगे लोगो का जीवन स्तर उठाने का आह्वान किया , उनसे जो भूख प्यास और—नगई से उपर उठ चुके हैं, और उच्च जीवन-स्तर भोग रहे है। तिलक मातृभूमि की सेवा मे तल्लीन है। टैगोर का ईश्वर गगनबिहारी न होकर दुर्बल, गरीब पीडित, मन्दतम लोगो मे वास करता है। महात्मा गाधी एव उनके शिष्य आचार्य विनोवा के ईश्वर 'दरिद्रनारायण है और उनकी सेवा करते हुए मनुष्य ईश्वर-साक्षात्कार कर सकता है। श्री अरविन्द का अतिमानस मानव-व्यक्तित्व की आध्यात्मिक पूर्णता का प्रतीक है। ब्रह्म या परमतत्व किसी अन्य लोक मे नही रहता। डा० राधाकृष्णन् का (Absolute) जो वैश्विक-दृष्टि से ईश्वर है , सक्रिय जीवन से पलायन की माँग नही करता। विशुद्ध सैक्युलर व्यक्तित्व के मूर्तरूप प० नेहरु अपनी मातृभूमि की बहुमुखी प्रगति

एव सपन्नता को जीवन का साध्य मानते है। इसप्रकार नव-जागृत भारत के आधुनिक पैगम्बर निवृत्तिमार्गी पलायन की बात नही करते प्रत्युत अपने सक्रिय विचारो एव सुधारवादी कृत्यो से कर्मवादी जीवन-दृष्टि का गोरव-गान करते हे। फलत आधुनिक भारत की आबोहवा मे निवृत्ति एव वैराग्य पर प्रवृत्ति एव सेवा-भाव को वरीयता मिली ओर दबी-कुचली-शोषित मानवता के पेरोकार एव सेवक इन अभिनव सन्यासियो को आम जन ने सर्वोच्च आदर ओर प्रेम से पुरस्कृत किया।

स्वातन्त्र्य पूर्व भारतीय चिंतको पर पाश्चात्य प्रत्ययवादी दार्शनिक हीगेल एव ब्रेडले का गहरा प्रभाव हे। टेगोर हीगेल की तरह प्रकृति को परमतत्व या 'एब्सोल्यूट' की अभिव्यक्ति मानते है। प्रकृति का अप्रतिम सोदर्य ब्रह्म या परमतत्व की रहस्यमय अभिव्यक्ति है। महात्मा गाधी ने ईसाई मत के प्रेम एव सेवा के आदर्श मूल्य को ज्ञान एव वेराग्य की भारतीय विरासत से सयुक्त किया। श्री अरविद ने पौर्वात्य अन्तर्पूर्णता को पाश्चात्य विकासवाद से सयुक्त कर एक सर्वथा नई और मौलिक जीवन-दृष्टि का प्रवर्तन किया। ब्रेडल ओर बोसाके की तरह श्री अरविन्द निश्चयपूर्वक नैतिक मूल्यो को चरम मूल्योपलब्धि का साधन-भर मानते हे स्वय साध्य नहीं। साक्रेटीज प्लेटो से लेकर—ब्रैडले बोसाके एव ह्वाइटहेड तक विज्ञानवादी दार्शनिक सत ओर मूल्य मे आन्तरिक सबन्ध मानते हे। डा० राधाकृष्णन विज्ञानवादी मूल्य-दृष्टि से प्रेरित ओर प्रभावित ह।

स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय विचारक कार्ल मार्क्स ओर महात्मा गाधी के सहयुक्त प्रभाव मे अपने मूल्यानुचितन का प्रकाशन करते हे। आचार्य विनोवा कार्ल मार्क्स को 'महामुनि' की सज्ञा से अभिहित करते हे। विनोवा भावे की आर्थिक क्राति मार्क्स के चितन पर आधारित है लेकिन गाधीवादी भावना के अनुरूप वे रक्तपूर्ण क्राति के पेरोकार नही है। लोगो के मनोमस्तिष्क और मूल्यानुचितन का क्रमिक परिवर्धन-सवर्धन करते हुए आचाय विनोवा रक्तहीन क्राति का आह्वान करते है। भूदान आन्दोलन मूलत नैतिक आधार पर व्यक्तिगत सपत्ति के खात्मे ओर भूमि के समान वितरण का महायज्ञ है। आचार्य नरेन्द्रदेव एव डा० राम मनोहर लोहिया समाज-दार्शनिक है, किन्तु दोनो विचारक मार्क्स और गाधी से प्रभावित होते हुए भी कई दृष्टियो से उनसे मत-वेभिन्य रखते हैं। दोनो मार्क्सवाद के द्वन्द-न्याय को अपने

चितन का आधार बनाते ह परन्तु आचार्य नरेन्द्रदेव व्यक्ति को साधन ओर साधक के साथ-साथ साध्य मानते हुए मनुष्य के समग्र-विकास का मानव-जीवन का ध्येय मानते हे , वही डा० लोहिया उपरोक्त के अलावा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की महत्ता पर अधिक जोर देते हे। डा० लोहिया मार्क्स के द्वन्दात्मक जडवाद को सर्वाग-पूर्ण नही मानते क्योकि मार्क्सवादी द्वन्दवाद की कोख से जडतावादी समाज का प्रादुर्भाव ही हो सकता है जीवन्त समाज का नही। अस्तु डा० लोहिया जीवन्त एव बहुविधि-सपन्न समाज के उदय के लिए भोतिकता के युगपत आध्यात्मिकता को भी स्वीकार करते हे। आचार्य नरेन्द्रदेव का साध्य एक शोषण ओर शोषक विहीन राज्य की परिकल्पना का चरितार्थन हे, जहाँ व्यक्ति को भावाभिव्यक्ति की पूरी छूट हो। समाजवादी क्रांति के लिए आचार्य वर्ग-सघर्ष का साधन मानते हे। डा० लोहिया मनुष्य, उसकी स्वतत्रता एव लोकतत्र का अधिक मूल्यवत्ता प्रदान करते हे और अहिसात्मक-क्राति और ह्रदय परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन का साधन मानते हे। अस्तु निसदेह कहा जा सकता है कि डा० लोहिया ही विकसित गाधीवादी हे क्योकि उन्होने गाधीवादी जीवन-दृष्टि के सवर्धन का प्रयत्न किया। उन्होने मानव-व्यक्तित्व के समग्र विकास के मद्देनजर अपना जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया। मार्क्स के सामने मात्र एक खतरा था पूँजीवाद परन्तु लोहिया के समक्ष पूँजीवाद जातिवाद, सम्प्रदायवाद, क्षेत्रवाद भाषावाद, साम्यवाद परमाणु बम जेसे घातक शस्त्रो के रूप मे विनाशक हिसा इत्यादि भयावह खतरे है। इनके विरुद्ध सघर्ष के लिए उन्होने लोकतत्र, समाजवाद सिविलनाफरमानी अहिसक क्राति एव विश्व सरकार नामक पॉच अस्त्र दिये। इस प्रकार डा० लोहिया ने विश्व के सम्मुख एक आदर्शोन्मुख व्यावहारिक समाज-दर्शन प्रस्तुत किया।

•

अभिनव शकराचार्य स्वामी करपात्री जी वेदान्तिक परपरा के मूल्य-द्रष्टा स्रष्टा एव वाहक है उन्होने वेदो से लेकर हनुमान चालीसा तक मे वर्णित जीवन-मूल्यो के पुनर्स्थापन, सरक्षण एव व्यवस्थापन मे अपनी अद्भुत वाणी एव लेखनी का मणिकाचन योग प्रस्तुत किया। सनातन धर्म-ध्वजा के वाहक स्वामी करपात्री जी ने मार्क्स और हेगेल चार्ल्स डारविन और फ्रायड तथा स्वामी दयानन्द और आचार्य रजनीश से समान दूरी रखते हुए आधुनिक भारतीय राजनीति को अध्यात्म की दिशा प्रदान किया। प्राचीन भारतीय राजनैतिक आदर्शो एव मूल्यो के सस्थापनार्थाय उन्होने धर्म-सघ एव राम–राज्य परिषद का गठन किया।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत का धार्मिक आध्यात्मिक एव सास्कृतिक अभ्युत्थान उन्हे इष्ट था। कोपीनधारी ऋषिकल्प स्वप्नदष्टा स्वामी जी भारत के एकमात्र धर्म-नियत्रित शासनतत्र के उद्घोषक है, जिनका साध्य वेदो के ईश्वर-राज्य रामायण के राम राज्य और महाभारत के धर्म-राज्य के कलेवर मे प्राचीन भारतीय राजनैतिक आदर्शो एव मूल्यो का सरक्षण है।

सस्कृतिवाद के सरक्षक एव पोषक प० दीनदयाल उपाध्याय पुरुषार्थ चतुष्टय से सवलित-सचालित जीवन को उच्च जीवन मानते है। यह मतवाद मानव व्यक्तित्व के तीनो पक्षो-भौतिक मानसिक एव आध्यात्मिक को सतृप्त करने वाला मूल्य-दर्शन है। उपाध्याय जी चारो पुरुषार्थो धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष का यथष्ट महत्ता देते है। धर्म जीवन के सभी पुरुषार्थो की सिद्धि करता है। अत समाज-व्यवस्था धर्म-धुरी पर आधारित होनी चाहिए। एकात्म मानववाद वास्तव मे अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तो का सामाजिक क्षेत्र मे प्रयोग है। जिसमे व्यक्ति की उन्नति मे समाज की उन्नति है और समाज की उन्नति मे व्यक्ति की उन्नति की प्रतिष्ठा हुई है।

आचार्य श्री रजनीश ने प्रेम और काम जैसे गोपन एव वर्ज्य विषय पर बेलौस टिप्पणी की है। श्री रजनीश की मूल्य-दृष्टि का खडन समानयुगीन चितको का प्रिय विषय रहा है लेकिन जिस प्रेम की मूल्यवत्ता का गायन और प्रकाशन उन्होने किया है वह मानव प्रकृति की नैसर्गिक सहजात एव वास्तविक प्रवृत्ति है। श्री रजनीश पर स्थूल ऐन्द्रिकता का आरोप है। सभोग से समाधि तक की यात्रा भले ही विवादास्पद हो लेकिन जिस प्रेम की अभिव्यजना उन्होने किया है, वह सर्जनात्मक मानव-जीवन का मूल्यवान तत्व है। प्रेम का सबसे स्थूल रूप भौतिक या ऐन्द्रिक प्रणय है, फिर सवेगात्मक या भावात्मक प्रेम और अन्तत उच्चतम कोटि का प्रेम आध्यात्मिक होता है। तीनो ही स्तरो पर प्रेम रहस्यमय ढग से प्रेमिक मे नवीन जीवन-स्पदन को जागृत एव जीवन्त बना देता है। परिपूर्ण प्रेम एक अद्भूत सजीवनी-शक्ति है जो मनुष्य को व्याकुल विक्षिप्तता से बचाकर उसकी सर्वश्रेष्ठ सभावनाओ को अभिव्यक्ति देती है।

मानवेन्द्रनाथ राय ने समकालीन वैज्ञानिक ज्ञान के विकास और नैतिक-मूल्यो के परिप्रेक्ष्य मे भोतिकवाद की नवीन सशोधित एव अतिशय विकसित व्याख्या प्रस्तुत की। राय एक ओर धमशास्त्रीय सिद्धान्तो से दर्शन का गठजोड किये जाने के विरुद्ध थे और दूसरी ओर विज्ञान और दर्शन के मध्य निकट सबन्ध के पेरोकार थे। उनके अनुसार दार्शनिक सिद्धान्तो का अद्यतन वेज्ञानिक ज्ञान के आलोक मे निरतर सशोधित करते रहना चाहिए। परम्परागत भौतिकवाद के विपरीत रॉय के दार्शनिक चितन मे नतिकता का महत्वपूर्ण स्थान हे, यद्यपि वे धमशास्त्रीय मान्यताओ एव अतिप्राकृतिक शक्तियो मे विश्वास नही रखते। रॉय के मतानुसार लोकायत मत 'खाओ पीओ और मौज करो' का सिद्धान्त नही हे जेसा कि आमतोर से उसके अज्ञानी ओर विद्वेषपूर्ण विराधी प्रचारित करते है। उन्होने लोकायत नेतिकता को मनुष्य की जन्मजात तक बुद्धिशीलता से जोडा हे। रॉय का नेतिक चितन व्यक्ति की स्वतत्रता को सर्वोच्च मूल्य मानता हे आर इतिहास की मानवतावादी व्याख्या । मानव-सकल्प एव विचारो ओर नैतिक-मूल्यो को केन्द्रिय महत्व देता हे। देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने सामाजिक सदर्भो मे सहानुभूतिपूर्वक लोकायतवाद की पुनरारचना की हे। लोकायतवाद का बुनियादी सिद्धान्त देहवाद हे ओर इसके अतर्गत इन्द्रियसुख को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य माना गया हे। यदि 'ऋण' कृत्वा धृतम् पीवेत जसी व्यगोक्ति को छोड दे तो लोकायतवाद के अनुसार स्वर्ग का कही पता नही मोक्ष नाम की कोई चीज नही और ऐसी कोइ आत्मा नही जो परलोकगमन करती हो। इसलिए जीवन मे भागने के बदले उसका भरपूर उपभोग करना चाहिए। मानव-प्राणी के रूप मे अपने अल्पकालीन जीवन का श्रेष्ठतम उपभोग ही जीवन का चरम-लक्ष्य हे।

डा० नन्दकिशोर देवराज मनुष्य की सृजन-वृत्ति को मौलिक पूर्वमान्यता मानकर मानव-मूल्यो को साध्य एव साधन अथवा भोतिक एव आध्यात्मिक दो वर्गो मे विभाजित करते है , और गुणात्मक द्रष्टि से आत्मिक-आध्यात्मिक मूल्योपलब्धि को श्रेष्ठ मानते हे। वेदान्तिक परपरा के चितक प्रो० सगमलाल पाण्डेय पुरुषार्थ-चतुष्टय की धारणा मे भक्ति और शक्ति को शामिल करके छह पुरुषार्थो की विवेचना करते हे। उन्होने मुक्ति को मानव-जीवन का चरममूल्य स्वीकार किया है और उसी के परिप्रेक्ष्य में शेष मूल्यो की मूल्यवत्ता का अकन किया है। मूल्य-दर्शन के उपरोक्त पर्यवेक्षण-से ऐसा प्रतीत होता है कि चरममूल्य के

निर्धारण की समस्या ही मूल्य-विज्ञान की केन्द्रिय समस्या है। तत्पश्चात् उक्त अवधारण के अनुरुप ही मानव-जीवन का ताना-बाना बुना जाता है। अस्तु चरम-मूल्य का निर्धारण व्यापक पर्येषणा पर अवलबित होना चाहिए। जिससे चरम-मूल्य की साधना करता हुआ साधक मानव प्रकृति के तीनो पक्षो-शारीरिक मानसिक एव आध्यात्मिक को सतृप्त कर सके।

बीसवी सदी के मूल्य-चितन को स्थूल रूप मे द्वधा-विभक्त किया जा सकता है—**स्वातत्र्य पूर्व एव स्वातत्र्योत्तर मूल्य दर्शन**। स्वातत्र्यपूर्व मूल्य विषयक दृष्टि मूलत आध्यात्मिक है और उसपर पूर्वी एव पश्चिमी दोना ही दार्शनिक परपराओ का सम्मिलित प्रभाव है। उनकी जीवन-दृष्टि मे भोतिकवाद एव अध्यात्मवाद प्रवृत्ति एव वैराग्य, गतिवाद एव शान्तिवाद सहयुक्त है, ओर उन्होने एक नवीन वैश्विक चेतना का भाव उत्पन्न किया है। गुरुदेव टेगोर, महात्मा गाधी एव प० नेहरु ने अतर्राष्ट्रीयता एव शॉतिवाद पर अत्यधिक जोर दिया। लेकिन स्तभित कर देने वाले चीनी आक्रमण, कश्मीर मे लगातार पाकिस्तानी हस्तक्षेप आतकवाद सप्रदायवाद, जातिवाद इत्यादि की मादरजाद नगी सच्चाईया अधिक, और अधिक यथार्थपूर्णक एव परिपक्व वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि की मॉग करती है। इसका यह अर्थ कदापि नही हे कि हम अपनी महान आध्यात्मिक परपरा का अवमूल्यन करे। महत्वपूर्ण केवल यह है कि धार्मिक अध्यात्मवाद को विश्राम देकर वेश्विक दृष्टि के अनुकूल नये जीवन-दर्शन का विकास करे, और इसतरह सामाजिक आर्थिक राजनेतिक एव नैतिक मूल्यो की सृजनात्मक उद्भावना प्रस्तुत करे। समसामयिक सदर्भो मे मनु प्रतिपादित चातुर्वर्ण्य सिद्धान्त का अधपोषण एव रक्षण न तो उचित है, न ही बुद्धिमतापूर्ण। प्राचीन वर्णाश्रम धर्म वर्तमान जनतॉत्रिक पद्धति से असँगत हे। वर्तमान-सदर्भो मे वानप्रस्थ एव सन्यास की अपेक्षा सक्रिय मानव-सेवा का मूल्य और महत्व अधिक हे। इस दृष्टि से, प्राचीन मनुवाद के बाह्य स्वरूप का आज की विकसित एव समृद्ध वैज्ञानिक दृष्टि के अनुरूप पुनर्व्याख्यान और साथ ही उसके आन्तरिक कलेवर मे सरक्षित मूल्यवान तत्वो का प्रकाशन अपेक्षित है। अस्तु, समसामयिक चितको को प्राचीन दर्शन पद्धतियो एव जीवन मूल्यो की असमीक्षित ससक्तता त्यागकर निर्भीकतापूर्वक वैज्ञानिक युग की अपेक्षाओ के अनुरूप नवीन मूल्यबोध की आधारिकाओ का सस्थापन करना चाहिए, ताकि नवीन मूल्य-दृष्टि का पोषण एव रक्षण हो सके।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत की अर्द्धशदी मे देश का चेतसिक-सॉस्कृतिक वातावरण एकदम वदला हुआ दिखाई दे रहा है। विगत शताव्दी के सामाजिक-धार्मिक एव आदर्शवादी राजनैतिक आदोलन यथा , आर्यसमाज रामकृष्ण मिशन ओर गॉधीवाद का प्रभाव नि शेष हो गया है। सम्प्रति भारत मे औद्योगिक क्रान्ति की आधी छायी हुई है और साथ ही लोगो की मनोवृत्ति इहलौकिक हुई है। विगत अर्द्धशताब्दी मे पाश्चात्य विचारो की तीव्र बाढ ने भारतभूमि को आप्लावित किया है। नवीन भावो, विचारो एव मूल्यो ने हमपर हमला किया है। चितन की पारपरिक श्रृखला जर्जर हुयी है और अनेक विचारको ने परपरा-विनिर्मुक्त चितन प्रारभ किया है। वैज्ञानिक, प्राविधिक एव आर्थिक प्रगति के आलोक मे समझदार और सुशिक्षित भारतीयो के बीच आज उच्च-जीवन-स्तर प्रमुख मूल्य के रुप मे स्वीकृत और समादृत हुआ है। मार्क्सवादी विचारक सर्वहारा स्वार्थ को महत्वपूर्ण मूल्य मानते है तथा जनतॉत्रिक मनोवृत्ति के विकास ने स्वतत्रता समानता एव बधुत्व को मूल्य-पद पर आसीन किया है। शिक्षा ओर योरोपीय सस्कृति के प्रभाव ने पारपरिक रुढियो से मुक्ति दी हे किन्तु शिक्षित लोगो मे भी कथनी-करनी का बढता अन्तर सोचनीय है। सिद्धान्त जिन मूल्यो को हम अपने लिए श्रेष्ठ मानते है उन्हे दूसरो के लिए स्वीकार नही पाते। फलत सामाजिक धार्मिक राजनेतिक भेदभाव बढ रहा है। दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य है-शिक्षित लोगो मे नेतिकता का घटता हुआ आग्रह ओर क्रमश अधिकाधिक अवसरवादी बनते जाना। लोगो मे प्राचीन नैतिक धार्मिक मूल्यो की उपलब्धि की मॉग घट रही हे और येन-केन प्रकारेण उच्च भौतिक जीवन-स्तर का आग्रह-दुराग्रह बढ रहा है। हम भौतिक समृद्धि और ऐश्वर्य की कामना तो करते हैं लेकिन उसकी प्राप्ति और सरक्षा के लिए अनिवार्य नैतिक चारित्रिक आधार के प्रति लापरवाह रहते है। इसी उदासीनता ने हमारी नैतिक-सामाजिक मूल्य-भावना को रुग्ण किया है। हम हर हाल मे अपनी 'चाहना के विषय' को प्राप्त कर लेना चाहते है। फिर उसके पक्ष मे प्राचीन सिद्धान्तो एव आदर्शों के उबाऊ और निरावेग उद्धरण देकर वाद को विवाद और-प्रतिवाद बना देते है। विविधवादो एव जीवनदृष्टियो की समसामयिक अराजक स्थिति मे-जब जीवन को अर्थवान बनाने वाले सभी आदर्श-प्रतिमान ध्वस्त होते जा रहे हो, उच्च जीवनमूल्य विश्वास और आस्थाए सशय की परिधि मे समा गई हो, और चतुर्दिक प्रसरित स्थूल भोगवादी जीवन-दृष्टि तथा अविचारित अर्थोपार्जन की अतहीन भूख के समक्ष विवेकच्युत मानव कही भी, कैसे भी,

कुछ भी करने ओर कराने को सतत् प्रस्तुत है— समय की यह सॉस्कृतिक ऐतिहासिक मॉग ओर चुनौती हे कि दर्शन विज्ञान-युग की नई बहुविध सपन्न जीवन-दृष्टि को सार्थक मोड दे। आज के चितको को लोगो के समक्ष नये युग की सभावनाओ के अनुरुप उदार एव व्यापक मूल्यो का निरुपण तथा उच्चतर एव निम्नतर जीवन मूल्यो का समीक्षाबुद्धि ग्राह्म तारतम्य स्पष्ट करना चाहिए।

भावी शोधार्थ सुझाव

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय अद्यतन परिस्थितियो पर आधारित है, अतएव इसपर शोध करने मे पाठ्य-सामग्रियो का नितान्त अभाव है। अतएव इस सदर्भ मे स्वविवेक के आधार पर मूल्य-निर्धारणार्थ शोध करने की आवश्यकता है। इस अध्ययन के अतिरिक्त निम्न अद्यतन विचारो पर भावी शोधार्थी ध्यान आकृष्ट कर सकते है—

(i) वेदमूर्ति तपोनिष्ठ श्रीराम शर्मा के विचार सग्रहो पर अद्यतन मूल्यो का निर्धारण करके समाज को प्राच्य आध्यात्मिक परम्परा से जोडा जा सकता है।

(ii) महर्षि रमन के विचारो के आलोक मे मूल्य-निर्धारण का प्रयास किया जा सकता है।

(iii) मूल्य-चिन्तन पर 1950 के बाद के प्राप्त सदर्भ-ग्रथो का एक सारतत्व सकलित करके स्वविवेकानुसार मूल्य-निर्धारण का प्रयास किया जा सकता है।